# प्राचीन भारत

# प्राचीन भारत

## इतिहास और संस्कृति

लेखक

वी. जी. गोखले, पीएच. डी.

ए शि या प ब्लि शिं ग हा उ स

बम्बई · कलकत्ता · नयी दिल्ली · मद्रास

एम. बी. एस.
को अर्पित

---

प्रथम हिंदी संस्करण नवम्बर १९५७

अंग्रेजी में :

प्रथम संस्करण १९५२

द्वितीय संस्करण १९५४

तृतीय संस्करण १९५६



यह पुस्तक अंग्रेजी पुस्तक 'एन्शिन्ट इंडिया : हिस्ट्री एन्ड कल्चर' (Ancient India : History and Culture) का अनुवाद है।

अनुवादक—**मुनीश सक्सेना**

वी. पी. भागवत द्वारा मौज प्रिंटिंग ब्यूरो, बम्बई ४ से मुद्रित और
पी. एस. जयसिंघे द्वारा एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई १ से प्रकाशित

# प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक में प्राचीन भारत के जीवन के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दोनों ही पहलुओं का विवरण देने का प्रयास किया गया है। यह पुस्तक भारत के कई विश्वविद्यालयों में अध्ययन के लिए स्वीकृत विषय "प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति" के अनुकूल पाठ्यक्रम की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए लिखी गयी है।

प्राचीन भारत का इतिहास एक रोचक विषय है। इसमें अनेक विषय अब भी ऐसे हैं जिन पर विद्वानों में मतभेद है और साधारण पाठकों के लिए वे अत्यंत रोचक हैं। प्रस्तुत पुस्तक केवल एक प्रवेशिका है जिसमें विवादग्रस्त प्रश्नों की ओर केवल संकेत कर दिया गया है और ऐतिहासिक पात्रों के मानव गुणों को विशेष रूप से ध्यान में रखा गया है। भारत तथा पाश्चात्य देशों के विद्वानों ने बरसों तक इस क्षेत्र में जो काम किया उसके फलस्वरूप इस विषय के बारे में हमें बहुत प्रचुर मात्रा में इतिहास की सामग्री उपलब्ध है। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने इन सभी विद्वानों के परिश्रम के फल का, जिन्होंने प्राचीन भारत के अध्ययन को अपने जीवन का ध्येय बना लिया है, पूरा-पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न किया है और कृतज्ञतापूर्वक वह उनके प्रति अपना आभार प्रकट करता है। इस पुस्तक का विषय-क्षेत्र ही इस प्रकार का है कि उसमें "मौलिकता" का प्रदर्शन करने या इन पृष्ठों में "क्रांतिकारी गवेषणाओं" को स्थान देने का प्रश्न ही नहीं उठता। लेखक का मुख्य लक्ष्य यह रहा है कि इतिहास की दृष्टि से यह पुस्तक पाठकों के लिए यथासंभव सरल सुबोध तथा रोचक रहे और यदि पाठकों को यह पुस्तक रोचक तथा उपयोगी प्रतीत हो तो लेखक अपने को कृतार्थ समझेगा। लेखक को अपनी परिसीमाओं का पूरा आभास है और वह इस बात को भी भली भाँति समझता है कि यदि उसकी इस रचना में कोई गुण है तो उसका समस्त श्रेय उन विद्वानों के दिये हुए ज्ञान और पथ-प्रदर्शन को है जो इस विषय के प्रकांड पंडित हैं।

अंत में लेखक उन सभी लोगों और विशेष तौर पर बम्बई के सेंट झेवियर्स कालेज के प्राध्यापक एफ़. मेंडोनका तथा बम्बई विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के सहायक पुस्तकालयाध्यक्ष श्री बी. एंडरसन के प्रति आभार प्रकट करना चाहता है जिन्होंने इस पुस्तक को लिखने में सहायता दी है।

**बी. जी. गोखले**

# विषय-सूची

भाग पहला

# राजनीतिक इतिहास

— १ —

# सामग्रियाँ

यह पुस्तक प्राचीन भारत के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास की पुस्तक है। इतिहास एक ऐसा शब्द है जो प्रतिदिन प्रयोग में आता है और इसकी परिभाषा विभिन्न प्रकार से की जाती है। एक तरफ़ हमें इतिहास के बारे में नेपोलियन की यह व्याख्या मिलती है कि "इतिहास सर्वसम्मत कपोल-कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है" तो दूसरी ओर एच. जी. वेल्स की यह व्याख्या मिलती है कि "मानव इतिहास सारतः विचारों का इतिहास है।" प्राचीन भारत का इतिहास भारतीय जनता का उस समय का इतिहास है जब वह अपने निर्माण की अवस्था में थी और इस लोक में तथा परलोक में सुख प्राप्त करने के लिए संघर्षरत थी। यह लम्बा संघर्ष ६,००० वर्षों से भी अधिक समय तक जारी रहा जिसमें वैभव की भी घड़िया आयीं और सर्वनाश तथा पराभव की भी। मूलतः यह अनेक द्वारा एक की खोज की कहानी है; यह खोज विचारों के क्षेत्र में भी होती रही और राष्ट्रीय जीवन के क्षेत्र में भी।

मनुष्य के इस महत्त्वपूर्ण प्रयास की कर्मभूमि यह विशाल भूखंड था और इस भूखंड ने इस प्रयास के स्वरूप पर कभी अधिक और कभी कम मात्रा में नियामक प्रभाव डाला। विशाल पर्वतमालाओं और नदियों की भूमिका प्राचीन भारत के इतिहास के निर्माण में बहुत महत्त्वपूर्ण रही है। हिमालय का गुणगान प्राचीन भारतीय साहित्य में हिम और शांति के निवास-स्थान के रूप में किया गया है। इन रचनाओं में इस बात का भी संकेत मिलता है कि इन पर्वत-मालाओं से उस भूभाग को, जो ढालू होता हुआ अरब सागर और बंगाल की खाड़ी तक चला गया था, पार्थक्य और संरक्षण भी प्राप्त हुआ। यह पर्वतमाला ही गंगा और सिंधु जैसी नदियों के लिए जल का स्रोत भी थी, जिनके बिना उन कोटिसंख्यक लोगों का जीवन असंभव हो जाता जो कई शताब्दियों के दौरान में इस देश में पलते-बढ़ते रहे और जो अपनी कृतज्ञतापूर्ण श्रद्धा में इन नदियों को 'माता' कहते थे। इसके अतिरिक्त विंध्याचल पर्वत हैं जो बहुत समय तक उत्तर और दक्षिण के बीच विभाजन-रेखा बने रहे। इन भौगोलिक तत्त्वों ने भारत के इतिहास पर बहुत गहरा प्रभाव डाला और भारतीय राष्ट्र के इतिहास का अध्ययन करते समय इन तत्त्वों को ध्यान में रखना हमारे लिए आवश्यक है।

चूँकि इतिहास उन बातों का वृत्तांत होता है जो भूतकाल में हुई हों इसलिए मूलतः महत्त्वपूर्ण तथ्यों को चुनकर अतीत का पुनर्निर्माण करने को ही इतिहास कहते हैं। ये महत्त्वपूर्ण तथ्य हमारे लिए कई रूपों में सुरक्षित हैं जिन्हें हम इतिहास की सामग्री कहते हैं।

यह हमारे लिए उपयोगी होगा कि हम आरंभ में ही इस बात पर विचार कर लें कि हमें किस प्रकार की सामग्री का उपयोग करना है।

प्राचीन भारत के इतिहास के स्रोत अनेक और विविध प्रकार के हैं। हमारे इतिहास के स्रोतों के क्षेत्र में किसी नदी के तट पर एक निर्जन टीले को खोदकर निकाले गये प्रागैतिहासिक काल के मनुष्य द्वारा पत्थर को भोंडे ढंग से काटकर बनाये गये गँड़ासों से लेकर भव्य इमारतों के भग्नावशेषों और राजकवि बाण के हर्षचरित तक सभी प्रकार की चीज़ें शामिल हैं। अपने अध्ययन की सुविधा के उद्देश्य से हम उन्हें मोटे-मोटे रूप से दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—एक तो साहित्यिक सामग्री और दूसरी पुरातत्त्व-संबंधी सामग्री। इन दो श्रेणियों को फिर और छोटी-छोटी श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है, जैसा कि अगले पृष्ठ पर दिखाया गया है।

इस तालिका को विस्तारपूर्वक समझाना आवश्यक है। पहले हम धार्मिक स्रोतों की श्रेणी को लें। इस श्रेणी को फिर चार श्रेणियों में विभाजित कर दिया गया है—श्रुति, स्मृति, बौद्ध तथा जैन। श्रुति का अर्थ होता है रहस्योद्घाटन और इसमें चार वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद—ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् शामिल हैं। स्मृति उस साहित्य को कहते हैं जो 'याद करके सुरक्षित रखा गया हो' और इसमें राजनय पर कौटिल्य के अर्थशास्त्र, मनु और याज्ञवल्क्य की नीति-संहिताओं, और दो प्रख्यात महाकाव्यों—महाभारत और रामायण—जैसी पुस्तकें शामिल हैं। बौद्ध साहित्य पाली में भी है और संस्कृत में भी। पाली के बौद्ध वाङ्मय के तीन पिटक हैं—विनय, सुत्त और अभिधम्म। इन पिटकों के अतिरिक्त जो साहित्य है उसमें बुद्धघोष और धम्मपाल आदि द्वारा उपरोक्त ग्रंथों की टीकाएं शामिल हैं। जैन धार्मिक साहित्य अर्धमागधी भाषा में है और वह भी बहुत विपुल परिमाण में है।

धर्म-निरपेक्ष साहित्य की श्रेणी हमारे लिए प्रमुख महत्त्व रखती है। मत्स्य तथा वायु आदि पुराणों (पुराणों की संख्या १८ है जिसमें वे पुराण शामिल नहीं है जिनके आधिकारिक होने में शंका है) और पाली के दीपवंश तथा महावंश जैसे वंश-ग्रंथों में ऐतिहासिक परम्परागत कथाएँ सुरक्षित हैं। पुराणों में वंश-प्रणालियाँ दी हुई हैं और प्राचीन भारतीय इतिहास की परम्परागत कथाओं की भूल-भुलैयों में अपना रास्ता ढूँढ़ निकालने में हमें इनसे काफी सहायता मिलती है। इसी प्रकार वंश-ग्रंथों में भी हमें प्राचीन भारतीय इतिहास के कुछ युगों के बारे में बहुमूल्य जानकारी मिलती है।

वास्तव में भारत शेष जगत से उतना कटा हुआ नहीं था जितना कि हमें एक ज़माने में बताया जाता था। प्राचीन काल में पूर्व के साथ और मध्य-पूर्व के साथ भी समुद्री यातायात द्वारा भारत का अत्यंत सक्रिय संबंध बहुत समय तक निरंतर बना रहा। परन्तु व्यापारिक तथा अन्य संबंधों के होते हुए भी बाहरी देशों के बारे में जानकारी का सर्वथा अभाव था। सिकंदर के आक्रमण ने इस क्रूर सत्य की ओर हमें सचेत कर दिया कि शेष जगत के बारे में जानकारी न रखने का परिणाम विनाशकारी ही हो सकता है। सिकंदर के कुछ ही समय बाद मेगास्थनीज़ प्राचीन भारत की एक महानतम विभूति चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में यूनानी जगत का राजदूत होकर आया। मेगास्थनीज़ व्यक्तियों और घटनाओं का अवलोकन बड़ी पैनी दृष्टि से करता था और उसे जो अवसर मिले उनका उसने पूरी तरह उपयोग किया। दुर्भाग्यवश

# भारतीय इतिहास के स्रोत
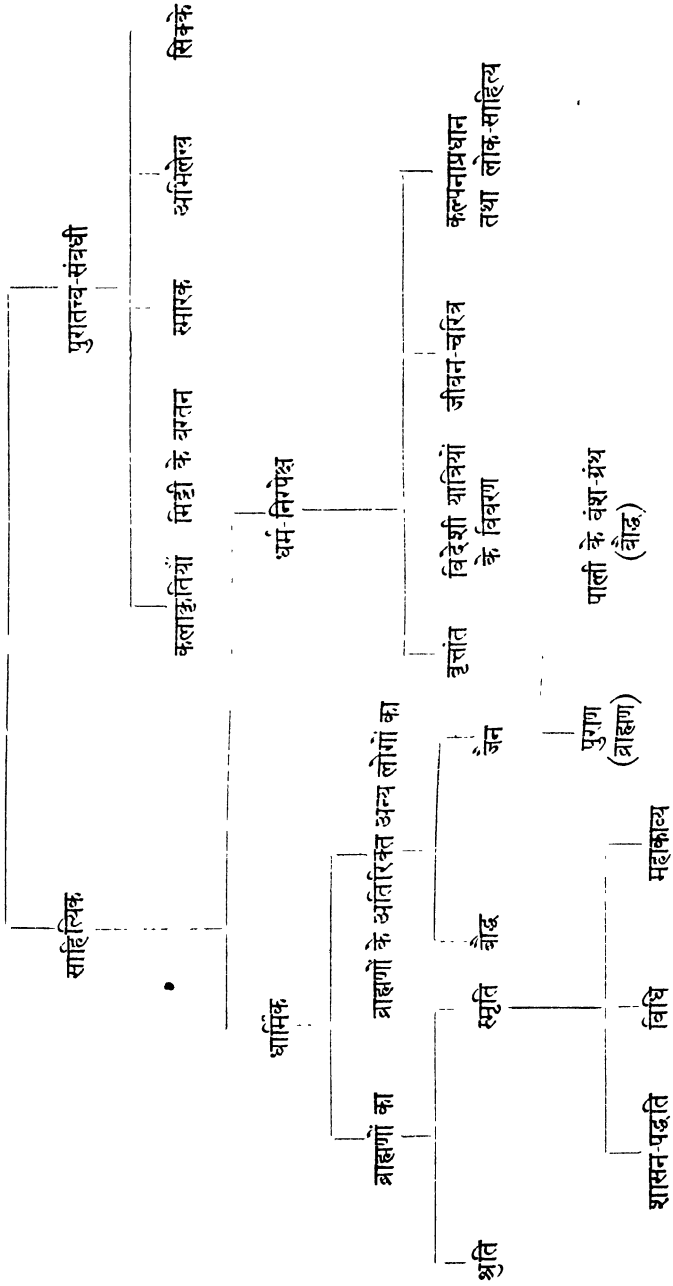
उसकी रचनाएँ, जिनमें उसकी भारत-यात्रा का वृत्तांत था, लुप्त हो गयी हैं; परन्तु इन विलुप्त रचनाओं के जो उद्धरण यूनान के प्राचीन लेखकों की रचनाओं में मिलते हैं उनमें मेगास्थनीज़ द्वारा अर्जित सामग्री का कुछ अंश सुरक्षित है। सैद्धांतिक मनन और व्यावहारिक अवलोकन द्वारा प्राप्त यह जानकारी आश्चर्यजनक हद तक उस चित्र की पुष्टि करती है जो हमें कौटिल्य के वृत्तांतों से प्राप्त होता है और इसलिए मौर्य इतिहास को सुदृढ़ आधार पर स्थापित करने में हमें इससे बड़ी सहायता मिलती है।

फ़ाह्यान, ह्युएन सांग और ई सिंग के नाम चीनी बौद्ध इतिहास में अमर हैं। ये नाम हमारे लिए भी बहुत महत्त्व रखते हैं। फ़ाह्यान ५वीं शताब्दी के आरंभ में बौद्ध धर्मग्रंथों की खोज में भारत आया था। दो शताब्दी बाद इसी उद्देश्य को लेकर ह्युएन सांग और उसके कुछ समय बाद ई सिंग भारत आये। इन तीनों चीनी यात्रियों ने अपनी यात्राओं के रोचक वृत्तांत लिखे हैं जिनमें उन्होंने हमारे देशवासियों के रीति-रिवाजों के बारे में, उस देश के निवासियों के रीति-रिवाजों के बारे में जहाँ वे बौद्ध धर्मग्रंथों की खोज में आये थे, अपने अवलोकन अंकित किये हैं। इन तीनों में हमें सबसे अधिक सहायता ह्युएन सांग से मिलती है। फ़ाह्यान और ई सिंग को बौद्धमत में इतनी दिलचस्पी थी कि उन्होंने हमारे देश की उस समय की घटनाओं की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया है। फ़ाह्यान जब भारत आया था उस समय चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य जैसा महान सम्राट् यहाँ शासन करता था पर उसने इस महान शासक का कहीं नाम तक नहीं लिखा है। इसके विपरीत ह्युएन सांग ने हर्ष के जीवन की, जिससे मिलने का उसे सौभाग्य प्राप्त हुआ था, कुछ घटनाओं का विस्तृत विवरण दिया है। देश भर का भ्रमण करने के अतिरिक्त ह्युएन सांग नालंदा के प्रख्यात बौद्ध विश्वविद्यालय में भी कुछ समय तक रहा और विद्या के इस केंद्र का उसने जो विवरण दिया है वह छोटी से छोटी बात के उल्लेख और भावनाओं की मार्मिकता की दृष्टि से सराहनीय है।

प्राचीन भारत में जीवनचरित्र बहुत कम लिखे गये। इस प्रकार के साहित्य का सबसे प्रमुख उदाहरण बाण का हर्षचरित है। परन्तु पौराणिक कथाओं और कल्पना पर आधारित साहित्य तथा लोक-साहित्य सचमुच बहुत बड़ी मात्रा में प्राप्य है। भास, कालिदास, भवभूति और भारवि की रचनाओं, लोक-कथाओं के पंचतंत्र, हितोपदेश, और कथासरित्सागर जैसे संग्रहों और पाली की जातक-कथाओं में इन पुस्तकों के रचना काल की समकालीन सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों पर बहुत प्रकाश डाला गया है।

इतिहास के स्रोतों की दूसरी मुख्य श्रेणी पुरातत्त्व-संबंधी सामग्री है जो प्रागैतिहासिक काल के मनुष्य द्वारा बनायी गयी वस्तुओं और बरतनों आदि के रूप में या साँची और बरहुत, एल्लौरा, अजन्ता, महाबलिपुरम्, नासिक और कारले के महान स्मारकों के रूप में हमें मिलती है। प्राचीन अभिलेख और सिक्के अत्यन्त बहुमूल्य होते हैं क्योंकि उनके बिना विश्वसनीय इतिहास की रचना प्रायः असंभव हो जाये। इतिहास के कुछ युग ऐसे भी हैं जिनके बारे में हमारी जानकारी का एकमात्र स्रोत ये अभिलेख हैं। उसके अभिलेखों के बिना अशोक का कदाचित् बहुत ही धुँधला चित्र बाक़ी रह जाता और इलाहाबाद के स्तम्भ-लेख (प्रशस्ति) के बिना

समुद्रगुप्त इतिहास में केवल एक नाम रह जाता। गुप्त-वंश के सम्राटों के सिक्के देखकर चित्त प्रसन्न हो जाता है और उन पर अंकित प्रतीकों और उपाधियों से हमें उन व्यक्तियों को ज्यादा अच्छी तरह समझने में महत्त्वपूर्ण योग मिलता है जिनकी आज्ञा से ये सिक्के बनाये गये थे।

तो ये हैं हमारे स्रोत और यहाँ उनके सापेक्ष महत्त्व के बारे में कुछ शब्द कह देना अनुचित न होगा। अभिलेखों और सिक्कों की गणना प्राथमिक महत्त्व की सामग्री में की जानी चाहिये। इनकी भी परिसीमाएँ हैं, क्योंकि कुछ अभिलेखों के केवल कुछ अंश ही मिलते हैं और अन्य कुछ अभिलेखों में अतिशयोक्ति का दुर्गुण है। परंतु मूलतः अधिकांश शिलालेख काफ़ी विश्वसनीय है। पुराणों और वंश-ग्रंथों से हमें प्राचीन भारत के सम्राटों और छोटे-मोटे राजों-महाराजों के नामों के गोरखधंधे में से विभिन्न वंशों के निश्चित क्रम का पता लगाने में सहायता मिलती है। परंतु इनके आधार पर ऐतिहासिक सत्य का निर्धारण करने में सतर्कता से काम लेना आवश्यक है। पुराण ब्राह्मणों के दृष्टिकोण से लिखे गये हैं और वंश-ग्रंथों में बौद्धों के प्रति जितना उत्साह दिखाया गया है वह इतिहास के लिए आवश्यक निष्पक्षता की कसौटी पर पूरा नहीं उतरता। इस परिमाण में उनकी उपयोगिता दूषित हो गयी है। जीवन-चरित्रों को छोड़कर शेष सभी धर्म-निरपेक्ष साहित्य गौण महत्त्व का है। इससे अखंडनीय ऐतिहासिक वृत्तांत की रचना करने की अपेक्षा, जिसमें राजनीतिक घटनाओं को प्रथम स्थान दिया जाना स्वाभाविक ही है, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों को समझने में अधिक सहायता मिलती है। विदेशी यात्रियों के वृत्तांत बहुमूल्य सामग्री हैं जिनका गहरा अध्ययन किया जाना चाहिये। कुछ छोटी-मोटी बातों को छोड़कर वे अनिवार्यतः विश्वसनीय हैं। राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से धार्मिक साहित्य की प्रत्यक्ष उपयोगिता बहुत कम है परंतु उसके कुछ अंशों में, जैसे बौद्ध वाङ्मय में इतिहास के लिए पर्याप्त मात्रा में विश्वस्त सामग्री मिलती है। उदाहरण के लिए, मौर्यकाल से पहले मगध के इतिहास का बहुत बड़ा भाग केवल बौद्ध वाङ्मय की सहायता से ही लिखा जा सकता है। इस साहित्य के केंद्रीय पात्र गौतम बुद्ध हैं जिनके बारे में कहा गया है कि उनमें अपने समकालीन राजाओं से शास्त्रार्थ करने का सद्गुण था। ऋग्वेद में यदा-कदा समकालीन घटनाओं का उल्लेख मिलता है, जैसे दशराज्ञ युद्ध, परंतु इस प्रकार की जानकारी निराशाजनक हद तक अल्प मात्रा में प्राप्य है। परंतु इन रचनाओं को ऐतिहासिक जानकारी के अभाव का दोष देना उचित नहीं। उन्हें मनुष्य के छोटे-मोटे झगड़ों की अपेक्षा देवताओं के महान कृत्यों में अधिक दिलचस्पी है और उनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि जब उन्होंने देवताओं का गुणगान करने का लक्ष्य अपने सामने रखा है तो वे मानवीय घटनाओं का वर्णन करें।

तो ये हैं वे सामग्रियाँ जिनकी सहायता से हमें प्राचीन भारत की जीवन-कथा की पुनर्रचना करनी है, जिसमें संघर्षों का काल, एकता का काल और उसके निर्माण का काल सभी शामिल हैं। यह सामग्री उतनी विपुल तो नहीं है जितनी कि हम चाहते हैं पर वह कुछ ऐसी थोड़ी भी नहीं है। विवेक के साथ और उसके सार-तत्त्व को ग्रहण करते हुए यदि हम इसका उपयोग करें तो हम कई शताब्दियों के दौरान में प्राचीन भारतीय राष्ट्र के अभियान और साम्राज्यों के उत्थान तथा पतन का क्रम निर्धारित कर सकते हैं।

—२—

# शिकारी वर्ग

बलूचिस्तान तथा सिंध में और गुजरात तथा दक्षिण की नदियों की घाटियों के इलाक़ों में, जो एक-दूसरे से बहुत दूर स्थित हैं, पुरातत्त्ववेत्ताओं को बहुत धैर्यपूर्वक मेहनत से खोज करने पर पत्थर के ऐसे टुकड़े मिले हैं जिन्हें भोंडे ढंग से काटकर छुरियों, गँड़ासों और कुल्हाड़ों के फालों का रूप दिया गया था। सरसरी दृष्टि डालने पर पत्थर के इन टुकड़ों में और पत्थर के अन्य टुकड़ों में कोई अंतर दिखायी नहीं देता। लेकिन इन्हें काट-काटकर इन पर जो धार रखी गयी है वह इस बात का निश्चित प्रमाण है कि इन्हें यह रूप देने में किसी मनुष्य का हाथ अवश्य रहा है। ये प्रागैतिहासिक काल के मनुष्य के हाथ की बनायी हुई वस्तुएँ हैं जिनसे हमें पता चलता है कि अबसे हज़ारों वर्ष पहले इस देश में मनुष्य रहते थे और काम करते थे। इस बात का ठीक-ठीक पता लगाने का हमारे पास कोई साधन नहीं है कि मनुष्य का 'जन्म' यहीं भारत में हुआ था या वह इस देशमें कहीं बाहर से आया था, पर इस संभावना को पूरी तरह अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता कि मनुष्य ने सीधे होकर चलना पहले-पहल यहीं, भारत की भूमि पर ही, सीखा। उस समय इस भूखंड की दशा इसकी वर्तमान दशा से बहुत भिन्न रही होगी। उस समय यहाँ घने जंगल और बड़ी-बड़ी दलदलें रही होंगी और बड़ी-बड़ी नदियों की तली उससे अधिक चौड़ी और ऊँची रही होगी जितनी कि वह बाद में चलकर हो गयी। ऐसी दशा में जब भयानक पशु निरंतर अपने शिकार की खोज में घूमते होंगे, मनुष्य का जीवन सचमुच बहुत ही अंधकारमय रहा होगा। इस अवस्था में मनुष्य कदाचित् शिकारी था और फल बटोरकर अपना पेट पालता रहा होगा। एक दिन अचानक उसने आक्रमण करनेवाले पशु को पत्थर से मारा होगा और उसे एक अस्त्र मिल गया होगा जिसे वह फेंककर इस्तेमाल कर सकता था; बाद में उसने यह पता लगाया होगा कि इस अस्त्र की गति को ग़ुलेल के ढंग के किसी साधन की सहायता से नियंत्रित भी किया जा सकता है। किसी पशु को मारने के बाद उसने यह मालूम किया होगा कि पत्थर का धारदार टुकड़ा उसके शरीर को काटने के लिए एक अच्छे औज़ार का काम दे सकता है और इस प्रकार उसने छुरी का अनुसंधान किया होगा। अनजाने ही किसी पेड़ की डाल के प्रयोग के फलस्वरूप लकड़ी की गदा का आविष्कार हुआ होगा। इसके बाद संयोग से कहीं पत्थर का कोई प्राकृतिक रूप से धारदार टुकड़ा पा जाने पर निर्भर रहने के बजाय मनुष्य ने पत्थर का कोई छोटा-सा टुकड़ा लेकर उसके सिरों को तोड़कर स्वयं धारदार पत्थर बनाना आरंभ किया होगा और इस प्रकार प्रथम छुरियाँ, कुल्हाड़ियाँ और गँड़ासे अस्तित्व में आये होंगे।

प्रागैतिहासिक काल के मनुष्य द्वारा बनाये गये विभिन्न औज़ारों की तुलना करने से हमें

जीवन-निर्वाह की कला में उसकी प्रगति का पता चलता है। मनुष्य की प्रगति की इन अवस्थाओं को 'पुरा-पाषाण' और 'नव-पाषाण' की संज्ञा दी गयी है। 'पुरा-पाषाण' का शाब्दिक अर्थ है 'पुराना पत्थर' और इस शब्द का प्रयोग उस अवस्था का वर्णन करने के लिए किया जाता है जिसमें मनुष्य पत्थर के खुरदुरे और बहुत भोंडे हथियार बनाता था। 'नव-पाषाण' का अर्थ होता है 'नया पत्थर' और इसका अभिप्राय प्रागैतिहासिक काल की उस अवस्था से है जब मनुष्य औज़ारों को चिकना बनाने लगा और इस प्रकार उसने इस बात का प्रमाण दिया कि वह अपनी सामग्री और उसके उपयोग को ज्यादा अच्छी तरह समझने लगा है। ये औज़ार मुख्यतः तीन प्रकार के हैं; यह विभाजन इस आधार पर किया गया है कि कौन-सा औज़ार किस प्रकार बनाया गया। पहले प्रकार के औज़ार 'आंतरक' विधि से तैयार किये गये; इस विधि से औज़ार तैयार करने के लिए पत्थर का कोई टुकड़ा लेकर उसके कुछ हिस्से तोड़कर इस प्रकार अलग कर दिये जाते थे कि वांछित आकृति का औज़ार प्राप्त हो जाये। दूसरी थी 'शल्कल' विधि जिसमें पहले किसी चट्टान से पत्थर का बड़ा-सा टुकड़ा तोड़ लिया जाता था और फिर उसे वांछित औज़ार के रूप में गढ़ लिया जाता था। तीसरी प्रकार का औज़ार 'गँड़ासा काटनेवाला' औज़ार होता था जो उत्तरी भारत में पाया गया। यह उद्योग भी 'शल्कल' औज़ारों की श्रेणी में आता है पर इसमें वे औज़ार भी शामिल हैं जो गँड़ासों के रूप में बनाये गये थे। पुरा-पाषाण युग में आंतरक और शल्कल विधियों से बनाये गये औज़ार उत्तरी भारत में भी पाये गये हैं और दक्षिणी भारत में भी। प्रागैतिहासिक काल के ये औज़ार स्फटिकाश्म के बने होते थे और छुरियों, गँड़ासों, कुल्हाड़ियों के फाल या मिट्टी खोदने के औज़ारों की शक्ल के होते थे। इस युग में मनुष्य शिकार करके और फल बटोरकर अपना पेट पालता था। पुरुष झुंड बनाकर शिकार को निकल जाते होंगे और उनके चले जाने पर स्त्रियाँ जंगल में फलों और कंदमूल आदि की खोज में जाती होंगी। लोग कदाचित् शिकार करनेवाले परिवारों या वनजातियों के रूप में रहते थे और शिकार की खोज में निरंतर एक जगह से दूसरी जगह फिरते रहते थे और इस भ्रमण से जो अवकाश मिलता था वह गुफाओं में बिताते थे। उन पशुओं की खाल की पट्टियों से, जिनका शिकार मुख्यतः भोजन के लिए किया जाता था, संभवतः वे अपने परिधान बनाते होंगे।

अपने भोजन की खोज में निरंतर संघर्षरत रहकर मनुष्य इस ढंग से जीवन व्यतीत करता रहा और अपने कष्टसाध्य अनुभव से बहुत-सी बातें सीखता रहा। परंतु उसकी प्रगति बहुत धीमी थी और पुरा-पाषाण युग की एक विशेषता यह रही कि इस युग में "हज़ारों वर्षों तक असीम निष्क्रियता का काल रहा"। समय की गति के साथ मनुष्य ने अपने औज़ार बनाने की ओर अधिक ध्यान देना आरंभ किया, जो धीरे-धीरे चिकने होने लगे। शिकारी और फल बटोरनेवाले के रूप में वह पूर्णतः अपनी बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर था। उसका जीवन यायावरों का जीवन था और अपने जीवन के अधिकांश भाग में वह क्षुधा और भय में ग्रस्त रहता था। उसने अग्नि का उपयोग सीख लिया था और अपनी 'रसोई' में खाना पकाने के लिए, और यदि खाने से कुछ बचे तो उसे सुरक्षित रखने के लिए, उसने बरतन बनाना भी आरंभ कर दिया था।

इसके बाद मनुष्य के जीवन में पहली क्रांति आयी। यह क्रांति उसकी यह खोज थी कि वह कुछ पशुओं को, जैसे कुत्ते को, पालतू बना सकता है, जो शिकार में उसके लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। उसने यह भी पता लगा लिया कि पहाड़ियों पर और जंगलों में वन्य पशुओं के पीछे-पीछे फिरने के बजाय वह उन्हें प्रलोभन देकर बाड़ों में ला सकता है और फिर उन्हें पालतू बनाकर उनसे भारवाहक पशुओं का काम ले सकता है और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें भोजन के रूप में भी इस्तेमाल कर सकता है। यह एक बहुत बड़ी खोज थी क्योंकि इस खोज के बाद मनुष्य जानवरों के पीछे फिरने के बजाय उन्हें अपनी इच्छानुसार फिराने लगा। जिस समय पशुओं को पालतू बनाने की कला अप्रत्याशित रूप से शिकारियों के हाथ लगी, लगभग उसी समय उनमें से उन लोगों ने जो फल बटोरते थे (जो संभवतः स्त्रियाँ थीं) पौधे उगाने का रहस्य मालूम कर लिया। यह भी संभव है कि अनाज पहले-पहल इस उद्देश्य से उगाया गया हो कि इसका प्रलोभन देकर पशुओं को बाड़ों में घेरकर लाया जा सके और फिर उन्हें पकड़कर पालतू बनाया जाये। यह खोज मनुष्य के जीवन में अत्यंत महत्त्वपूर्ण खोज थी क्योंकि इसके द्वारा उसने अपनी बाह्य परिस्थितियों से सर्वथा भयभीत रहने के बजाय कुछ हद तक उन पर नियंत्रण रखना सीख लिया। अब उसे खाद्य घासों, फलों और कंदमूल आदि की तलाश में मारे-मारे फिरना नहीं पड़ता था, क्योंकि वह बीज बोकर फ़सल उगने की प्रतीक्षा कर सकता था। इसका अर्थ यह था कि वह यायावर जीवन को त्याग कर अब एक जगह रह सकता था, 'घर' बसा सकता था और अपना परिवार बना सकता था। विकास का यह क्रम विशेष भारत में ढूँढ़ना इतना आसान नहीं है परन्तु सभी प्राप्य प्रमाणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कृषि की कला इस देश में पश्चिमी एशिया से आयी। सबसे आदिकालीन फ़सलें जौ और गेहूँ की रही होंगी। जहाँ तक चावल का प्रश्न है, यह संभव प्रतीत होता है कि "चावल की खेती भारत में चीन से पहले आरंभ हुई और इसकी जानकारी यांगत्ज़ी नदी के रास्ते चीन पहुँची और वहाँ लगभग २००० ई. पू. में, चीन के कांस्य-युग में, पहले-पहल चावल की खेती हुई; नव-पाषाण युग में उत्तरी चीन में बाजरे की खेती होती थी।" पश्चिमी एशिया में इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि ३००० ई. पू. में वहां भरण-पोषण के साधनों के उत्पादन के माध्यम के रूप में कृषि की स्थापना हो चुकी थी। भारत के प्रथम कृषक सम्प्रदाय इस सुदूर अतीतकाल में उत्तरी-पश्चिमी भारत के उन इलाक़ों में बसे थे जो आज बिल्कुल निर्जन और बंजर पड़े हुए हैं पर जहाँ इस ज़माने में बहुत वर्षा होती थी। जब फ़सल तैयार होने लगी और बाहर खूँटे से पशु बँधे रहने लगे तो जीवन सुखकर और सुरक्षित होता गया; यह बात इस युग के बरतनों में देखी जा सकती है। उस युग के बरतन-भाँडों पर अंकित आकृतियों और बेल-बूटों में रंगों का और सजीव चित्रण का एक अनूठा प्रमाण मिलता है। पहले कुम्हार के चाक पर बनाकर फिर बड़ी सावधानी से आँवे में पकाकर तैयार किये हुए इन बरतनों के धरातल पर लाल, पीले, भूरे, कासनी और नारंगी रंग बहुत पक्के चढ़े हुए हैं।

मनुष्य के जीवन में दूसरी क्रांति थी धातु का अनुसंधान। प्रागैतिहासिक काल के मनुष्य ने

पता लगाया कि कुछ विशेष प्रकार के पत्थरों को, जिन्हें हम अब खनिज धातु कहते हैं, काफ़ी गरम करके ऐसे पदार्थों में बदला जा सकता है जिन्हें पीटकर या ढालकर कोई भी रूप दिया जा सकता है; फिर इससे इच्छानुसार औज़ारों के फाल या बरतन कुछ भी बनाये जा सकते थे। जैसा कि स्टुअर्ट पिगॉट ने लिखा है, "खनिज ताँबे और ताँबे की धातु के पारस्परिक संबंध का ज्ञान हो जाने के परिणाम बहुत दूरगामी हुए; यही जानकारी रसायनशास्त्र और समस्त धातु-विद्या का आधार है।" परन्तु औज़ार बनाने के लिए धातुओं का प्रयोग करने में बहुत समय लगा होगा और इस संक्रमण काल में पत्थर और धातु दोनों ही के औज़ार साथ-साथ प्रयोग में आते होंगे, जैसे उदाहरणार्थ मोहेनजोदाड़ो के कांस्य-पाषाण युग में।

पशुओं को पालतू बनाने, कृषि और धातुओं के प्रयोग ने मनुष्य के जीवन में आमूल परिवर्तन कर दिया। धीरे-धीरे उसने अपनी यायावर प्रवृत्तियाँ छोड़ दीं और कृषक सम्प्रदायों के रूप में जीवन व्यतीत करने लगा। इसके साथ ही श्रम के विभाजन की प्रक्रिया आरंभ हुई, जिसके फलस्वरूप आगे चलकर व्यवसायों पर आधारित वर्गों का उदय हुआ, काम का संगठन सामाजिक नियंत्रण में होने लगा, सुरक्षा में वृद्धि हुई और हर मनुष्य को सृजनात्मक कामों में अपनी शक्ति लगाने का अवसर प्राप्त हुआ।

नैतिकता और धर्म के बारे में जो विचार विकसित हो रहे थे उनमें समाज-संगठन का यह परिवर्तन प्रतिबिंबित होने लगा। इन विचारों ने अब बहुत व्यापक रूप धारण कर लिया था और अनेक देवी-देवताओं, भूत-प्रेतों और दैवी शक्तियों पर विश्वास किया जाने लगा था। टर्नर ने इस युग का बहुत उचित वर्णन इन शब्दों में किया है कि जन-साधारण के लिए "पुरा-पाषाण युग और आधुनिक काल के बीच सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन का यह एकमात्र महत्त्वपूर्ण युग था।" इन परिवर्तनों के फलस्वरूप दीर्घकाल तक क़ायम रहनेवाले समाजों की नींव पड़ी जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक सांस्कृतिक प्रसार और संक्रमण के अपने साधन बना सकते थे। इसलिए "मूलतः मशीनों द्वारा उत्पादन और औद्योगिक नगरों की स्थापना तक जो भी सामाजिक अथवा सांस्कृतिक परिवर्तन हुए वे किसानों और यायावरों पर केवल ऊपर से थोपे गये थे, जो न जाने कितनी पीढ़ियों से अपने पूर्वजों के ढंग से जीवन व्यतीत करते आये थे; वे उन्हीं के ढंग से काम करते थे, उनकी आस्थाएं भी उन्हीं जैसी थीं और वे मरते भी उन्हीं की तरह थे। नव-पाषाण युग की उपलब्धियों के रूप में संगठित जीवनचर्या के निरंतर पालन पर ही इसके बाद की समस्त संस्कृतियों की व्यवस्था, स्थायित्व और सम्पन्नता का आधार था। इन चर्याओं में खेतों, मैदानों और छोटे-मोटे शिल्पों में श्रम का वह भार शामिल था जिसे अभी थोड़े ही समय पहले तक साधारण मनुष्य के लिए विधि का विधान समझा जाता था। इस बात को स्वीकार करना होगा कि सर्वोन्नत औद्योगिक राष्ट्रों में भी सर्वसाधारण अभी तक जीवन की उस व्यवस्था से केवल कुछ ही पीढ़ी आगे बढ़ पाये हैं, जो अब से कम से कम सात हज़ार वर्ष पहले अस्तित्व में आ चुकी थी।

प्रागैतिहासिक काल के मनुष्य को जहाँ इस संसार में जीवन बिताने की कठिनाइयों का

आभास था, वहाँ वह मृत्यु के बाद के जीवन की आवश्यकताओं के प्रति भी इतना ही सजग था, क्योंकि वह उस जीवन में विश्वास रखता था। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने इसी विश्वास के अनुकूल उसने अंत्येष्टि संस्कार की एक सुनिश्चित विधि निर्धारित कर ली थी। दक्षिण भारत में कई स्थानों पर पत्थर की विचित्र संरचनाएँ पायी गयी है जिन्हें महापाषाण शवाधि कहते थे। इस प्रकार की संरचना शव को रखने के लिए पत्थर की बड़ी-बड़ी शिलाओं का बना हुआ एक ढाँचा होती थी जिसे एक पत्थर से ढक दिया जाता था और इसके चारों ओर पत्थर का एक घेरा बना दिया जाता था। शव को आम तौर पर एक मिट्टी के मटके में बंद कर दिया जाता था और इस मटके को एक गढ़े में रखकर आधा मिट्टी से पाट दिया जाता था। मृत मनुष्य के औज़ार तथा हथियार और साथ ही थोड़ा-सा अनाज इस क़ब्र में रख दिया जाता था और फिर उसे पत्थर की एक शिला से ढक दिया जाता था। परन्तु भारत की इन महापाषाण शवाधियों का संबंध प्रागैतिहासिक युग के सुदूर अतीतकाल से जोड़ना कठिन है। सिगानपुर के शिला-चित्रों का उदाहरण भी इसी प्रकार का है; पहले इन्हें उत्तर पुरा-पाषाण युग का बताया जाता था, परन्तु आधुनिक मत यह है कि ये ईसा से लगभग एक शताब्दी से अधिक पहले के नहीं हो सकते। भारत में प्रागैतिहासिक काल के बारे में जो शोधकार्य हो रहा है वह अभी अपनी प्रारंभावस्था में ही है इसलिए हमें जो सामग्री उपलब्ध है वह निराशाजनक हद तक अल्प परिमाण में है। अभी कुछ ही समय पहले डा. साँकलिया जैसे भारतीय पुरातत्त्ववेत्ताओं ने अपने वैज्ञानिक अभियानों के फलस्वरूप नर्मदा और साबरमती की घाटियों में छोटे-छोटे पत्थरों की बनी हुई इमारतोंवाले स्थलों की खोज की है। प्राचीन वस्तुओं के अपने संग्रह द्वारा, जो अब मद्रास के संग्रहालय में सुरक्षित हैं, ब्रूस फ़ुट ने भारत में प्रागैतिहासिक काल के अध्ययन की नींव डाली। विभिन्न कालों में इस दिशा में यदा-कदा प्रयास किये गये हैं पर उनसे हमारी वर्तमान जानकारी में कोई योग नहीं मिला है। भारत में अभी तक प्रागैतिहासिक काल के मानव के अस्थि-पिंजर के कोई अवशेष नहीं मिले हैं और केवल कई वर्षों तक उत्खनन के बाद, या उचित स्थलों पर अध्ययन के बाद अथवा आकस्मिक अनुसंधानों के फलस्वरूप ही यह चित्र और पूरा हो सकता है। फिर भी प्रागैतिहासिक काल से संबंधित पुरातत्त्व-ज्ञान में प्रगति के साथ हमारे लिए नयी संभावनाएँ उत्पन्न होती जा रही हैं और हम यह दावा कर सकते हैं कि चित्र की रूप-रेखा काफ़ी स्पष्ट हो गयी है।

— ३ —

# नगर

पुरातत्त्व-ज्ञान को एक बहुत ही नीरस विषय समझा जाता है जिसमें साधारण लोगों को कोई दिलचस्पी नहीं हो सकती। खोपड़ी और नाक की बनावट और नाप में, टूटे हुए बरतनों और ईंटों के टुकड़ों में विशेषज्ञों के अतिरिक्त और किसी से दिलचस्पी रखने की आशा नहीं की जा सकती क्योंकि विशेषज्ञ ही अतीत के इन अवशेषों में सभ्यताओं के उतार-चढ़ाव का वृत्तांत ढूढ़ सकते हैं। पुरातत्त्ववेत्ताओं का काम सुदूर स्थानों में होता रहता है और इसीलिए हममें यह समझने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है कि अतीत के बारे में हमारी आम समझ-बूझ से इसका कोई गहरा संबंध नहीं है। परन्तु पुरातत्त्व-संबंधी खोज कभी-कभी साधारण लोगों के लिए भी बहुत दिलचस्पी की हो सकती है, जैसे १९२३ की वह खोज जब एक भारतीय पुरातत्त्ववेत्ता ने डोकरी से ७ मील और लरकाना से २५ मील की दूरी पर सिंध के निर्जन विस्तार में स्थित एक स्तूप का अध्ययन करने के लिए एक टीले को खोदना आरंभ किया और स्तूप के बजाय उसे सिंधु घाटी की सभ्यता के ज़माने की एक बस्ती के खँडहर मिल गये। यह खोज इतने महत्त्व की थी कि प्रागैतिहासिक काल के भारतीय जीवन के बारे में हमारी इससे पहले की सारी जानकारी और सारे निष्कर्ष बेकार हो गये। इस खोज ने प्राचीन इतिहास पर केवल नया और अप्रत्याशित प्रकाश ही नहीं डाला बल्कि प्रागैतिहासिक काल में इस देश के सांस्कृतिक विकास और पारस्परिक संबंधों के बारे में कई अत्यंत जटिल समस्याएँ भी खड़ी कर दीं। इस खोज से पहले भारत का सांस्कृतिक इतिहास उस समय से आरंभ किया जाता था जब आर्य उत्तर की ओर से पहाड़ों को पार करके भारत मे आये थे। इसमें तो संदेह नहीं कि आर्यों के सबसे महत्त्वपूर्ण और सबसे प्राचीन धर्मग्रंथ ऋग्वेद में कई जगह कुछ ऐसी अनार्य जातियों का उल्लेख मिलता है जो उस ज़माने में प्राचीरों से घिरे हुए नगरों में रहती थीं और जिनके विरुद्ध दीर्घकाल तक भीषण युद्ध करने के बाद ही आर्य इस देश पर अपना अधिपत्य जमा सके। परन्तु ये उल्लेख इतनी काव्यमय तथा अलंकृत भाषा में थे कि उनका वास्तविक तात्पर्य समझना बहुत कठिन था। सिंध में मोहेनजोदाड़ो और पंजाब में हरप्पा में जो अनुसंधान हुए हैं उनसे हमें ऋग्वेद के कुछ ऐसे अंशों का अर्थ स्पष्ट रूप में समझने में सहायता मिलती है जो अब तक बहुत कम बोधगम्य थे। इसके अतिरिक्त इन अनुसंधानों ने हमें भारत में सभ्यता के प्रसार में आर्य जाति की भूमिका और उसके कृत्यों के बारे में अपनी कई धारणाएँ बदलने पर बाध्य किया।

आइये हम विस्तारपूर्वक इस पर विचार करें कि इन पुरातत्त्व-संबंधी अनुसंधानों से क्या रहस्योद्घाटन हुए हैं। मोहेनजोदाड़ो का नगर सिंधु नदी के किनारे और हरप्पा रावी के तट

पर बहुत सुविधाजनक स्थलों पर बसे हुए था। इन दोनों ही नगरों के चारों ओर मिट्टी की ईंटों की दीवारें रही होंगी जिनमें फाटक और मीनार रहे होंगे; अनुमान लगाया जाता है कि इन फाटकों और मीनारों पर संतरी और पहरेदार तैनात रहते होंगे। खुदाई के समय मोहेन-जोदाड़ो का नगर हरप्पा के खँडहरों की तुलना में अधिक सुरक्षित अवस्था में था। मोहेनजोदाड़ो का नगर एक सुव्यवस्थित योजना के अनुसार बनाया गया था। नगर कई सुनियोजित खंडों में विभाजित था। सड़कें पूर्व से पश्चिम की ओर और उत्तर से दक्षिण की ओर सीधी और काफ़ी चौड़ी बनायी गयी थीं और एक दूसरे को समकोण पर काटती थीं। उनकी चौड़ाई ९ से ३४ फ़ुट तक थी और कुछ सड़कें तो आधे मील से अधिक दूरी तक सीधी चली जाती थीं। घरों और सड़कों का सुनियोजित निर्माण इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि उस समय की शासन-व्यवस्था में नगर-नियोजन का एक अत्यंत कार्य-कुशल विभाग था। इस विभाग के अस्तित्व का अनुमान नालियों आदि की तथा जल की सुचारु व्यवस्था से लगाया जा सकता है।

मोहनजोदाड़ो में स्पष्टतः तीन प्रकार की इमारतें मिलती हैं। पहले प्रकार की इमारतों में रहने के घर आते हैं; दूसरे प्रकार की इमारतों को विशाल 'सार्वजनिक' इमारतें कहा जा सकता है; और विशाल स्नानागार तीसरे प्रकार की इमारतों की श्रेणी में आता है। इमारतें बनाने के लिए आग में पकायी हुई ईंटों, मिट्टी और चूने का प्रयोग किया जाता था। इमारतों की नींव में, छतों की भराई के लिए और इमारतों के अन्य खुले हुए हिस्सों में आम तौर पर टेढ़ी-मेढ़ी ईंटें लगायी जाती थीं। मकान के भीतर और बाहर दीवारों का ज़मीन के धरातल से ऊपर वाला भाग पक्की ईंटों का बनाया जाता था और इन ईंटों को या तो ख़ाली मिट्टी के या मिट्टी और चूने के मिले हुए गारे से जोड़ा जाता था। फ़र्श ईंटों को वेड़ा-वेड़ा या खड़ा-खड़ा जोड़कर बनाये जाते थे। स्नानागारों में या अन्य ऐसी जगहों पर, जहाँ फ़र्श बहुत जल्दी घिसने या टूटने की संभावना होती थी, प्रायः हमेशा खड़ी ईंटें ही लगायी जाती थीं। इन मकानों का बाहरी भाग अत्यंत सादा बना हुआ है और उनमें सजावट का सर्वथा अभाव उल्लेखनीय है। परन्तु यह संभव है कि सजावट का काम लकड़ी या इसी प्रकार की किसी अन्य नाशवान सामग्री से किया गया हो और समय की क्रूर गति के साथ वह नष्ट हो गया हो। प्रवेश के लिए सामान्यतः बग़लवाली सड़क पर एक बड़ा-सा दरवाज़ा होता था। प्रकाश और वायु का प्रवेश मुख्यतः दरवाज़ों के रास्ते ही होता था। इन घरों में खिड़कियाँ बहुत ही कम हैं, और जहाँ हैं भी बहुत छोटी-छोटी और बहुत ऊँचाई पर। प्रायः सभी घरों में स्नानागार होते थे और पास ही कुँआ होता था। कूड़े के हौज़ सफ़ाई की व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण अंग थे। घर आम तौर पर दो-मंज़िले होते थे, रहने और सोने के कमरे ऊपर होते थे और नीचे से ऊपर जाने के लिए पतले और ऊँचे ज़ीनों वाली सीढ़ियाँ होती थीं। छतें सपाट और लकड़ी की बनी होती थीं; उन पर तख़्ते और कुटी हुई मिट्टी लगायी जाती थी और बचाव के लिए ऊपर से ईंटों तथा अन्य सामग्री की एक तह होती थी। हर घर में एक खुला आँगन होता था जिसके एक कोने को घेरकर रसोई बनायी जाती थी और उसके पास ही भंडार, कुएँ की कोठरी और स्नानागार आदि होते थे। पक्की ईंटों की बनी हुई साफ़-सुथरी

नालियों के रास्ते पानी बड़ी नालियां तक पहुँचाया जाता था और कूड़ा आदि फेंकने के लिए कूड़े के हौज़ों तथा अन्य आधानों का विशेष रूप से प्रबंध था। नगर में सफ़ाई की नालियों की सुविस्तृत व्यवस्था इस सभ्यता की एक सराहनीय विशिष्टता थी। बड़ी-बड़ी सड़कों और कुछ गलियों के नीचे १ से २ फ़ुट तक गहरी बड़ी-बड़ी नालियाँ होती थीं जो ईंट या पत्थर से ढकी रहती थीं और थोड़ी-थोड़ी दूर पर उनमें ठोस कचरा रोकने के लिए हौज़ बने होते थे और कचरा निकालने के लिए इनका मुंह खुला होता था। घरों की नालियों में भी ठोस कचरा रोकने के लिए हौज़ होते थे और ये नालियाँ बड़ी-बड़ी नालियों के क्रम से जुड़ी होती थीं।

विशाल स्नानागार से इस बात का संकेत मिलता है कि मोहेनजोदाड़ो की जनता के जीवन में स्नान का एक सांस्कारिक महत्त्व था। सर जॉन मार्शल ने लिखा है कि यह विशाल स्नानागार "मालूम होता है जल-चिकित्सा का बहुत बड़ा संस्थान था और मोहेनजोदाड़ो की खुदाई में जितने खँडहर निकले हैं उनमें यही सबसे भव्य है। इसकी निर्माण-योजना बहुत सीधी-सादी है। बीच में एक चौकोर खुली जगह है जिसके चारों ओर बरामदे हैं; तीन बरामदों के पीछे विविध वीथियाँ और कक्ष हैं, दक्षिण की तरफ़ एक लम्बी-सी वीथि है जिसके दोनों सिरों पर एक-एक कक्ष है; पूरब की ओर एक पाँत में कई छोटी-छोटी कोठरियाँ हैं जिनमें से एक कोठरी में कुआँ भी है; उत्तर की ओर अनेक बड़े-बड़े कमरों और काफ़ी बड़ी कोठरियों का एक समूह है। इस चौकोर खुली हुई जगह के बीच में लगभग ३९ फ़ुट लम्बा और २३ फ़ुट चौड़ा एक तैरने का तालाब है जो आँगन के फ़र्श से कोई आठ फ़ुट गहरा है। इसके दोनों सिरों पर सीढ़ियाँ हैं और हर सीढ़ी के नीचे नहानेवालों की सुविधा के लिए एक नीचा-सा चबूतरा है ताकि उन्हें बहुत गहरे पानी में न उतरना पड़े।" इस विशाल स्नानागार की योजना और बनावट को देखकर आज भी आश्चर्य होता है।

अन्य बड़ी-बड़ी इमारतों में दो इमारतें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं—एक इमारत तो देखने में कुछ बाज़ार जैसी लगती है और दूसरी, जो एक बहुत बड़ा रहने का घर है, शासक की हवेली मालूम होती है। छोटे-छोटे बँगलों के एक समूह का भी उल्लेख कर दिया जाना चाहिये; इसमें एक ही योजना के अनुसार बने हुए सोलह घर हैं जो अन्दर से २० फ़ुट लम्बे और १२ फ़ुट चौड़े हैं और दो-दो कमरों में विभाजित हैं जिनमें से एक कमरा दूसरे का दुगना है। ये दो समानांतर पाँतों में बने हुए हैं जिनके एक तरफ़ एक पतली-सी गली और दूसरी तरफ़ सड़क है। इनकी दीवारें पतली हैं जिससे पता चलता है कि ये इमारतें एक ही मंज़िल की रही होंगी। घरों का यह समूह उत्खनन-स्थल के उत्तरी-पश्चिमी भाग में है। श्री व्हीलर के शब्दों में नगर का यह भाग एक फ़ौजी छावनी की तरह बना हुआ था जिसमें सत्ता का स्पष्ट आभास मिलता है। पास ही बने हुए साफ़-सुथरे गोल चबूतरों को देखने से पता चलता है कि यहाँ अनाज की चक्की रही होगी जिसमें काफ़ी लोग काम करते होंगे। इन सब बातों से यह संकेत मिलता है कि सत्ता और शासन-अधिकार केंद्रित थे; यह बात स्वाभाविक रूप से हमें यह सोचने पर बाध्य करती है कि उस सभ्यता के काल में संभवतः सत्ता का रूप क्या रहा होगा।

इन दो नगरों के अतिरिक्त, जैसा कि पिगॉट ने लिखा है, हरप्पा-संस्कृति के ढंग के विभिन्न आकार और हैसियत के अनेक छोटे-छोटे नगर और गाँव मिलते हैं। उन्होंने आगे चलकर यह भी लिखा है कि सुमेर और मिस्र की समकालीन बस्तियों की तरह मूलतः हरप्पा-संस्कृति के केंद्र भी बड़ी-बड़ी नदियों द्वारा एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं; इस संस्कृति के प्रसार में और आगे चलकर इतने बड़े क्षेत्र में इसकी एकता को सुरक्षित रखने में ये नदियाँ निर्णायक भौगोलिक उपकरण रही हैं। इन दो नगरों को देखने से अति केंद्रीकृत सत्ता का स्पष्ट आभास होता है। जैसा कि ह्वीलर ने लिखा है, "उनकी सत्ता का स्रोत कुछ भी रहा हो—और यह मान लेना काफ़ी होगा कि उसमें धार्मिक तत्त्व का प्रभुत्व था—हरप्पा के शासकों का अपने नगर का प्रशासन चलाने का जो ढंग था वह सुमेर और अक्कड के धर्माधीश-राजाओं या राज्यपालों (गवर्नरों) से बहुत भिन्न नहीं था।...सुमेर में नगर-राज्य की सारी सम्पदा और अनुशासन के अधिकार प्रधान देवता में, अर्थात् धर्माधीश-मंडल में अथवा धर्माधीश-राजा में निहित होते थे। सर्वपूज्य मंदिर नगर के जीवन तथा दैवी संमोदन के अधीन अत्यंत सुनियोजित तथा सुव्यवस्थित धार्मिक प्रशासन का केंद्र होता था—इस प्रशासन-व्यवस्था का जो चित्र हमारे सामने आता है वह यह है कि यह एक अत्यंत अनमनीय और सुविकसित अधिकारि-तंत्र था, जो अतिरिक्त सम्पदा का वितरण तथा उसकी रक्षा करने की क्षमता रखता था, पर ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें व्यक्तिगत राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए अधिक गुंजाइश नहीं थी।" प्राप्य प्रमाणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि मोहेनजोदाड़ो की सभ्यता का संगठन भी इसी प्रकार का रहा होगा। जैसा कि पिगॉट ने लिखा है, यह चित्र "एक ऐसे राज्य का है जिसका शासन धर्माधीश-राजाओं के हाथ में था जो दो मुख्य शासन-केंद्रों से एकतांत्रिक तथा निरंकुश शासन चलाते थे; इन दोनों राजधानियों के बीच संचार का मुख्य माध्यम एक विशाल नदी थी जिसमें नावें चल सकती थीं,...ऐसे नगरों की, और बहुत बड़ी हद तक छोटे नगरों की भी, जनसंख्या के भरण-पोषण के लिए काफ़ी सुसंगठित ऐसी कृषि-व्यवस्था अवश्य रही होगी जो आवश्यक परिमाण में अन्न पैदा कर सकती।...अतएव इस सभ्यता के संगठन में धार्मिक पुट बहुत गहरा था और इसके स्वाभाविक परिणाम के रूप में समाज-पद्धति ऐसी थी जिसमें मंदिर की अपरिवर्तनशील परम्पराएँ किसी व्यक्तिगत शासक की महत्त्वाकांक्षाओं या धर्म-निरपेक्ष रहने की चेष्टा में राज-दरबार के अस्थायित्व की अपेक्षा अधिक महत्त्व रखती थीं और जिसमें भूमि-व्यवस्था पुरोहितों की सर्वोच्च सत्ता के आदेशों के अनुसार चलायी जाती थी।"

सिंधु घाटी की सभ्यता के नगरों की योजना और निर्माण से यह स्पष्ट है कि ये नगर वाणिज्य के अत्यंत सक्रिय केंद्र थे जिनके व्यापारिक सम्पर्क इस देश में बहुत विस्तृत क्षेत्र पर ही नहीं बल्कि समुद्र-पार मिस्र तक भी फैले हुए थे। अन्न का उत्पादन और वितरण इस अर्थतंत्र का आधार रहा होगा और शासन-व्यवस्था की कृषि-नीति के एक अंग के रूप में अन्न के भंडार भरकर रखे जाते होंगे। नगरपालिकाओं के अन्न-भंडारों के पास ही अनाज की चक्कियाँ रही होंगी; ये भी राज्य द्वारा नियंत्रित अर्थतंत्र का ही एक अंग रही होंगी और इनमें संगठित श्रमिकों से काम लिया जाता होगा। संभवतः अन्य 'राज्यीय' उद्योगों में ईंटें बनाने और

लकड़ी उपलब्ध करने के उद्योग रहे होंगे। गेहूँ, जौ, तिल, मटर और राई खेती की मुख्य फ़सलें थीं और गाय, भेड़-बकरी, सुअर आदि का माँस, चिड़ियाँ, मछलियाँ और कछुए तथा दूध और सब्ज़ियाँ—यही मोहेनजोदाड़ो के निवासियों की खाद्य-सामग्री थी। जिन पशुओं से वे परिचित थे और जिन्हें वे अपने काम के लिए इस्तेमाल करते थे उनमें साँड़, भैंसें, बकरियाँ, भेड़ें, सुअर, कुत्ते (दो प्रकार के: एक तो साधारण कुत्ते और दूसरे रखवाली करनेवाले कुत्ते), गदहे, घोड़े, हाथी और ऊँट थे। कुत्तों और बिल्लियों के अस्तित्व का अत्यंत रोचक प्रमाण छान्हू-दाड़ो की एक ईंट में मिलता है जिस पर एक कुत्ते के पंजे के निशान हैं जो गीली नरम ईंटों पर एक बिल्ली का पीछा कर रहा था। लोगों का पहनावा क्या था इसका हमें कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता। पर हम यह मान सकते हैं कि वे भी उसी प्रकार के वस्त्र पहनते होंगे जैसे इन स्थलों में पायी गयी मूर्तियों तथा चित्राकृतियों में देखने को मिलते हैं। ऊपर का वस्त्र शाल के ढंग का एक कपड़ा होता था जो बाँये कंधे के ऊपर और दाहिनी बाँह के नीचे से इस प्रकार पहना जाता था कि दाहिना हाथ उन्मुक्त रहे। शरीर के निचले भाग का वस्त्र कपड़े का एक टुकड़ा होता था जिसे बहुत-कुछ आजकल की धोती की तरह कसकर बाँधा जाता था। वस्त्रों के लिए कपड़ा मुख्यतः रुई और ऊन से बनाया जाता था और कुछ उत्खनन-स्थलों से प्राप्त सुइयों से पता चलता है कि लोग सिलाई से परिचित थे। ऐसा लगता है कि लम्बी-लम्बी दाढ़ियाँ और गलमुच्छे रखने का चलन था लेकिन कभी-कभी ऊपर का होंठ मूँड दिया जाता था। समाज के सभी वर्गों के लोग गहने खूब पहनते थे और शरीर के ऐसे भागों पर पहनते थे कि देखे जा सकें। धनवानों के गहने सोने के होते रहे होंगे और निर्धनों को तांबे, नक़ली मोतियों, कौड़ियों और पकायी हुई मिट्टी के गहनों पर ही संतोष कर लेना पड़ता होगा।

उस समय शस्त्रास्त्रों के रूप में फरसों, भालों, खंजरों, तीर-कमानों, गदाओं और गोफनों का प्रयोग होता था। युद्ध के समय और नगर के दैनिक जीवन में भी रथ मुख्य वाहन था।

सिंधु घाटी के निवासियों के बच्चे, हर युग के सभी बच्चों की तरह, खिलौनों से बड़ा आनंद लेते थे, कभी-कभी तो वे स्नानागार में भी खिलौने ले जाते थे। मिट्टी की गाड़ियाँ, मिट्टी के दुम्बे, चिड़ियाँ, पुरुषों और स्त्रियों की मूर्तियाँ (यही प्राचीन गुड़ियाँ थीं), सीटियाँ और लट्टू बच्चों के सबसे प्रिय खिलौने थे।

सिंधु घाटी के निवासियों के धार्मिक विचारों के बारे में कुछ अत्यंत मार्मिक प्रमाण मिलते हैं। वहाँ की एक मूर्ति है जिसको सर जॉन मार्शल ने अत्यंत उचित शब्दों में 'आद्य-ऐतिहासिक' शिव कहा है। इस मूर्ति में देवता के तीन मुख हैं और उन्हें योगी की मुद्रा में एक नीचे-से सिंहासन पर "पैर मोड़कर इस तरह बैठा हुआ दिखाया गया है कि उनकी एड़ियाँ मिली हुई हैं और पैर की उँगलियाँ आगे की ओर हैं और घुटनों पर रखी हुई हैं। कलाई से कंधे तक उनकी बाँहों पर चूड़ियाँ हैं जिनमें से आठ छोटी और तीन बड़ी हैं; उनके सीने पर एक त्रिभुजाकर कवच है या यह भी संभव है कि यह कई लड़ियों का हार हो...और उनकी कमर में एक दोहरी करधन है।" उनके चारों ओर जंगली पशु दिखाये गये हैं जिसके कारण

शिव का सुविख्यात नाम पशुपति इस चित्र पर पूरी तरह चरितार्थ होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय लिंग-पूजा का भी प्रचलन था।

देवी की उपासना उनके धर्म का एक और महत्त्वपूर्ण अंग था। प्राचीनकाल में यह उपासना निकट-पूर्व तथा मध्य-पूर्व में बहुत दूर-दूर तक फैल गयी और मोहनजोदाड़ो तथा हरप्पा में प्राप्त कई मूर्तियों से यह बात निश्चित प्रतीत होती है कि सिंधु घाटी के निवासी भी देवी की पूजा उर्वरता की देवी की रूप में करते थे। अधिकांश मूर्तियों में देवी को कमर पर बँधी हुई एक ऊँची-सी घँघरिया को छोड़कर प्रायः पूर्णतः नग्न और बहुत-से आभूषणों से सुसज्जित एक स्त्री के रूप में दिखाया गया है, जिसके सर पर पंखे की शक्ल का एक मुकुट-सा लगा हुआ है। संभव है कि लोग उसे "घर और गाँव की रक्षा करनेवाली" देवी मानते हों, जो प्रसव के समय अपनी कृपादृष्टि रखती थी और अपने उपासकों के कल्याण का ध्यान रखती थी। देवी के उदार रूप से भी लोग परिचित थे और काली आदि देवियों से संबंधित कुछ धारणाओं में देवी का यह रूप आज भी पाया जाता है। यहाँ यह भी बता देना अनुचित न होगा कि शक्ति की उपासना की उत्पत्ति भी भारतीय इतिहास के आर्य-पूर्व सिंधु-घाटी की सभ्यता के काल में ही हुई।

"आद्य-ऐतिहासिक शिव" और देवी के अतिरिक्त सिंधु घाटी के निवासी कुछ पशुओं और पौधों की भी उपासना करते थे। जिन पशुओं की उपासना की जाती थी वे कल्पित भी होते थे जैसे अर्ध-मानव और अर्ध-श्वान आकृति वाला पशु (जिसे सींगदार शेर पर हमला करते हुए दिखाया गया है), और वास्तविक भी जैसे गैंडे, गौर, शेर, हाथी और भैंसे। वृक्षों, जल तथा अग्नि की पूजा भी व्यापक रूप से प्रचलित थी और वृक्षों में हम सहज ही एक वृक्ष को पहचान सकते हैं जिसकी पत्तियों से मालूम होता है कि वह पीपल का वृक्ष था जिसे आज तक पवित्र माना जाता है। देवताओं के आगे बलि चढ़ाने का आम रिवाज था और कदाचित् मनुष्यों की बलि भी दी जाती होगी।

दाह-संस्कार में सिंधु घाटी के निवासी शव को जलाने के अतिरिक्त संभवतः इन तीन विधियों में से कोई एक अपनाते होंगे : (१) शव को पूरी तरह दफ़न करना, (२) शव को आंशिक रूप से दफ़न करना, (३) शव को जलाने के बाद दफ़न करना। शव को जलाने के बाद दफ़न करने की विधि में पहले शव को पशुओं और चिड़ियों के खाने के लिए खुला छोड़ दिया जाता था और बाद में केवल कुछ अस्थियाँ बटोरकर दफ़न कर दी जाती थीं। शव को जलाने के बाद दफ़न करने की विधि में शव को जलाने के बाद जो अवशेष रह जाते थे उन्हें विशेष प्रकार के बरतनों में रखकर दफ़न कर दिया जाता था। परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि दाह-संस्कार में शव को जलाने की विधि ही सबसे अधिक प्रचलित थी।

पिछले पृष्ठों पर सिंधु घाटी की सभ्यता के बारे में हमने जो जानकारी प्रस्तुत की है वह उत्खनन-स्थल पर प्राप्त खँडहरों और अवशेषों की ठोस साक्षी पर आधारित है। इस खुदाई में बहुत-सी मुहरें भी मिली हैं, पर यह पता लगाने में कि ये मुहरें वास्तव में क्या हैं और सिंधु घाटी के निवासियों की लिपि तथा भाषा का स्वरूप निर्धारित करने में काफ़ी कठिनाइयाँ

सामने आयी हैं। अभी तक कोई इस लिपि को संतोषजनक रूप में पढ़ने में सफल नहीं हुआ है। इस लिपि को पढ़ने का एकमात्र तर्कसंगत प्रयास रेवरेन्ड फ़ादर एच. हेरास, एस. जे. नामक एक पादरी ने किया है; उनके मतानुसार इस भाषा को "आद्य-द्रविड़" भाषा कहा जा सकता है। यह लिपि चित्र-लिपि है, इसके अक्षर सुस्पष्ट सीधे-सादे और सीधी रेखाओं के बने हुए हैं और इस लिपि में चिन्हों का एक आश्चर्यजनक वैविध्य मिलता है। परन्तु आज हमारी जानकारी जिस अवस्था में है, उसमें मोहेनजोदाड़ो की ये मुहरें हमारे लिए एक पहेली बनी हुई हैं, यद्यपि फ़ादर हेरास ने उनसे बहुत-कुछ जानकारी प्राप्त करने में सफलता प्राप्त कर ली है।

ये कौन लोग थे जिन्होंने ऐसी शानदार सभ्यता और इतनी वैविध्यपूर्ण संस्कृति की स्थापना की थी और उसका उपयोग करते थे? सिंधु घाटी के निवासियों की जातीय उत्पत्ति के बारे में निश्चित और संतोषजनक रूप से कुछ भी मालूम नहीं है। उनके अस्थि-पिंजरों के अवशेषों में कम से कम चार अलग-अलग श्रेणियाँ मिलती हैं: आद्य-आस्ट्रेलियाई, भूमध्यसागरीय, आल्प्स-प्रदेशीय तथा मंगोल। जनसंख्या के निम्न श्रेणी के लोग आद्य-आस्ट्रेलियाई जाति के रहे होंगे; सबसे बहुसंख्यक भूमध्यसागरीय जाति के लोग रहे होंगे और पश्चिमी भारत में प्रागैतिहासिक काल की समस्त कृषि-संबंधी तथा पौर विशिष्टताएँ इन्ही लोगों से प्राप्त हुई होंगी और आल्प्स-प्रदेशीय तत्त्व भी इन्हीं से सम्बद्ध थे। मंगोल जाति के लोग "यदा-कदा उत्तर-पूर्व की ओर से—नेपाल या आसाम के पर्वतीय प्रदेश से, कदाचित् उससे भी दूर चीन तक से, 'परदेसियों' के रूप में आते होंगे।" परंतु यह बात अधिक निश्चित् रूप से निर्धारित की जा सकती है कि यह सभ्यता किस काल में फली-फूली। श्री मैक्के का कहना है कि "यह संभव है कि इस उत्खनन-स्थल में पाये गये नगर का निर्माण पाषाण-युग में हुआ हो।" सर जॉन मार्शल के अनुसार यह ३२५० ई. पू. से अधिक पुराना नहीं है और फ़ादर हेरास ने इस सभ्यता का काल ५,००० ई. पू. और २५०० ई. पू. के बीच बताया है।

अंत में यह प्रश्न उठता है कि इतनी सुविकसित संस्कृति, जो देश में इतनी दूर-दूर तक फैली थी और जिसका सम्पर्क समुद्र-पार मिस्र की सभ्यता के साथ था, नष्ट कैसे हो गयी? घरों की सीढ़ियों पर अत्यंत विकृत मुद्राओं में जो अस्थि-पिंजर मिले हैं वे इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं कि इस सभ्यता के अस्तित्व-काल में किसी समय कोई आक्रमण अवश्य हुआ होगा; इन अस्थि-पिंजरों को देखने से प्रतीत होता है कि निस्सहाय नगर-निवासी आक्रमणकर्ता के प्रहार से बचने के लिए भागने का प्रयत्न कर रहे थे। आग और बाढ़ के भी प्रमाण मिलते हैं। हमें ठीक से नहीं मालूम कि इस सभ्यता का लोप किस प्रकार हुआ और इस समय हमें जितनी जानकारी प्राप्त है उससे हम केवल यह अनुमान लगा सकते हैं कि प्रकृति और मनुष्य ने मिलकर ही इसे आमूल नष्ट कर दिया होगा। परन्तु यद्यपि लोग मिट गये पर उनकी संस्कृति, आंशिक रूप में ही सही, बाक़ी रही। यह तो निश्चित बात है कि सिंधु घाटी की सभ्यता ने भारतीय संस्कृति को समृद्ध बनाने में अनेक योगदान किये। इस संस्कृति की अनेक बातें वर्तमान हिंदूमत में आज भी शेष हैं। शिव और देवी की उपासना, पशुओं, वृक्षों और नदियों की पूजा—ये

ऐसी बातें हैं जिनको सिंधु घाटी की संस्कृति की देन कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्राचीन भारत के छेददार सिक्कों पर कई चिन्ह ऐसे पाये जाते हैं जो सिंधु घाटी की सभ्यता के समय की लिपि के प्रतीक-चिन्हों से बहुत मिलते-जुलते हैं; यह सवर्था संभव है कि प्राचीन-काल के सिक्कों पर प्रयुक्त प्रतीक-चिन्ह बहुत-कुछ हद तक इससे भी पुरानी सिंधु घाटी की संस्कृति की देन रहे हों। योगिराज पशुपति की उपासना, लिंग-पूजन और कदाचित प्राचीन भारतीय लिपि की कुछ विशिष्टताएँ इस गौरवशाली सभ्यता के कुछ और स्मृति-चिन्ह हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सिंधु घाटी की सभ्यता में रहनेवाले भारतवासियों ने अपने देश की संस्कृति को स्थायी महत्त्व की कुछ चीज़ें दीं। अग्नि, युद्ध, बाढ़ और भूकम्प से लोग तो नष्ट हो सकते हैं पर उनकी संस्कृति का कम से कम एक अंश बाद में आनेवाली सभ्यता या सभ्यताओं के अभिन्न अंग के रूप में अवश्य बाक़ी रहता है।

## — ४ —

# अश्वारोही और भूस्वामी अभिजात वर्ग

जहाँ तक हमें मालूम हो सका है मोहेनजोदाड़ो और हरप्पा उतने ही रहस्यपूर्ण ढंग से मिट गये थे जितने रहस्यपूर्ण ढंग से बहुत बाद में जाकर पुरातत्त्ववेत्ताओं को संयोगवश उनका पता लगा। सिंध और पंजाब के इन भूमिगत नगरों की खोज जितनी रोमांचकारी थी उतनी ही जटिल समस्याएँ भी इस खोज ने प्रस्तुत कर दी हैं। पिछले पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि सिंधु घाटी की संस्कृति ने एक बहुमूल्य धरोहर छोड़ी थी: धीरे-धीरे हम इस बात को समझते जा रहे हैं कि बाद की भारतीय संस्कृति पर इस परम्परा की कितनी गहरी छाप पड़ी और किस हद तक बाद की संस्कृतियों में इस परम्परा का समावेश हो गया। अपने इस वृत्तांत में हम कई जगह इस पहलू पर रोशनी डालेंगे और जैसे-जैसे हम आगे चलेंगे हम इस बात को ज्यादा अच्छी तरह समझ सकेंगे कि प्राचीन भारतीय संस्कृति, जिसमें सिंधु घाटी की संस्कृति ने योग दिया, कितनी एकाकार थी। यहाँ पर तो हम भारतीय जीवन को समृद्ध बनानेवाली एक दूसरी ही प्रक्रिया पर विचार करेंगे। इस प्रक्रिया का मूल स्रोत वह संस्कृति थी जिसे पहाड़ों के उस पार से पंजाब में दल-बल सहित टूट पड़नेवाले लोग अपने साथ लाये थे। ये आर्य लोग थे।

उत्तर-पश्चिम के पहाड़ों के दर्रों से होकर या बलूचिस्तान के इलाक़े को पार करके, जो अब भयावह रेगिस्तान हो गया है पर उस समय बहुत उपजाऊ क्षेत्र था, जब आर्यों ने भारत में प्रवेश किया तो वे एक ऐसे देश की खोज में थे जहाँ वे बस सकें और सुख से अपना जीवन व्यतीत कर सकें। यह तो हमें अभी तक ठीक-ठीक नहीं मालूम हो सका है कि आर्य मूलतः कहाँ से आये थे पर यह मान लेना तर्कसंगत है कि दक्षिणी रूस वह अंतिम स्थान था जहाँ वे संगठित रूप से रहते थे। यहाँ से उन्होंने निष्क्रमण आरंभ किया होगा और इस प्रकार उन्होंने ज्ञात इतिहास की उस सबसे आश्चर्यजनक घटना का श्रीगणेश किया जिसने आगे चलकर अत्यंत विशाल भू-विस्तार पर बिखरे हुए करोड़ों लोगों के जीवन में आमूल परिवर्तन कर दिया। रास्ते में यह जन-समुदाय दो दलों में विभाजित हो गया, एक तो पश्चिम की ओर चला गया और योरपवासियों की बहुत बड़ी संख्या इन्हीं की संतान है; दूसरा दल पूर्व की ओर चल पड़ा। इस दल के कुछ लोग ईरान में बस गये और बाक़ी लोग और आगे बढ़ते हुए टिड्डी-दल की तरह भारत में टूट पड़े। यही आर्य हमारे पूर्वज थे जिन्होंने हमें संस्कृत भाषा, घोड़े और एक ऐसे धर्म का उपहार दिया जो आर्य-पूर्व लोगों के विश्वासों से बहुत भिन्न था। इस देश में आर्यों के आगमन का क्रम बहुत दीर्घ कालावधि में और कई मंज़िलों में पूरा हुआ होगा जिनमें अलग-अलग दल सात नदियों के इस देश में पहुँचे होंगे।

उस समय पंजाब और सिंध में अनेक क़बीले रहते थे। जब आर्यों ने दल-बल सहित यहाँ प्रवेश किया तो उन्हें इन क़बीलों के विरुद्ध युद्ध करके उनसे उनकी भूमि छीनना पड़ी। इस युग के बारे में हमारी जानकारी का एकमात्र स्रोत आर्यों का प्रमुख धर्मग्रंथ ऋग्वेद है। ऋग्वेद कई दृष्टि से विलक्षण है। यह आर्य जाति का सबसे पहला साहित्यिक वृत्तांत है और पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक संक्रमग द्वारा इसकी परम्परा शताब्दियों से जीवित है। इस देश के करोड़ों लोगों के लिए यह सबसे पवित्र ग्रंथ है। इसमें हमें अपने आर्य पूर्वजों के धार्मिक विचारों और संस्कारों का सजीव चित्रण मिलता है। भाषा और साहित्यिक सौंदर्य की दृष्टि से विशाल भारतीय धार्मिक साहित्य में इसे अद्वितीय स्थान प्राप्त है और दार्शनिक विषय-वस्तु की दृष्टि से भी इसका स्थान बहुत ऊँचा है।

ऋग्वेद में बताया गया है कि अनेक क़बीलों ने, जो इस देश के मूल निवासी थे, भारत में आर्यों के अतिक्रमण का डटकर विरोध किया। आर्यों ने अपने शत्रुओं का वर्णन इस प्रकार किया है कि उनका रंग काला था, उनके या तो नाकें होती ही नहीं थीं या बहुत चपटी होती थीं, उनकी वाणी कर्कश थी, वे आर्य देवताओं का सम्मान नहीं करते थे और न ही आर्य धार्मिक संस्कारों का पालन करते थे पर भौतिक संपदा की दृष्टि से बहुत समृद्ध थे और दीवारों से घिरे हुए नगरों में रहते थे। उनके नाम ये बताये गये हैं: दास, असुर, पणि तथा कीकट। अंत में आर्य आक्रमणकारियों ने अनार्यों पर विजय पायी; बहुत-से अनार्य मारे गये या दास बना लिये गये या देश में और अंदर की ओर खदेड़ दिये गये।

इस भूमि पर, जो आर्यों ने अपने शत्रुओं को परास्त करके प्राप्त की थी, आर्यों की प्रथम बस्तियाँ बसायी गयीं। इस पूरे भू-विस्तार पर अनेक नदियाँ जाल की तरह बिछी हुई थीं जो दूर तक फैले हुए विस्तृत मैदानों को सींचती थीं और इसके उत्तर में हिमालय पर्वत अपना मस्तक ऊँचा किये खड़ा था। ऋग्वेद में जिन बड़ी-बड़ी नदियों का उल्लेख बार-बार आता है उनके नाम ये हैं: वितस्ता (झेलम), असिकनी (चेनाब), परुष्णी (रावी), विपाशा (ब्यास) और शतद्रु (सतलज)। पूर्व की ओर यमुना नदी थी और उसके पार गंगा, पर उससे लोग उस समय तक इतनी अच्छी तरह परिचित नहीं थे। एक महान नदी के रूप में सरस्वती का भी बहुत गुणगान किया गया है। अन्य नदियाँ जिनका उल्लेख मिलता है वे हैं: कुभा (काबुल), सुवस्तु (स्वात), क्रुमु (कुर्रम), और गोमति (गोमुल)। यद्यपि आर्य समुद्रतट के काफ़ी निकट रहते थे पर ऐसा प्रतीत होता है कि वे महासागर से परिचित नहीं थे और ज्वार-भाटे के रहस्यों से तो सर्वथा अपरिचित थे। उपजाऊ मैदानों के पार फैले हुए सुप्रभात के स्वर्णिम सौंदर्य ने आर्यों को मंत्रमुग्ध कर लिया। प्रभात की देवी उषा की वंदना में जो श्लोक कहे गये हैं वे ऋग्वेद की सुंदरतम रचनाओं में से हैं।

इस समय आर्य लोग कई क़बीलों के रूप में संगठित थे। इनमें पाँच क़बीले सबसे प्रमुख थे: यदु, तुर्वाश, द्रुह्यु, अनु और पुरु। इनके अतिरिक्त गांधारि, पक्थ (पख़्तून), अलिन, भलान, विशाणिन, शिव और केकय नाम के क़बीले भी थे। हर क़बीले का अपना अलग राजा होता था; यह स्थान बहुधा बाप से बेटे को मिलता था परन्तु ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं

जब राजा का निर्वाचन भी किया जाता था। राजा क़बीले का सैनिक नेता भी होता था और प्रशासन का प्रधान भी। राजा निरंकुश शासक नहीं होता था क्योंकि उसे बहुधा सभाओं और समितियों को प्रसन्न करके उनका अनुमोदन प्राप्त करना होता था। इस काल के बारे में बहुत थोड़ी राजनीतिक जानकारी प्राप्त है, यद्यपि हमें दिवोदास और उसके उत्तराधिकारी सुदास का बहुत उल्लेख मिलता है; ये दोनों उस युग के प्रमुखतम राजा थे। दिवोदास, अर्थात् देवताओं का दास, बहुत बड़ा योद्धा था और उसने पुरुओं, यदुओं और तुर्वाशों का गर्व चूर-चूर कर दिया था और दासों के सरदार शम्बर और पणियों को भी परास्त किया था। सुदास का यश-गान दशराज्ञ युद्ध में किया गया है; यह लड़ाई परुष्णी नदी के किनारे लड़ी गयी थी। इस लड़ाई का तात्कालिक कारण संभवतः वशिष्ठ और विश्वामित्र नामक दो पुजारियों की प्रतिद्वंद्विता थी। वशिष्ठ सुदास के सबसे बड़े धर्मगुरु थे और विश्वामित्र पुरु, यदु आदि क़बीलों के दस राजाओं के संघ के पक्षधर थे। रणक्षेत्र में सुदास की विजय हुई, उसने कई नगर ढा दिये, अनुओं की भूमि पर अपना अधिकार जमा लिया और तुर्वाशों, द्रुह्युओं और भारतों का गर्व चूर-चूर कर दिया। दशराज्ञ युद्ध के बाद त्रुत्सु और भारत जातियाँ मिलकर एक ही जाति के रूप में संगठित हो गयीं और बाद में पुरु भी इनमें विलीन हो गये।

ये आर्य, जो द्रुतगामी घोड़ों पर सवारी करते थे, लकड़ी के रथों पर चलते थे और आपस में लड़ते थे, पशुपालन और खेती-बारी करनेवाले लोग थे। इनके जीवन में नगर का कोई महत्त्व नहीं था। जंगले से घिरा हुआ गाँव ही सुरक्षा और सामाजिक जीवन का केंद्र होता था। उनकी सम्पदा का मुख्य स्रोत पशु थे और वस्तु-विनिमय द्वारा वे अपने अतिरिक्त माल की लेन-देन करते थे। वे पितृसत्तात्मक परिवारों में रहते थे जिसमें सारे अधिकार पिता के हाथ में होते थे पर स्त्रियों का उचित समान किया जाता था। बाल-विवाह का कोई नाम-निशान नहीं था और विधवा-विवाह अकसर होते रहते थे। मनुष्य की सबसे प्रबल इच्छा यह होती थी कि घर नाती-पोतों से भरा रहे, अन्न के भंडार भरे रहें और बाहर सायबानों में पशुओं के बड़े-बड़े झुंड संतोष के साथ जुगाली करते हों। पुरुष एक से अधिक पत्नियाँ रखते थे पर स्त्रियों को एक से अधिक पति रखने का अधिकार नहीं था।

'सभा' परिषद् भी होती थी और आमोद-प्रमोद का केंद्र भी, जहाँ इन प्रथम बस्तियों के नवीनतम समाचारों पर गरमागरम बहस होती थी और पाँसों के खेल में लोग अपनी दौलत का वारा-न्यारा कर देते थे। मुख्य क्रीड़ा रथों की दौड़ थी और सुरा सबसे लोकप्रिय पेय था। अनाज से बनायी गयी एक प्रकार की शराब होती थी जिसे पीने से बहुत-ही थोड़ी देर में ज़बान चल निकलती थी और पैर लड़खड़ाने लगते थे। यज्ञों के समय सोमरस का पान किया जाता था; उसे यज्ञ-संस्कार के समय बहुत दूर से लाये गये विशेष प्रकार के पेड़ों से तैयार किया जाता था और दूध, दही, या जौ के पानी के साथ मिलाकर पिया जाता था। भोजन में बहुत बड़ा भाग माँस का होता था जिसमें दूध, दूध की बनी हुई चीज़ें, शाक-भाजी और फल भी होते थे। उस समय तक गाय का माँस खाना वर्जित नहीं था यद्यपि गाय को धीरे-धीरे पवित्र समझा जाने लगा था। वीणा, वाण (बाँसुरी) और मृदंग आदि बाजों का प्रयोग गायकों तथा

नर्तकों की उल्लासपूर्ण धुनों और तालों पर साथ देने के लिए किया जाता था। परिधान के रूप में वे दो वस्त्रों का प्रयोग करते थे, एक शरीर के ऊपरी भाग पर पहनने के लिए और एक निचले भाग पर। वस्त्र बनाने के लिए कपास और ऊन का प्रयोग किया जाता था और हार अथवा कुंडल आदि आभूषण मुख्यतः सोने के बनाये जाते थे। केश-भूषा की ओर बहुत ध्यान दिया जाता था और बाल लम्बी-लम्बी लटों के रूप में रखे जाते थे।

ऋग्वैदिक काल में समाज का संगठन काफ़ी सीधा-सादा था। अलग-अलग लोगों में अलग-अलग कामों के विभाजन की पद्धति विकसित हो चली थी जिसके फलस्वरूप अलग-अलग व्यवसायों पर आधारित योद्धा-प्रशासक, पुरोहित, और कृषक-शिल्पकार आदि वर्ग बन गये थे। इन तीन वर्गों के लोग आर्य अर्थात् विजेता जाति के लोग होते थे और उच्च कोटि के काम इनमें बाँट दिये जाते थे और पराजित अनार्य देशवासियों में से जो लोग दास बना लिये गये थे वे आर्य विजेताओं की सेवा करते थे और सारा तुच्छ काम उन्हें करना पड़ता था। आर्य बिरादरी के सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में उनकी कोई भूमिका नहीं थी और वे इस बिरादरी के बाहर रहकर पूरी तरह उसकी दया पर निर्भर रहते थे। व्यवसायों पर आधारित वर्गों के इस सोपान में सबसे ऊँचा स्थान क्षत्रियों का था, उनके बाद पुरोहितों का स्थान था और आर्यों के समाज में सबसे बहुसंख्यक वैश्य, अर्थात् कृषक तथा शिल्पकार वर्ग के लोग थे। मोहेनजोदाड़ो और हरप्पा में नगरीय जीवन का जो वैभव देखने को मिलता है उसकी तुलना में ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यों का जीवन बहुत सरल था; उसमें व्यापारिक नगर-केंद्र की संगठनात्मक जटिलता और नगरीय वैभव का बहुत हद तक अभाव था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कृषि और पशुपालन मुख्य व्यवसाय थे और वस्तु-विनिमय पर आधारित होने के कारण व्यापार और वाणिज्य को जन-साधारण के आर्थिक जीवन में प्रायः एक नगण्य स्थान प्राप्त था।

ऋग्वेद मूलतः एक धर्मग्रंथ है और इसलिए इसमें आर्यों के धार्मिक विचारों और उनके विधि-संस्कारों के बारे में बहुत जानकारी प्राप्त होती है। वे कई देवताओं में विश्वास रखते थे और उनकी उपासना करते थे। ये देवता प्रकृति तथा प्राकृतिक घटनाओं का साकार रूप होते थे, जैसे सूर्य, नक्षत्र और दामिनि आदि। उनमें से कुछ के बारे में, जैसे वरुण के बारे में, यह कल्पना की जाती थी कि वे स्वर्ग में रहते हैं, कुछ देवता, जैसे इंद्र, शून्य गगन में वास करते थे और ऋग्वैदिक आर्य जिन ३३ देवताओं की पूजा करते थे उनमें से बाक़ी अग्नि आदि की तरह के पार्थिव देवता थे। उपासना का सबसे अधिक प्रचलित रूप यज्ञ था जिसमें दूध और अन्न की या पशुओं की आहुति दी जाती थी। इनमें से कुछ देवताओं को अत्यन्त शक्तिशाली और नीतिपरायण बताया गया है, जैसे वरुण; कुछ देवता मूलतः युद्ध के देवता हैं, जैसे इंद्र; और कुछ देवताओं का रूप अत्यंत विकराल बताया गया है, जैसे रुद्र। देवताओं के अतिरिक्त आर्य ऋत के नियम में भी विश्वास रखते थे; उनके लिए यह ब्रह्मांड का नियम था जिसके अनुसार हर वस्तु का अस्तित्व और उसकी जीवन-गति निर्धारित होती थी और हर वस्तु, देवता भी, इसी नियम के अधीन थे। समय की गति के साथ इन विश्वासों ने

विकसित होकर एक ओर तो एक जटिल दार्शनिक विचारधारा का रूप धारण कर लिया और दूसरी ओर यज्ञ-संस्कारों में भी इसी अनुपात से उन्नति हुई जिसके फलस्वरूप एक पुरोहित वर्ग की आवश्यकता हुई जो इन विधियों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए काफ़ी समय दे सके और इस प्रकार उनका विशेषज्ञ बन जाये। यज्ञ धार्मिक संस्कार के अतिरिक्त एक सामाजिक कृत्य भी था, और कई बड़े-बड़े यज्ञों के बाद, जैसे राजसूय और अश्वमेध यज्ञों के बाद, काफ़ी उत्सव मनाया जाता था। पुरोहित राजगुरु होता था जो राजा की ओर से सभी मुख्य यज्ञ करता था और बहुधा राजसेना के साथ रणक्षेत्र में जाकर वहाँ अपने स्वामी की विजय को सुनिश्चित बनाने के लिए देवताओं की वंदना करता था। धीरे-धीरे यज्ञों का सांस्कारिक रूप बढ़ता गया और इसके साथ ही साथ एक प्रकार के व्याख्यात्मक धर्मग्रंथ अस्तित्व में आये जिन्हें 'ब्राह्मण' कहा गया; इनमें बड़े विस्तार के साथ यज्ञ संपन्न करने की उचित विधि के बारे में आदेश दिये गये हैं। कुछ समय बीतने पर इन धर्मग्रंथों के बाद एक दूसरे प्रकार के धर्मग्रंथ तैयार हुए जिन्हें आरण्यक कहा गया; इनमें यज्ञ की अत्यंत रहस्यमय व्याख्याएँ दी गयी थीं। पर यह बाद के युग की बात है और इसका उल्लेख पुस्तक के अन्य भाग में किया जायेगा।

ऋग्वेद के काल में, जो १५०० ई. पू. तक समाप्त हो गया था, अनेक नदियों वाली इस भूमि पर आर्य इस प्रकार का जीवन व्यतीत करते थे। इस युग में आर्य पंजाब के मैदानों में रहते थे और पूरब की ओर वे जमुना तक ही बढ़ पाये थे। ऋग्वेद में गंगा का उल्लेख केवल दो जगह किया गया है। इसी प्रकार वटवृक्ष से, जो भारत के अंतःप्रदेश में इतनी बहुतायत से पाया जाता है, उस समय तक लोग परिचित नहीं थे। जंगली पशुओं में मरुस्थल में रहनेवाले सिंह का तो उल्लेख मिलता है पर उस व्याघ्र का कहीं उल्लेख नहीं मिलता जो दक्षिण तथा पूरब की ओर घने जंगलों में शिकार की खोज में फिरता था। जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती गयी, आर्य देश में और भीतर की ओर बढ़ते गये और जीवन का क्रीड़ास्थल पंजाब से हटकर कुरुओं की भूमि में पहुँच गया; यह आधुनिक दिल्ली के आस-पास का प्रदेश था। चारों ओर के वातावरण में होंने वाले इस परिवर्तन के साथ ही जीवन के आर्थिक आधार में भी एक परिवर्तन आया, यद्यपि यह परिवर्तन न तो इतना आकस्मिक था और न इतना व्यापक ही। घटनास्थल बदलने के साथ जिस युग का श्रीगणेश हुआ वह वीरता का वह युग था जिससे हम महाभारत और रामायण के महाकाव्यों द्वारा भली भाँति परिचित हैं। यह बड़े-बड़े भूस्वामियों का युग था जिनमें सबसे बड़ा भूस्वामी स्वयं राजा होता था। इस युग की लय में तलवारों की झंकार और रण-दुंदुभी की ललकार की प्रतिध्वनि मिलती थी। यह शूरवीरों का युग था जिसमें मुट्ठी-भर इने-गिने शक्तिशाली और बलवान लोग बहुसंख्यक शक्तिहीन लोगों पर अपना शासन चलाते थे और उनकी रक्षा करते थे। रणक्षेत्र के मानदंडों को ही वीरों के इस युग के नैतिक आचरण का मानदंड माना जाता था; रणक्षेत्र का स्वामी सुशिक्षित क्षत्रिय होता था जो लड़ने, जुआ खेलने या शराब पीने की चुनौती को स्वीकार न करना अपना अपमान समझता था।

इस युग का परिचय हमें भारत के महाकाव्यों से प्राप्त होता है। आज ये महाकाव्य जिस रूप

में हमें मिलते हैं उनमें पुरोहितों ने अनेक संशोधन कर दिये हैं; यद्यपि इनमें अत्यंत अप्रत्याशित स्थानों पर धर्म और नीति के विषय में पुरोहितों के उपदेश भरे पड़े हैं फिर भी इनके असंख्य छंदों में मूलतः उसी शौर्य-भाव की झलक मिलती है। ये दो महाकाव्य एक-दूसरे से बिल्कुल ही भिन्न प्रकार के हैं। पुरोहितों के उपदेशों के बावजूद महाभारत मूलतः युद्ध और तीव्र घृणा की गाथा है जिसमें शूरवीरों का ऐसा भीषण संघर्ष हुआ कि पृथ्वी तक प्रलय के भय से काँप उठी। रामायण बहुत काफ़ी हद तक एक गठा हुआ महाकाव्य है जिसमें भगवान् राम की कठिन परीक्षाओं तथा कष्टपूर्ण साधनाओं और अंत में उनकी विजय का वर्णन किया गया है। इसके विपरीत महाभारत केवल वृत्तांत की लम्बाई की दृष्टि से ही नहीं बल्कि विषय-वस्तु की दृष्टि से भी एक महाग्रंथ है और भारतवासियों में उसकी लोकप्रियता इतनी अधिक है कि एक कहावत मशहूर है कि "जो कुछ महाभारत में नहीं है वह जानने योग्य नहीं है"। इस वृत्तांत के विस्तृत क्षेत्र में प्रेम और कपट, हिंसा और दया सभी कुछ एक साथ पाया जाता है। बाल्यकाल से लेकर वृद्धावस्था तक किसी भी भारतवासी को अपने जीवन में किसी ऐसी परिस्थिति का सामना नहीं करना पड़ता जिसके विषय में उसे इस महाकाव्य के श्लोकों से कुछ ज्ञान प्राप्त न हो जाये।

महाभारत में काव्य-कौशल के विपुल भंडार का केंद्रीय विषय भरतवंशियों की यश-गाथा है। वैदिक काल में जिस पुरु-भरतवंश को अपेक्षाकृत बहुत ही कम महत्त्व दिया जाता था, अब वही इतिहास के रंगमंच पर सबसे प्रमुख स्थान पर सुशोभित था। इस युग में पहुँचकर हम देखते हैं कि वे सरस्वती से गंगा नदी तक के विस्तृत क्षेत्र में बसे हुए हैं और उनका राज्य तीन भागों में विभाजित है जिसकी राजधानी हस्तिनापुर में है; यह नगर उत्तर प्रदेश में उस स्थान से निकट ही बसा हुआ था जहाँ आजकल मेरठ स्थित है। कथा का आरंभ यहाँ से होता है कि नेत्रहीन महाराज धृतराष्ट्र अत्यंत संकटमय परिस्थितियों में राज्य-शासन चला रहे हैं; उनके बेटे कौरव तथा उनके भतीजे पांडव (पांडु के पुत्र) धीरे-धीरे किशोरावस्था को प्राप्त होते हैं। ये राजकुमार गुरु द्रोणाचार्य के यहां शिक्षा प्राप्त करते हैं। पांडव अधिक कुशल और प्रतिभा-संपन्न सिद्ध होते हैं और इसलिए उनके सौ चचेरे भाई उनसे ईर्ष्या करने लगते हैं। छल-कपट से कौरव बड़ी दक्षता से बनवाये गये एक लाख के घर में पांडवों को रात भर के लिए रहने पर राज़ी कर लेते हैं और लाख के उस घर में एक पूर्व-निश्चित समय पर आग लग जाती है। पर सौभाग्य से पांडव भाग निकलते हैं और भेस बदलकर जीवन व्यतीत करने लगते हैं; इसी समय राजा द्रुपद की पुत्री द्रौपदी से उनका विवाह होता है। राजधानी में वापस लौटने पर उन्हें फिर फुसलाकर जुआ खेलने के लिए राज़ी किया जाता है; चतुर तथा कपटी कौरव उन्हें इस खेल में हरा देते हैं और पांडवों को बहुत समय के लिए बनवास ग्रहण करना पड़ता है। बनवास से लौटकर वे अपनी पैतृक सम्पत्ति माँगते हैं, जिसे देने से इंकार कर दिया जाता है। घटनाओं का क्रम इसी प्रकार चलता रहता है और अंत में परिस्थिति अत्यंत संकटमय रूप धारण कर लेती है। फलस्वरूप अठारह दिन तक घोर युद्ध होता है जिसमें पांडव भगवान श्रीकृष्ण की सहायता से कौरवों को बिल्कुल नष्ट कर देते हैं। परंतु जिस समय

पांडव विजेताओं के रूप में हस्तिनापुर में प्रवेश करते हैं उन्हें कोई प्रसन्नता नहीं होती क्योंकि चारों ओर वे मृत्यु और विनाश देखते हैं। अर्जुन के पौत्र परीक्षित को गद्दी पर बिठाकर वे स्वर्ग की लम्बी यात्रा पर चल पड़ते हैं।

महाभारत का युद्ध लगभग १०००-९०० ई. पू. के बीच किसी समय हुआ होगा। इस समय तक सभ्यता का स्वरूप ग्राम्य तथा कृषिप्रधान था और सम्पत्ति का अस्तित्व भूमि के रूप में ही था। धन पर आधारित अर्थतंत्र अभी तक दृढ़ रूप से स्थापित नहीं हो पाया था और विभिन्न जातियाँ तथा संस्कृतियाँ पूरी तरह एक-दूसरे में घुल-मिलकर एकरूप नहीं हो पायी थीं। यह महाकाव्य आज जिस रूप में हमें प्राप्य है उसमें बीच-बीच में पुरोहितों ने कितनी ही बातें अपनी ओर से जोड़ दी हैं और कितनी ही बातें ऐसी हैं जो मूल विषय से हटकर कही गयी हैं उसका बहुत बड़ा भाग इतना संदिग्ध है कि वीरता के इस युग को समझने के लिए उसे विश्वसनीय आधार नहीं बनाया जा सकता। परंतु ध्यान से अध्ययन करने पर हमें इसमें वीरता और प्रतिशोध, उदारता और निर्भीकता के उदाहरण मिलते हैं। इसमें बहुत-सी बातें ऐसी भी हैं जो अनंत वाद-विवाद और विद्वानों के लिए अपार हर्ष का स्रोत बन गयी हैं। हमें यहाँ इस रचना के पौराणिक कथाओं वाले तथा धार्मिक पहलुओं से अधिक सरोकार नहीं है; हम इस महाकाव्य के उस भाग पर विचार करेंगे जो पूर्णतः ऐतिहासिक है।

यह महाकाव्य राजा परीक्षित के पुत्र जनमेजय द्वारा किये गये महासर्प यज्ञ के वर्णन से आरंभ होता है। राजा परीक्षित ने मद्र देश की राजकुमारी से विवाह किया और २४ वर्ष तक राज करने के बाद काफ़ी वृद्ध होकर ६० वर्ष की अवस्था में परलोक सिधारे। उनके उत्तराधिकारी जनमेजय ने तक्षशिला पर विजय प्राप्त करके अश्वमेध यज्ञ किया। उनकी राजधानी आसंदिवत में थी; कदाचित् यह वही जगह थी जहाँ पहले कौरवों की राजधानी हस्तिनापुर थी। जनमेजय के तीन भाई थे : भीमसेन, उग्रसेन और श्रुतसेन। जनमेजय के बाद बारी-बारी से सतानिक, अश्वमेधदत्त, अधीसिंह कृष्ण और निचक्षु गद्दी पर बैठे। निचक्षु के राज्यकाल में राजधानी हस्तिनापुर गंगा में बह गयी और प्रशासन का केंद्र ३०० मील दक्षिण में कौशाम्बी नामक स्थान में बनाया गया; यह पता लगा लिया गया है कि इलाहाबाद से ३० मील पश्चिम की ओर आजकल जो कोसम नामक स्थान है वही प्राचीन कौशाम्बी थी। परंतु कौरवों की सत्ता का वैभवकाल बीत चुका था और अब इतिहास का घटनास्थल यहाँ से हटकर विदेह पहुँचता है।

ईसा-पूर्व ७वीं शताब्दी में विदेह में राजा जनक राज्य करते थे, जो विद्वानों और दार्शनिकों दोनों ही का बड़ा सम्मान करते थे। उनका राज्य उसी क्षेत्र में था जो आजकल उत्तरी बिहार के तिरहुत ज़िले में शामिल है। इसकी राजधानी मिथिला में थी; नेपाल की सीमा पर जो जनकपुर नामक नगर है वही पुरानी मिथिला थी। यह संभव है कि विदेह के राजा जनक और निचक्षु समकालीन रहे हों। हमारे प्राचीन धार्मिक साहित्य में राजा जनक का गुणगान एक दार्शनिक राजा के रूप में किया गया है जिनके दरबार में दूर-दूर के विद्वान् आया करते थे।

जैसे-जैसे शताब्दियाँ गुज़रती जा रही थीं वैसे-वैसे देश में एक महान परिवर्तन होता जा रहा

था। राजनीति और संस्कृति का केंद्र मगध में पहुँच गया, जहाँ आरंभ में कुछ संघर्ष होने के बाद आर्य तथा अनार्य संस्कृतियों का संश्लेषण पूरा होने जा रहा था। इसके बाद की शताब्दियों में हमें जो मूलतः भारतीय भावना देखने को मिलती है वह अस्तित्व में आ रही थी। इस महान घटना के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए, जो आगे चलकर एक महान और भव्य नाटक का प्रथम अंक बन गयी, हमें बौद्ध और जैन पुस्तकों का सहारा लेना पड़ता है। यह वह युग था जब गौतम बुद्ध और महावीर जैन जैसे महात्माओं ने इस भारतभूमि पर जन्म लेकर न्याय और मानवप्रेम की ज्योति जगायी और दर्शन, धर्म तथा कला के क्षेत्र में भारतवासियों की अपार सृजनात्मक शक्तियाँ उन्मुक्त कर दीं; ब्राह्मणों में उल्लिखित निरुपयोगी कल्पों के कारण इन शक्तियों के लोप हो जाने का खतरा पैदा हो गया था। लगभग इसी समय उन क्रान्तिकारी विचारों का भी बोलबाला हुआ जिनमें पूरी सृष्टि पर छा जाने और आत्मन् में उसका समावेश कर लेने का साहस व्यक्त किया गया था। इन विचारों का उल्लेख हम आगे चलकर पुस्तक के उस भाग में करेंगे जहाँ भारतीय दर्शन पर चर्चा की जायेगी।

आर्थिक जीवन में भी बहुत बड़ा परिवर्तन आ रहा था। बौद्ध धर्मग्रंथों में हमें कई जगह कार्षापन नामक एक चौकोर छेददार सिक्के का उल्लेख मिलता है। बड़े-बड़े सामंतों के साथ ही, जिनके पास कई-कई एकड़ उपजाऊ भूमि थी, हमें बड़े-बड़े व्यापारियों और महाजनों का भी उल्लेख मिलता है जो मुनाफा कमाने के लिए बहुमूल्य वस्तुएँ लेकर जंगलों और मरुस्थलों को पार करते हुए सारे देश का चक्कर लगाते रहते थे; इन लोगों को श्रेष्ठिन् कहते थे। अब सम्पदा भूमि के विस्तार और पशुओं के मंदगामी पैरों की सीमा से बाहर निकल चुकी थी और उसने मुद्रा का रूप धारण लिया था, जो अधिक गतिशील थी और जिसे आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाया जा सकता था। बौद्ध तथा जैन साहित्य में, जो हमारी जानकारी का मुख्य स्रोत है, हमें बार-बार कहापन (कार्षापन) नामक तांबे के एक सिक्के का उल्लेख मिलता है; इसी साहित्य ने व्यापारियों और महाजनों को अपना मुख्य नायक बनाया। अनेक स्थानों पर हमें क्षत्रियों का उल्लेख मिलता है जिन्हें अपने कुलीन होने पर बड़ा गर्व था, पर उनके साथ ही हमें अनाथपिंडिक जैसे लोगों की आकृति भी दिखायी देती है, और यह आकृति अब बहुत उभरकर हमारे सामने आती है, जिनके पास इतना धन था कि वे भूमि के एक टुकड़े पर धनराशि बिछाकर उसे खरीदलें; जेत नामक राजकुमार ने भूमि के एक टुकड़े का यही मूल्य माँगा था। भूमि के इसी टुकड़े पर प्रख्यात जेतवन मठ का निर्माण किया गया जहाँ अनेक बार महात्मा बुद्ध ने शांतिपूर्वक विश्राम के दिन बिताये। इन पुस्तकों के पृष्ठों में हम व्यापारियों को अपने लम्बे-लम्बे काफ़िलों के साथ मुनाफे की खोज में जंगलों और रेगिस्तानों को पार करते हुए देखते हैं। हमें इन पुस्तकों में इस बात का उल्लेख मिलता है कि कारीगरों और शिल्पकारों की श्रेणियों को बहुत प्रमुखता प्राप्त हुई और उनके हाथ में बहुत शक्ति आ गयी, जिसके कारण वैश्यों को, जिन्हें किसी ज़माने में बड़ी तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता था, अब सम्मान का पात्र समझा जाने लगा और उनकी ओर ध्यान दिया जाने लगा। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि धन पर आधारित विकासोन्मुख अर्थतंत्र ने जिस नये वर्ग को

जन्म दिया था उसी ने बौद्ध तथा जैन मतों को हाथ खोलकर सहायता प्रदान की क्योंकि इन दोनों धर्मों में इस बात को बहुत ही कम महत्त्व दिया जाता था कि मनुष्य का जन्म किस कुल में हुआ है; मनुष्य का मूल्य उसके विचारों और कर्मों के अनुसार आँका जाता था। इन ग्रंथों में हमें स्पष्ट शब्दों में बताया गया है कि वीरता के युग के आदिम सामंतवाद के स्थान पर वाणिज्यवाद की स्थापना हो रही थी और यह क्रांति, जिसकी ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया था, नया सामाजिक दृष्टिकोण रखनेवाले एक नये समाज को जन्म देने जा रही थी।

राजनीतिक जीवन में भी हमें ऐसा ही और इतना ही महत्त्वपूर्ण परिवर्तन दिखायी देता है। जिस तरह आर्थिक जीवन के क्षेत्र में व्यापारियों और महाजनों को सबसे प्रमुख स्थान प्राप्त हो गया था उसी प्रकार राज्य-संगठन में हम राजतांत्रिक राज्य की स्थापना की प्रवृत्ति पाते हैं जिसमें छोटे-बड़े अधिकारियों की एक क्रमिक व्यवस्था थी और जिसके पास बड़ी-बड़ी सेनाएँ थीं। बौद्ध ग्रंथों में अनेक जातियों तथा राज्यों का उल्लेख मिलता है; कुल मिलाकर इनकी संख्या सोलह थी जो घटते-घटते चार रह गयी और बाद में ये सब राज्य एक होकर मगध के नवजात साम्राज्य में विलीन हो गये। इन राज्यों की जो सबसे पुरानी नामावलियाँ हैं उनमें इन नामों का उल्लेख है: अंग, मगध, कासि और कोसल, वजि और मल्ल, चेति और वंस, कुरु और पँचाल, मच्छ और सुरसेन, अस्सक और अवंति, गांधार और कम्बोज, कलिंग, सोविर और विदेह। राजनीति के रंगमंच पर बड़ी तेज़ी से परिवर्तन हो रहे थे; कोसल ने कासि पर अधिकार कर लिया, अस्सक का विलय अवंति में हो गया और अंग मगध का एक भाग बन गया। राजतंत्र को शासन-पद्धति का मानदंड माना जाने लगा; परंतु इसके साथ ही कुछ अत्यंत सजग गणतांत्रिक जातियाँ भी थीं जैसे लिच्छवि, मल्ल और शाक्य; इसी शाक्य जाति में गौतम बुद्ध का जन्म हुआ था।

इन राज्यों में से चार सबसे प्रमुख हैं: मगध, कोसल, वत्स और अवंति। महात्मा बुद्ध का मित्र और उपासक बिम्बिसार अपनी राजधानी राजगढ़ से मगध पर शासन करता था। वह बहुत योग्य शासक था और उसने ५२ वर्ष तक राज्य किया। मगध के राज्य में लगभग वही इलाक़ा शामिल था जो आज दक्षिणी बिहार के पटना और गया जिलों में है। दुर्भाग्यवश बिम्बिसार की मृत्यु अत्यंत दयनीय परिस्थिति में हुई; स्वयं उसके बेटे अजातशत्रु ने यातनाएँ दे-देकर उसे मार डाला और उसकी पत्नी, जो कोसल के राजा पसेनदि की बहन थी, अपने पति के शोक में मर गयी। अपनी बहन की मृत्यु के बाद पसेनदि ने कासि नामक गाँव पर, जो उसने अपनी बहन को दहेज में दिया था, फिर अधिकार कर लिया। इस बात पर अजातशत्रु से लड़ाई छिड़ गयी, जिसमें मगध का उद्दंड शासक बंदी बना लिया गया पर बाद में उसे छोड़ दिया गया। अजातशत्रु ने वैशाली के लिच्छवियों के विरुद्ध भी युद्ध किया और उन्हें नष्ट कर दिया; उसी के शासनकाल में पाटलिपुत्र की नींव डाली गयी जहाँ बाद में चलकर मगध राज्य की राजधानी की.स्थापना हुई।

कोसल का राजा अग्निदत्त अर्थात् पसेनदि अधिक भला आदमी था। उसने तक्षशिला में शिक्षा पायी थी, जो उन दिनों विद्योपार्जन का सबसे प्रख्यात केंद्र था। वह अत्यंत परिश्रमी

शासक था, बुद्ध का अनुयायी था और शास्त्रार्थ में बहुत निपुण था। उसकी इच्छा थी कि शाक्य जाति की किसी कन्या से विवाह करे पर धोखा देकर उसका विवाह एक सुन्दर दासी के साथ करा दिया गया। उसके पुत्र विडूडभ ने बुद्ध के अहंकारी जातिवालों को तलवार के घाट उतारकर इस अपमान का बदला लिया।

वासवदत्ता की कहानी में वत्स के राजा उदयन और अवंति के राजा प्रद्योत के व्यक्तित्व पर बहुत प्रकाश डाला गया है। प्रद्योत, जिसे चण्ड भी कहते थे, एक मंत्र का रहस्य जानना चाहता था जो उदयन को मालूम था। इस उद्देश्य से उदयन को बंदी बनाकर कारागार में डाल दिया गया। जिसने उसे बंदी बनाया था उसे मंत्र का रहस्य बताकर उदयन अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर सकता था। उदयन यह रहस्य बताने को तैयार था पर ऐसे नीच राजा को नहीं जो अपने बराबर पदवाले वत्सों के राजा को जेल में डालकर रंगरेलियाँ मना सकता था। इसलिए प्रद्योत ने अपनी बेटी से उदयन की शिष्या बन जाने के लिए कहा; वह उदयन के रसिक स्वभाव से परिचित था इसलिए उसने अपनी बेटी से यह बहाना कर दिया कि उसका शिक्षक कोढ़ी है। इसी प्रकार उसने उदयन से कह दिया कि उसकी शिष्या कुबड़ी है इसलिए (जिस समय उदयन उसे मंत्र का रहस्य बतायेगा) वह परदे के पीछे बैठेगी। प्रद्योत ने सोचा कि यह सावधानी बरतना आवश्यक है क्योंकि वासवदत्ता अनन्य सुन्दरी है और यदि उसे रूपवान् उदयन के सम्पर्क में आने दिया गया तो वह उसके प्रेम में फँस जायेगी, इसलिए शिक्षक और शिष्या को एक परदे के द्वारा एक-दूसरे से पूरी तरह अलग रखकर शिक्षा का कार्य आरंभ किया गया। परंतु हुआ यह कि उदयन वासवदत्ता को याद कराने के लिए जो मंत्र पढ़ रहा था उसके कुछ शब्दों का उच्चारण वासवदत्ता ने ग़लत किया। इस पर क्रुध होकर उदयन ने कहा: "तू कुबड़ी ही नहीं बल्कि मंदबुद्धि भी है। मैं समझता हूँ कि तेरे होंठ इतने मोटे और तेरे गाल इतने भरे हुए हैं कि तू इसका उच्चारण भी ठीक से नहीं कर सकती। मेरा जी चाहता है कि तुझे दंड दूँ। इस तरह कह!" परन्तु उतने ही क्रोध में वासवदत्ता ने उत्तर दिया: "नीच कोढ़ी! तूने मुझे कुबड़ी कहने का साहस कैसे किया।" इस पर विस्मित होकर उदयन ने परदा उठा दिया और देखा कि उसके सामने एक रूपवती सुकुमारी बाला खड़ी है। एक-दूसरे के प्रति उनका क्रोध प्रेम में बदल गया और दोनों घोड़े पर सवार होकर भाग निकले। संतरियों ने उनके पीछे घोड़े दौड़ा दिये पर उनके रास्ते में चाँदी के सिक्के फेंककर वे दोनों बचकर निकल गये।

जिस समय मगध और उसके आस-पास के राज्यों के राजा और सामंत युद्ध और विजय में, वैवाहिक संबंध स्थापित करने और दूसरे राज्यों पर अधिकार करने में लगे हुए थे उसी समय उत्तर-पश्चिम में एक बिल्कुल ही दूसरे प्रकार का परिवर्तन हो रहा था। पंजाब में परस्पर विरोधी जातियों और राज्यों की संख्या इतनी अधिक थी कि किसी भी विदेशी आक्रमणकर्ता को इस देश पर आक्रमण करने और उस पर विजय प्राप्त करने का लोभ हो सकता था। ईरान धीरे-धीरे एक साम्राज्यधारी शक्ति बनता जा रहा था; साइरस के शासनकाल में (५५८ से ५३० ई. पू. तक) ईरानी भारत पर आक्रमण करने का एक असफल प्रयत्न

कर चुके थे। परन्तु साइरस की सेनाओं ने कापिश नामक नगर (काबुल के उत्तर में) को तबाह कर दिया। डैरियस प्रथम के शासनकाल में (५२२ से ४८६ ई. पू. तक) सिंधु घाटी को ईरानी साम्राज्य में मिला लिया गया। इसे सबसे समृद्ध और सबसे घनी आबाद क्षत्रपी माना जाता था, जो राज-कर के रूप में ३६० टैलेन्ट स्वर्ण-रज देती थी ज़िसका मूल्य लगभग ३० लाख पौंड के बराबर होगा। भारत में ईरानियों का राज्य हेरात और कन्धार से लेकर उत्तर-पश्चिमी पंजाब में फैला हुआ था, सिंध का पूरा इलाक़ा और सिंधु नदी के पूरब की ओर बपंजा का बहुत काफ़ी भाग इस राज्य में शामिल था। भारत में ईरानियों का शासन ज़रक़्सिस के शासनकाल तक (४८६ से ४६५ ई. पू. तक) जारी रहा और जब यूनानियों ने ईरान पर विजय प्राप्त कर ली तब जाकर इस शासन का अन्त हुआ। भारत में दो शताब्दियों तक ईरानियों के शासन का महत्त्व राजनीतिक दृष्टि से यद्यपि बहुत कम है पर सांस्कृतिक दृष्टि से इसका महत्त्व बहुत अधिक है। इस ज़माने में भारत और ईरान के बीच व्यापार ने बहुत ज़ोर पकड़ा और भारत में खरोष्ठी लिपि का प्रचलन, जो आरामाई लिपि की एक शाखा थी और दाहिनी ओर से बाँयी ओर को लिखी जाती थी, इसी ईरानी प्रभाव का एक दूसरा पहलू था। मौर्य राज-दरबार पर बहुत गहरा ईरानी प्रभाव था जिसके कुछ चिन्ह उस युग की कला में प्रतिबिंबित होते हैं। पर यह बाद के युग की बात है।

भारत में मध्यवर्ती भाग में विंध्याचल पर्वत से उत्तर की ओर मगध साम्राज्य के भाग्य का सितारा दिन प्रतिदिन ऊँचा होता जा रहा था, साम्राज्य उत्तरोत्तर उन्नति कर रहा था और उसकी शक्ति दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। साम्राज्य को विस्तृत बनाने की वह प्रवृत्ति जो अंग राज्य पर आधिपत्य से आरंभ हुई थी, दो शताब्दी बाद मौर्य राज्य के उदय के रूप में सामने आयी। ऐतिहासिक घटनाओं का क्रम बड़ी तीव्र गति से चल रहा था। अजातशत्रु के चार पीढ़ियों बाद मगध पर शिशुनाग नामक एक नया राजवंश राज करने लगा। शिशुनाग का पिता एक लिच्छवि राजा और माता एक नर्तकी थी; वह अत्यंत शूरवीर योद्धा था और उसने अवंति की राज्यसत्ता को चूर-चूर कर दिया। इस काल को इतिहास के बहुत बड़े भाग के बारे में अभी तक कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। नंद-वंश के संस्थापक महापद्म के बाद से कुछ प्रकाश पड़ने लगता है। पुराणों में बड़े तिरस्कार से महापद्म को नीच कुल का बताया गया है। पुराणों में लिखा है कि वह ज़ात का नाई था और उसने अपने रूप से शिशु-नाग वंश के अंतिम राजा की रानी का हृदय अपने वश में कर लिया और कपट से राजा की हत्या करवा दी। उसके बारे में यह भी कहा गया है कि उसने क्षत्रियों का नाश किया; उसे एक अत्यंत शक्तिशाली राजा बताया गया है जिसके सामने इक्ष्वाकु, पंचाल, काशि, हैहय, अश्मक, कुरु और अन्य सभी राज्यों को नीचा देखना पड़ा। यूनानी स्रोतों से हमें यह भी पता लगता है कि नंदवंश के इन राजाओं के पास स्थायी रूप से बहुत बड़ी-बड़ी पैदल तथा घुड़सवार सेनाएँ रहती थीं जिनमें हर एक में २०-२० हज़ार सिपाही होते थे; इसके अति-रिक्त उनकी सेना में २,००० रथ और ३,००० हाथी भी थे। नंद राज्य कलिंग में और कदाचित् दकन के बहुत बड़े भाग पर फैला हुआ था और इस वंश के राजाओं के पास विपुल

संपत्ति थी। इस प्रकार धीरे-धीरे कई मंज़िलें तै करता हुआ मगध राज्य अंग, काशि, कोशल, विदेह, अवंति, कलिंग और दकन तक फैल गया। तीसरी शताब्दी ई. पू. में जिस समय पाटलिपुत्र में धननंद नामक एक लोभी राजा राज्य करता था, परिस्थिति यह थी और उसी समय सिकंदर की सेनाएँ पंजाब में टूट पड़ीं।

३२६ ई. पू. में मक़दूनिया के प्रतापी राजा सिकंदर ने हिंदुकुश की चोटियों के पार भारतीय क्षितिज पर दृष्टिपात किया। उसका उद्देश्य कोई छुट-पुट आक्रमण करने का नहीं था। उसने ईरानी साम्राज्य की नींव हिला दी थी और उसके सामने पंजाब में कई परस्पर-विरोधी राज्य फैले हुए थे; किसी भी कुशल और चतुर विजेता के लिए यह बहुत आसान शिकार था। भारत का सीमांत प्रदेश अत्यंत भयावह था और वहाँ जंगली बर्बर जातियाँ रहती थीं। पर युद्ध और कठोर सैन्य-संचालन द्वारा सिकंदर ने अपनी सैनिक चौकियों तथा रिसालों को बहुत मज़बूत कर लिया। दिसम्बर ३२७ और जनवरी ३२६ ई. पू. के बीच किसी समय यूनानी सेना खैबर दर्रे को पार करके सिंधु नदी की ओर बढ़ी। इससे कुछ ही समय पहले तक्षशिला के बूढ़े राजा और उसके पुत्र अम्भि ने सिकंदर को सहायता देने का वचन दिया था। अपने प्रतिद्वंद्वी पौरव के भय के कारण ही, जिसका राज्य झेलम और रावी नदी के बीच फैला हुआ था, उन्होंने ऐसा किया था। जल्दी-जल्दी एक पुल बनाकर सिकंदर की सेनाएँ सिंधु नदी को पार कर गयीं। उसकी सेना में कोई ३०,००० सिपाही थे; उनमें मक़दूनिया के पैदल और घुड़सवार सिपाहियों के अतिरिक्त ईरान, हिंदुकुश और मध्य एशिया के घुड़सवार भी थे। इस सेना के दो दल थे और बड़ी तेज़ी और चतुराई से सैन्य-संचालन के लिए वह घोड़ों को इस्तेमाल करने में बहुत निपुण थी। एक दल का नेतृत्व हेफ़ैस्टियन और पेर्डिकास के हाथ में था; यह दल काबुल नदी के दक्षिणी तट के किनारे-किनारे चलता हुआ खैबर दर्रे को पार करके पेशावर के मैदान में पहुँचा जहाँ उसने पुष्कलावती के भारतीय राजा अष्टकराज को पराजित किया; अष्टकराज बहुत वीरता से लड़ता हुआ मारा गया। दूसरे दल का नेतृत्व स्वयं सिकंदर कर रहा था; यह दल पहाड़ों के लोगों के खिलाफ़ लड़ा। ३२६ ई. पू. की वसंत ऋतु में अम्भि ने हथियार डाल दिये। जिस समय सिकंदर अपने दरबार में पूरी तड़क-भड़क से बैठा पराजित और भयभीत लोगों से उपहार स्वीकार कर रहा था उसी समय उसने पुरु द्वारा उसके विरोध का संदेश भी सुना।

सिकंदर ने यह चुनौती स्वीकार कर ली और बहुत कठिनाइयों का सामना करके झेलम नदी को पार किया। झेलम के पार राजा पुरु ३०,००० पैदलों, ४०,००० घुड़सवारों, ३०० रथों और २०० हाथियों की शक्तिशाली सेना लिए यूनानी आक्रमणकर्ता की प्रतीक्षा कर रहे थे; यह सेना देखने में तो बहुत शक्तिशाली मालूम होती थी पर आखिर को लड़ाई में इसे सँभालना कठिन हो गया। लड़ाई से फ़ौरन पहले वर्षा हो गयी और ज़मीन रपटीली हो गयी। यूनानियों ने बड़ी निपुणता के साथ अपनी घुड़सवार सेना का लाभ उठाते हुए भारतीय सेना पर आक्रमण किया और भारतीय सेना में बौखलाहट मच गयी। इस बौखलाहट के कारण भारतीय सेना लस्टम-पस्टम भागने लगी और यूनानी सेना ने भारतीय सेना की

छावनी को घेर लिया। हाथी, जिसकी बड़ी प्रशंसा की जाती थी, एक बोझ बन गया और फलस्वरूप काफ़ी लोग तलवार के घाट उतार दिये गये। पुरु स्वयं बुरी तरह घायल हुआ और बंदी बना लिया गया, पर मक़दूनिया के विजेता ने उसका उचित आदर तथा सम्मान किया। सिकंदर ने बहुत बड़ी विजय प्राप्त कर ली थी और वह आगे बढ़ने की योजनाएँ बना रहा था। पर जो इलाक़े उसने जीते थे उनमें विद्रोह फैल गया और उसकी सेना के सिपाही घर वापस लौटने का आग्रह करने लगे। सिकंदर ने लड़ाइयाँ तो जीती थीं पर वह लोगों के हृदयों पर विजय नहीं प्राप्त कर सका था; बड़े उदास मन से यूनानी सेना अपने देश की ओर वापस लौटी। यह ३२५ ई. पू. की बात है। एक वर्ष बाद यह महान यूनानी सेनानायक यूनान के रास्ते ही में मर गया।

सिकंदर आया और चला गया। उसके विजय-अभियान के इतिहास के बारे में इतिहासकारों ने बड़े विस्तार के साथ लिखा है, और यह उचित भी है। पर भारत के इतिहास में उसके आक्रमण का क्या महत्त्व है? राजनीतिक दृष्टि से यह उस तूफ़ान के समान था जो बड़े-बड़े पेडों को उखाड़ डालता है और जब गुज़र जाता है तो बहुत तबाही अपने पीछे छोड़ जाता है। यह एक आश्चर्यजनक सैनिक अभियान था जिसके दौरान में कई लड़ाइयाँ जीती गयीं पर वस्तुतः बहुत ही थोड़ी भूमि पर विजय प्राप्त की जा सकी। इस अभियान के दौरान में अम्भि और पुरु जैसे राजाओं के व्यवहार में भारतीय विश्वासघात और भारतीय वीरता तथा एकता दोनों ही के नमूने देखने में आये। परंतु परोक्ष रूप से इसके अनेक परिणाम हुए। इस आक्रमण के फलस्वरूप उत्तर-पश्चिमी भारत में कई यूनानी बस्तियाँ बस गयीं जिससे यूनान और भारत के बीच सांस्कृतिक सम्पर्कों और सांस्कृतिक आदान-प्रदान को बड़ा प्रोत्साहन मिला। सिकंदर के आक्रमण ने पंजाब के विभिन्न छोटे-बड़े राज्यों को नष्ट कर दिया और इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से एक ऐसा शून्य उत्पन्न हुआ जिसे बाद में चलकर चंद्रगुप्त मौर्य की सत्ता ने भर दिया।

— ५ —

## साम्राज्य की स्थापना

जिस समय झेलम नदी के किनारे पुरु और सिकंदर की सेनाएँ एक-दूसरे के सामने डटी हुई थीं, उसी समय वहाँ से बहुत दूर पाटलिपुत्र में नंदवंश का अंतिम राजा धननंद राज्य कर रहा था। उसके राजकोष में अकूत धन भरा पड़ा था और उसकी सेना अत्यंत शक्तिशाली थी, पर नीच कुल में जन्म लेने के कारण और उसकी कंजूसी की आदतों के कारण लोग उससे घृणा करते थे। सिकंदर के विजय-अभियान की घनगरज से भी उसके कान पर जूँ तक न रेंगी और वह अपने कोषालय में बैठा अपनी संपत्ति का हिसाब लगाता रहा और इससे भी अधिक धन बटोरने के स्वप्न देखता रहा। परंतु मौर्यवंशी चंद्रगुप्त की दशा इससे बिल्कुल भिन्न थी। चंद्रगुप्त का जन्म अपने पिता की मृत्यु के बाद हुआ था और उसे वनवासियों ने पाला था। वह मक़दूनिया की सेना के विजय-अभियान को चुपचाप देखता रहा। उसके साथ परामर्शदाता के रूप में विष्णुगुप्त नामक एक ब्राह्मण था जिसके हृदय में प्रतिशोध की ज्वाला धधक रही थी। योद्धाओं और पंजाब के नगरवासियों के बीच घूम-फिरकर इस ब्राह्मण और उसके प्रतिपाल्य दोनों ने यूनानी आक्रमण के महत्त्व का अध्ययन किया और उचित समय की प्रतीक्षा करने लगे।

विष्णुगुप्त, जिसे चाणक्य या कौटिल्य भी कहते हैं, तक्षशिला का एक विद्वान् ब्राह्मण था। अपनी विद्वत्ता का श्रेय प्राप्त करने के लिए वह पाटलिपुत्र गया था जहाँ नंदवंश के राजा ने उसका अपमान किया था। प्रतिशोध की शपथ लेकर वह राजधानी से चला आया। रास्ते के एक जंगल में उसने बालक चंद्रगुप्त को खेलता हुआ पाया। इस किशोर बालक में प्रतिभा के चिन्ह देखकर चाणक्य चद्रगुप्त को अपने साथ लेता गया और उसे रण-कौशल तथा शासन-कला की शिक्षा दी। बाद में एक सेना का संगठन किया गया और चंद्रगुप्त ने वह अभियान आरंभ किया जिसके फलस्वरूप उसे मगध का राजसिंहासन प्राप्त हुआ। ऐसा पता चलता है कि अपने प्रथम प्रयास में वह सफल नहीं हुआ और उसे विवश होकर पीछे हटना पड़ा। अपनी सेनाओं को दुबारा संगठित करके उसने पहले सीमावर्तीराज्यों पर अधिकार किया और फिर राजधानी की ओर बढ़ चला। चंद्रगुप्त की सेनाएँ पाटलिपुत्र के फाटकों पर टूट पड़ीं और दनदनाती हुई नगर की सड़कों पर जा पहुँची; घनानंद को तलवार के घाट उतार दिया गया। दुष्ट नंद की मृत्यु पर जनता ने बड़ा उत्सव मनाया और चाणक्य को इस बात की खुशी थी कि उसकी अभिलाषा पूरी हुई और इस बात की भी कि नियति ने उसके प्रतिपाल्य को राजमुकुट का अधिकारी चुना था।

घनानंद के मारे जाने के बाद ३२२ ई. पू. में एक नये राजवंश, मौर्यवंश, की स्थापना हुई।

इसके बाद कुछ वर्षों तक चंद्रगुप्त पूर्व तथा पश्चिम में अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने में लगा रहा। मक़दूनिया के राजा फ़िलिप के एक प्रमुख सेनापति सेल्यूकस निकेटर ने ३०४ ई. पू. में जब सिकंदर के पद-चिह्नों पर चलने का प्रयत्न किया तो चंद्रगुप्त के शासन के लिए एक संकट उत्पन्न हो गया। उसने सिंधु नदी को पार किया और उसे आशा थी कि वह पूरे भारत को विजय करता हुआ आगे बढ़ता जायेगा। पर वह इस बात को भूल गया था कि उसे चंद्रगुप्त का मुक़ाबला करना पड़ेगा। मौर्य सेनाएँ तेज़ी से उत्तर की ओर बढ़ीं और उनके हाथों आक्रमणकारियों की करारी हार हुई। फलस्वरूप मित्रता की एक संधि हुई जिसमें सेल्यूकस ने लड़ाई में काम आने योग्य पाँच सौ हाथियों के उपहार के बदले अर्कोसिया (कंधार), परोपानिसादे (काबुल), असिया (हेरात) और गेद्रोसिया (बलूचिस्तान) नामक चार समृद्ध तथा विस्तृत क्षत्रपियों के कुछ भाग चंद्रगुप्त को दे दिये। सेल्यूकस की बेटी के साथ चंद्रगुप्त के विवाह से यह मित्रता और भी पक्की हो गयी। मौर्यों की राजधानी पाटलिपुत्र के दरबार में यूनानी राजदूत मेगास्थनीज़ के आने से इन दो राज्यों के बीच मित्रता के संबंध और भी दृढ़ हो गये।

इतिहास की दृष्टि से चंद्रगुप्त को भारत का पहला सम्राट् ठीक ही कहा गया है। अपनी समृद्धिशाली और घनी बसी हुई राजधानी से वह एक सुविस्तृत राज्य पर शासन करता था जो उत्तर-पश्चिम में काबुल से लेकर दक्षिण में मैसूर तक और पश्चिम में सौराष्ट्र से लेकर पूरब में बंगाल और आसाम तक फैला हुआ था; लगभग पूरा भारत उसके राज्य में शामिल था। भारत के इतिहास में पहली बार एक ऐसी सत्ता की स्थापना हुई जिसकी शक्ति पूरे देश में अनुभव की जाती थी और जिसने अनेक छोटे-छोटे राज्यों को मिलाकर एक राजतांत्रिक राज्य का रूप दे दिया। विंध्याचल पर्वत अब उत्तर और दक्षिण को एक-दूसरे से अलग करने-वाली सीमा रेखा नहीं रह गया बल्कि एक महान यात्रा की राह में केवल एक मंज़िल बन गया।

इस विस्तृत राज्य के प्रशासन के संबंध में राजनीति की अनेक जटिल समस्याएँ उठ खड़ी हुईं, पर चंद्रगुप्त ने इन सब समस्याओं का साहस के साथ मुक़ाबला किया और अपने मित्र, परामर्शदाता और मार्गदर्शक चाणक्य की सहायता से इन्हें बड़ी बुद्धिमत्ता से हल किया। संभवतः चाणक्य निरंतर उसका मंत्री रहा। चाणक्य राजनीति की प्रख्यात पुस्तक अर्थशास्त्र का सुप्रसिद्ध लेखक है। समस्या यह थी कि संचार के इतने मंदगामी साधनों के द्वारा इतने विस्तृत राज्य का शासन कैसे चलाया जाये; पर मौर्य प्रशासन में राजसत्ता का संतुलन अत्यंत सुचारु रूप से स्थापित किया गया था, जिसमें एक ओर तो सत्ता का अधिकतम केंद्रीकरण था और इसके साथ ही दूसरी ओर राज्य की शासन-व्यवस्था के निचले स्तरों में अधिकारों का अधिकतम विकेंद्रीकरण भी था। राज्य को कई प्रांतों में बाँट दिया गया था जिनका शासन राजा के नियुक्त किये हुए प्रतिनिधियों के हाथ में था; ये लोग अधिकांशतः राज्य-परिार केव राजकुमार होते थे। प्रांतों को फिर ज़िलों में बाँट दिया गया था और प्रशासन की सबसे छोटी इकाई युगों पुराना वह भारतीय गाँव था जिसका सर्वेसर्वा गाँव का मुखिया होता था; वह सम्राट् की तरफ़ से राजस्व वसूल करता था और शांति तथा व्यवस्था क़ायम रखता था। एक ओर सम्राट् तथा उसके पदाधिकारियों के बीच और दूसरी ओर सम्राट् तथा जनता के बीच

निकट सम्पर्क बनाये रखने के लिए मौर्य राज्य ने संवाददाताओं, जासूसों और गुप्तचरों का व्यापक रूप से प्रयोग किया; ये लोग पूरे साम्राज्य में काम करते थे, अधिकारियों पर कड़ी नज़र रखते थे और सम्राट् को हर बात की सूचना देते रहते थे।

मेगास्थनीज़ ने चन्द्रगुप्त के वैयक्तिक जीवन का अत्यंत सुंदर विवरण दिया है। सम्राट् अपना अधिकांश समय अपने विस्तृत राज्य के प्रशासन की देखभाल में व्यतीत करता था। वह दिन में शायद ही कभी सोता था। सर्वोच्च न्यायाधीश की हैसियत से वह दिन भर लगातार राज-दरबार में विवादों का निर्णय करता था। राजमहल के द्वार सबके लिए खुले हुए थे और राजा अपनी प्रजा के हित के सभी विषयों के बारे में पूरी जानकारी रखता था।

चूँकि चंद्रगुप्त ने स्वयं हिंसा के बल पर सत्ता प्राप्त की थी इसलिए वह षड़यंत्रों से डरता था और सम्राट् की अंगरक्षा के प्रति बहुत सतर्कता बरती जाती थी। सम्राट् के अंग-रक्षकों के रूप में स्त्रियों की नियुक्ति राज-दरबार के जीवन की एक प्रमुख विशिष्टता थी और संस्कृत पुस्तकों के विवरण के अनुसार राजा किसी शयनकक्ष में दुबारा नहीं सोता था। सम्राट् जब सार्वजनिक रूप से दर्शन देता था तो उस समय बड़ी धूम-धाम का समारोह मनाया जाता था। न्यायालय को जाते समय, शिकार के लिए जाते समय और "केश-प्रक्षालन" संस्कार के अवसर पर पूरे राजोचित वैभव के साथ सम्राट् की सवारी निकलती थी। मेगास्थनीज़ ने लिखा है : "सम्राट् जब आखेट के लिए जाता है तो उसकी अंग-रक्षा का भार स्त्रियों को सौंपा जाता है; वह मदिरा के यूनानी देवता के जुलूस की तरह चारों ओर स्त्रियों से घिरा हुआ निकलता है...कुछ औरतें रथों पर होती हैं, कुछ घोड़ों पर सवार होती हैं और कुछ हाथियों पर; वे पूरी तरह सशस्त्र होती हैं मानों युद्ध के लिए जा रही हों।" जब राजा शिकार पर जाता है तो "रास्ते के दोनों तरफ़ रस्सियाँ खींच दी जाती हैं और यदि इन रस्सियों को पार करके कोई औरतों के बीच में जाता है तो उसे मृत्युदंड दिया जाता है; आगे आगे कुछ लोग ढोल और घंटा बजाते हुए चलते हैं। आखेट-स्थल में पहुँचकर राजा एक ऊँचे स्थान पर खड़ होकर कमान से तीर चलाता है; दो या तीन सशस्त्र स्त्रियाँ उसके पास खड़ी रहती हैं। यदि आखेट-स्थल चारों ओर घिरा हुआ नहीं होता तो वह हाथी पर बैठकर शिकार खेलता है।" सम्राट् एक भव्य राजप्रासाद में रहता था जिसके खंभों पर सोने का पानी चढ़ा हुआ था और जिसके चारों ओर बहुत विस्तृत उद्यान था।

राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र गंगा और सोन के संगम पर बनायी गयी थी और इसकी निर्माण-योजना आयताकार थी। इसकी लम्बाई ९½ मील और चौड़ाई १ मील थी; राजधानी के चारों ओर एक बहुत बड़ी दीवार थी जिसकी सुरक्षा के लिए चारों ओर एक खाई खुदी हुई थी। इस दीवार में ६४ फाटक और ५७० बुर्जियाँ थीं। यद्यपि यह दीवार कच्ची ईंटों और लकड़ी की बनी हुई थी फिर भी यह संसार की सबसे सुदृढ़ प्राचीरों में से थी। राजप्रासाद निःसंदेह नगर की सबसे भव्य इमारत थी जिसमें अनेक चमत्कारपूर्ण चीजें भरी पड़ी थीं; "मेमनान राजाओं के सूज़ा नगर का सम्पूर्ण वैभव और एकबटाना की भव्यता भी इस नगर से मुक़ाबला नहीं कर सकती थी; हाँ, ईरानी अपने अहंकार में इस तुलना की कल्पना भर कर सकते

थे।" बिहार में पटना के निकट इस राजधानी के स्थल पर जो खुदाई हुई है, जहाँ से राज-प्रासाद के भग्नावशेष मिले हैं, उससे इन वृत्तांतों की कई बातों की पुष्टि होती है। सम्राट् के सभा-भवन के जो भग्नावशेष मिले हैं उनसे पता चलता है कि इसकी निर्माण-योजना पर ईरानी शैली का प्रभाव था। इससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि भारतीय जीवन में दूसरे देशों के सांस्कृतिक प्रभाव की छाप किस प्रकार पड़ रही थी। महिला अंग-रक्षकों, केश-प्रक्षालन संस्कार, और इमारतों की बनावट सभी में ईरानी प्रभाव की गहरी छाप दिखायी देती है।

अपने समय के इस विशालतम नगर का प्रशासन ३० प्रतिष्ठित व्यक्तियों के हाथ में था जो छः समितियों में काम करते थे; हर समिति के पाँच-पाँच सदस्य होते थे। पहली समिति औद्योगिक कलाओं से संबंधित हर बात की देखभाल करती थी। दूसरी समिति विदेशियों की सुविधा का ध्यान रखती थी। यह बात कि इस काम के लिए एक विशेष समिति की स्थापना की आवश्यकता हुई, इस की द्योतक है कि नगर में बहुत बड़ी संख्या में विदेशी रहते थे, जो वहाँ किसी काम से या आमोद-प्रमोद के लिए आते थे। मेगास्थनीज़ लिखता है : "इन लोगों को वे रहने के लिए घर देते हैं और जो लोग उनकी सहायता के लिए रखे जाते हैं वे इन विदेशियों के रहन-सहन के ढंग पर कड़ी नज़र रखते हैं। जब ये विदेशी देश छोड़कर जाने लगते हैं तो उनकी सुरक्षा के लिए कुछ लोग उनके साथ कर दिये जाते हैं और यदि वे मर जाते हैं तो उनकी संपत्ति उनके सगे-संबंधियों के पास भेज दी जाती है। बीमारी की दशा में उनकी देखभाल की जाती है और मर जाने पर उन्हें दफ़न कर दिया जाता है।" तीसरी समिति का काम उपयोगी आँकड़े जमा करना था, "केवल कर वसूल करने के उद्देश्य से नहीं बल्कि इस उद्देश्य से भी कि उच्च तथा नीच सभी वर्गों में हर नये बच्चे के जन्म और हर व्यक्ति की मृत्यु की सूचना सरकार को रहे।" चौथी समिति के सिपुर्द व्यापार तथा वाणिज्य का काम था और "उसके सदस्य माप-तोल के मानदंड निर्धारित करते हैं और इस बात का ध्यान रखते हैं कि सभी वस्तुएँ उचित समय पर सार्वजनिक सूचना द्वारा बेची जायें। दोहरा कर दिये बिना किसी भी व्यक्ति को एक से अधिक प्रकार का माल बेचने की इजाज़त नहीं है।" पांचवीं समिति "पण्य की निगरानी रखती है, जिसे सार्वजनिक सूचना द्वारा बेचा जाता है। नयी और पुरानी चीज़ों को अलग-अलग बेचा जाता है और इन्हें मिलाकर बेचने-वाले को दंड दिया जाता है।" छठी समिति बिक्री-कर वसूल करने का काम करती थी जो बेचे गये माल के मूल्य के दसवें भाग के बराबर होता था और "जो व्यक्ति वह कर देने में धोखा करता है उसे मृत्युदंड दिया जाता है।" आगे चलकर मेगास्थनीज़ लिखता है : "ये समितियाँ अलग-अलग इन दायित्वों को पूरा करती हैं। सामूहिक रूप से वे अपने-अपने विभाग का काम सँभालने के साथ ही वे उन सभी विषयों की देखभाल भी करते हैं जो सबके हित में हों, जैसे—सार्वजनिक इमारतों की मरम्मत, मूल्यों का नियमन, बाज़ारों, बन्दरगाहों और मन्दिरों की देखभाल।

मौर्य राज्य की शासन-व्यवस्था प्रशिक्षित राज-चर्मकारियों के एक अत्यन्त जटिल संगठन द्वारा चलायी जाती थी। इस राज्य की एक विशिष्टता यह थी कि उसके पास एक स्थायी

सेना थी जिसमें ६ लाख से अधिक सैनिक थे जिन्हें नियमित रूप से वेतन मिलता था। सेना का प्रशासन ६ समितियों के हाथ में था जिनके कुल सदस्यों की संख्या प्रति समिति ५ सदस्य के हिसाब से ३० थी। इन ६ समितियों में नौ-सेना, पैदल सेना, घुड़सवार सेना, युद्ध रथों, हाथियों, परिवहन, रसद, फ़ौज़ी भरती और सेना की आवश्यकता की वस्तुएँ उपलब्ध करने के लिए अलग-अलग विभाग थे। निअर्कस ने लिखा है कि "पैदल सिपाहियों के पास एक धनुष होता है जो लम्बाई में धनुर्धारी के बराबर ही होता था। इसके एक सिरे को भूमि पर टिकाकर वे उसे अपने बाँये पैर से दबा लेते हैं और प्रत्यंचा खींचकर बाण चलाते हैं; कारण यह कि वे जिस बाण का प्रयोग करते हैं वह तीन गज़ से कुछ ही छोटा होता है और भारतीय धनुर्धारी के तीर को कोई चीज़ नहीं रोक सकती—न ढाल, न कवच, और यदि कोई रक्षा का साधन इससे भी मज़बूत हो तो वह भी नहीं। बाँये हाथ में वे बैल के कच्चे चमड़े की ढाल लेकर चलते हैं जो चौड़ी तो सिपाही की चौड़ाई से कम होती है पर लम्बी लगभग उसके बराबर ही होती है। कुछ सिपाहियों के पास धनुष के स्थान पर भाले होते हैं पर तलवारें सभी के पास होती हैं; तलवार का फाल चौड़ा होता है पर उसकी लम्बाई तीन बालिश्त से अधिक नहीं होती; तलवार का प्रयोग वे केवल बहुत निकट से आमने-सामने लड़ते समय करते हैं (परन्तु ऐसी लड़ाई के प्रति वे बहुत उत्साह नहीं दिखाते); अधिक भरपूर वार करने के लिए वे तलवार दोनों हाथों से चलाते हैं। घुड़सवारों के पास दो भाले होते हैं जिन्हें 'सौविया' कहते हैं और एक ढाल होती है जो पैदल सिपाहियों की ढाल से छोटी होती है। पर वे अपने घोड़ों पर ज़ीन नहीं कसते और न वे घोड़ों को वश में रखने के लिए उस प्रकार की लगामें ही लगाते हैं जैसी कि यूनानी या केल्ट जाति के लोग लगाते हैं; इसके बजाय वे घोड़े के मुँह के चारों ओर बैल के कच्चे चमड़े का सिला हुआ एक टुकड़ा बाँध देते हैं जिसमें अन्दर की तरफ़ लोहे या पीतल के काँटे लगे होते हैं; जो लोग धनी होते हैं वे हाथी दाँत के काँटे लगाते हैं। ये काँटे बहुत नुकीले नहीं होते। घोड़े के मुँह में लोहे की एक छोटी-सी छड़ डाल दी जाती है जिसमें बाग की रस्सियाँ जोड़ दी जाती हैं। इस प्रकार जब घुड़सवार बाग खींचता है तो घोड़े के मुँह में पड़ी हुई छड़ घोड़े को वश में रखती है और इस छड़ में लगे हुए काँटे उसके मुँह को दिशा का भान कराते हैं और घोड़ा आदेश का पालन करने पर बाध्य हो जाता है।"

यह विचार उठ सकता है कि राज-कर्मचारियों की इतनी जटिल व्यवस्था के अधीन और इतने कर देने के कारण जनता बहुत सुखी नहीं रही होगी। परन्तु मेगास्थनीज़ ने लिखा है: "इसी प्रकार देशवासियों के पास भी भरण-पोषण के प्रचुर साधन होने के कारण उनका जीवनस्तर साधारण स्तर से ऊँचा है और उनकी यह विशिष्टता है कि वे गर्व से सिर ऊँचा करके चलते हैं। वे विभिन्न कलाओं में भी बहुत निपुण हैं जैसी कि स्वतंत्र वातावरण में श्वास लेनेवाले और स्वच्छतम जल पीनेवाले मनुष्यों से आशा भी की जाती है। यहाँ की भूमि पर वे सभी फल उत्पन्न होते हैं जिन्हें मनुष्य ने उगाना सीखा है; साथ ही यहाँ की पृथ्वी के गर्भ में नाना प्रकार की धातुओं के अनेक भंडार हैं। वहाँ की खानों में सोना और चांदी बहुत बड़ी

मात्रा में है और तांबा तथा लोहा भी कुछ कम नहीं है, इसके अतिरिक्त टीन तथा अन्य धातुएँ भी पायी जाती हैं। ये सब धातुएँ प्रतिदिन काम में आनेवाली वस्तुएँ, गहने तथा युद्ध के लिए हथियार तथा अन्य सामान तैयार करने के लिए इस्तेमाल की जाती हैं।"

भूमि बहुत उपजाऊ थी, पानी का बाहुल्य था और खाने-पीने की चीज़ें विपुल मात्रा में प्राप्य थीं। धनी नागरिक " रत्नजटित बेल-बूटेदार मलमल के कपड़े पहनते थे और जब कोई अभिजात व्यक्ति सड़क पर निकलता था तो एक नौकर उसके पीछे छत्र लेकर चलता था।" निर्धन लोग अपने "लम्बे-लम्बे बालों पर पगड़ियाँ बांधते थे या सफ़ेद सादी मलमल के कपड़े पहनते थे।" लोगों की ईमानदारी की ख्याति दूर-दूर तक थी; चोरी की शिकायतें कभी ही सुनने में आती थीं। यूनानी पर्यवेक्षक ने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि लोग अपने घर खुले छोड़ जाते थे और मुकद्दमेबाज़ी बहुत ही कम होती थी। चोरियाँ अपेक्षाकृत कम होने का कारण यह भी था कि पुलिस और दंड की एक अत्यंत सुचारू व्यवस्था थी।

चंद्रगुप्त ने समृद्धि और वैभव के इसी युग में अपना जीवन व्यतीत किया और (३२२ से २९८ ई० पू० तक) २४ घटनामय वर्षों तक सफलतापूर्वक शासन किया। जैसे-जैसे वह बूढ़ा होता गया धर्म की ओर उसकी रुचि भी बढ़ती गयी। जैन ग्रंथों में हमें इस बात का उल्लेख मिलता है कि जैनमत के प्रति सम्राट् की रुचि इतनी बढ़ गयी कि अंत में वह अपना राजपाट छोड़कर संत भद्रबाहु के साथ दक्षिण की ओर चला गया और श्रवण बेलगोला के निकट एक स्थान पर जाकर रहने लगा। यहाँ पहुँच कर वह तपस्वी हो गया और आमरण व्रत रखकर परलोक सिधार गया।

कदाचित कोई दूसरा भारतीय शासक इतनी राजनीतिक सफलताओं का दावा नहीं कर सकता जितनी कि मौर्य साम्राज्य के संस्थापक ने प्राप्त कीं। उसका पालन-पोषण एक अनाथ बालक के रूप में हुआ था। उसकी सारी सफलताओं का श्रेय स्वयं उसके चरित्र-बल तथा योग्यता और उसके मित्र चाणक्य की सहायता तथा मार्गदर्शन को है। वह जितना महान योद्धा था उतना ही महान प्रशासक भी था। उसके शासनकाल में, जिसमें जीवन का स्पंदन अत्यंत तीव्र था, सारे साम्राज्य में शांति का राज रहा और समस्त जनता का जीवन समृद्धि-शाली बन गया। एक स्वप्न और शपथ के आधार पर उसने और चाणक्य ने मिलकर एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना की; प्राचीन भारत में ऐसा साम्राज्य न इससे पहले कोई था और न बाद में हुआ। उसके न्याय में समवेदना का पुट था और यदि वह इतने वैभव का जीवन व्यतीत करता था तो उसे इसका अधिकार भी था। एक अद्वितीय सेनानायक, एक कुशल प्रशासक और एक अनुपम व्यक्ति होने के कारण चंद्रगुप्त भारत के महान शासकों का शिरोमणि है।

जब चंद्रगुप्त ने राजवैभव त्याग कर तपस्या का कठोर जीवन अपनाने का संकल्प किया तो लगभग ३०० ई० पू० में उसका बेटा बिंदुसार पाटलिपुत्र के शासन का उत्तरदायित्व सँभालने की तैयारियाँ करने लगा। उसमें और उसके पिता में आकाश-पाताल का अंतर था क्योंकि उसका व्यक्तित्व बिल्कुल ही अंधकार में छुपा हुआ है। उसके बारे में कहा जाता है कि वह

बहुत महान विजेता था, और यह भी कहा जाता है कि उसका एक दूसरा नाम था, अमित्रघात—शत्रुओं को मारनेवाला। बौद्ध स्रोतों के अनुसार चंद्रगुप्त के बेटे के शासनकाल में भी चाणक्य मंत्री रहा, यह संभव है कि दकन प्रदेश मौर्य राज्य में बिंदुसार के शासनकाल में ही मिलाया गया हो। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी समय तक्षशिला में विद्रोह हुआ परंतु उसके बेटे अशोक ने विद्रोह को कुचल दिया। मेगास्थनीज़ के बाद देइमाकोस बिंदुसार के दरबार में यूनान का राजदूत होकर आया; वह सीरिया के राजा का राजदूत था। यूनानी स्रोतों से हमें पता चलता है कि बिंदुसार ने सीरिया के राजा ऐंटियोकस को पत्र लिखकर प्रार्थना की कि वह एक दार्शनिक, कुछ मीठी मदिरा और सूखे हुए अंजीर खरीदकर उसके पास भेज दे। ऐंटियोकस ने मदिरा और अंजीर भेजना तो स्वीकार कर लिया और यह लिख भेजा कि यूनान का कानून दार्शनिकों को खरीदने और बेचने की अनुमति नहीं देता। बिंदुसार का परिवार बहुत बड़ा था और उसके बहुत-से बेटे थे; उसने २५ वर्ष तक शासन किया। यद्यपि उसने नये देशों पर विजय प्राप्त करके राज्य के विस्तार में कोई बहुत अधिक वृद्धि नहीं की पर २७२ ई० पू० में जब उसकी मृत्यु हुई तो वह उस विस्तृत साम्राज्य को ज्यों का त्यों छोड़ गया जो उसे अपने पिता से उत्तराधिकार में मिला था।

अशोक तीसरी शताब्दी ईसा-पूर्व में इस देश में शासन करता था पर हमारी राष्ट्रध्वजा में जो चक्र बना है और हमारे राज्य की मुहर पर जो शेर बने हैं, उनमें वह आज भी जीवित है; इतना प्रबल है इतिहास पर उसका प्रभाव! कई शताब्दियों तक गर्मी, सर्दी, और वर्षा का सामना करने के बाद चट्टानों और टूटे-फूटे स्तंभों पर जो धूमिल रेखाएँ अंकित मिलती हैं उनमें हमें एक ऐसे व्यक्ति का स्वर सुनायी देता है जिसने एक विजेता के रूप में अपना जीवन आरंभ किया और बाद में धर्म और सदाचार का प्रचारक बन गया। अशोक को राजनीति पर आधारित साम्राज्य उत्तराधिकार में मिला था पर उसने इस पृथ्वी पर सदाचार का साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया।

इस गौरवशाली शासन के प्रारंभिक काल के विषय में बहुत-सी बातें ज्ञात नहीं हो सकी हैं। बौद्ध वाङ्मय में बताया गया है कि अशोक पहले विदिशा में सम्राट् का प्रतिनिधि था, जहां उसने देवी नामक एक महिला से विवाह किया और उससे उसके दो संतानें हुईं—एक पुत्र महेन्द्र और एक पुत्री संघमित्रा। ये दोनों ही बौद्ध भिक्षुओं के रूप में श्रीलंका गये। अशोक का राज्याभिषेक होने में चार वर्ष का विलम्ब हुआ। उसके संबंध में यह भी कहा जाता है कि राज्य के अधिकार के लिए बहुत भीषण युद्ध हुआ जिसमें उसने एक को छोड़कर अपने सभी भाइयों को मार डाला और इस प्रकार अपने भाइयों के रक्त के सागर को पार करके वह अपने पूर्वजों के सिंहासन पर बैठा। उसके शिलालेखों में जीवन के बाद के वर्षों में उसके विचारों तथा कृत्यों का तो बहुत विस्तृत उल्लेख मिलता है पर उनमें उसके शासन के प्रारंभिक भाग के बारे में एक शब्द भी नहीं कहा गया है। अशोक द्वारा अपने भाइयों की हत्या के जो उल्लेख हमें मिलते हैं उनकी हमें कड़ी छानबीन करना चाहिये क्योंकि इनके पीछे यह सिद्ध करने का उद्देश्य साफ़ छुपा हुआ है कि बौद्धमत स्वीकार करने के बाद सम्राट् के चरित्र में

कितना बड़ा अन्तर हुआ। यह अधिक संभव प्रतीत होता है कि अशोक के सम्राट् बनने और उसका राज्याभिषेक होने के बीच कुछ समय बीता हो; यह कहा जा सकता है कि वह २७३ ई० पू० में सम्राट् घोषित किया गया और २६९ ई० पू० में उसका राज्याभिषेक हुआ।

वह किसी भी प्रकार सिंहासन पर बैठा हो, पर यह निर्विवाद है कि अशोक के शासन के प्रथम आठ वर्षों में कोई उल्लेखनीय घटना नहीं हुई। वह बहुधा शिकार खेलने जाया करता था। वह अच्छे खाने का बहुत शौकीन था; मोर का गोश्त उसे विशेष रूप से पसंद था। अपना अधिकांश समय वह रनवास में, राजसी अश्वशाला में और उद्यान में व्यतीत करता था। परन्तु जब कलिंग की जनता ने स्वतंत्रता प्राप्त होने के उद्देश्य से विद्रोह कर दिया तो उसके जीवन की इस शांत धारा में एक तूफान-सा आ गया। अशोक राजमहल का शांत वातावरण त्याग कर रणक्षेत्र के कोलाहल में कूद पड़ा और बड़ी निर्भयता से उसने कलिंग के विद्रोह को कुचल दिया।

यह घटना २६१ ई० पू० की है जब उसे शासन करते अभी आठ ही वर्ष हुए थे। अपने जीवन के इस एकमात्र युद्ध का वर्णन अशोक ने अत्यंत मर्मस्पर्शी तथा सुस्पष्ट ढंग से किया है। वह कहता है : "इस युद्ध में डेढ़ लाख लोगों को निर्वासित किया गया, एक लाख लोग मारे गये और इससे कई गुनी संख्या में लोग मर गये।" इस भीषण नरमेध की जो छाप अशोक के मस्तिष्क पर पड़ी वह इतिहास में एक नये युग की द्योतक है। बंदियों को देखकर अशोक की अतिक्रमण की महत्त्वाकांक्षा की तृष्णा पूरी तरह तृप्त हो गयी, जो लोग अपंग हो गये थे उन्हें देखकर उसका हृदय रो उठा और जो लोग मारे गये थे उन्होंने एक नये राजा को जन्म दिया। यहीं से उसका जीवन एक नयी दिशा में मुड़ गया; इसी को "कलिंग-विजय के बाद देवानाम्प्रिय का प्रायश्चित" कहा गया। मानव इतिहास में, न इससे पहले और न इससे बाद, कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जब किसी राजा ने ऐसे काम के लिए, जिसे राजाओं का कर्तव्य समझा जाता हो, शोक प्रकट किया हो। विजेता अशोक के सामने उन लोगों के तड़पते हुए तथा क्षत-विक्षत शरीर पड़े हुए थे जिन्होंने उसके विरुद्ध विद्रोह करने का साहस किया था। परन्तु रणक्षेत्र की विजय हृदय के क्रंदन में बदल गयी और अब जो तलवार म्यान में रखी गयी वह फिर कभी उससे बाहर नहीं निकली। इसके बाद से यदि अशोक ने कभी दुँदुभी बजवायी तो सत्य के प्रचार के लिए। प्रतिभाशाली योद्धा धर्म और सदाचार का प्रचारक बन गया।

कलिंग के युद्ध के बाद अशोक के जीवन में पूर्ण परिवर्तन आ गया। उसके बाक़ी जीवन से संबंधित तथ्यों की जानकारी हमें स्वयं उसके अभिलेखों से प्राप्त होती है, जिनमें बहुत थोड़े शब्दों में बहुत-कुछ कह दिया गया है। अशोक आनेवाली पीढ़ियों के लिए शिलाओं और स्तंभों पर अंकित लगभग तीस अभिलेख छोड़ गया जो उत्तर-पश्चिम में शाहबाज़गढ़ी से लेकर पश्चिम में सौराष्ट्र और दक्षिण से मैसूर तक उसके पूरे साम्राज्य के हर भाग में बिखरे हुए थे। ये अभिलेख चौदह शिलालेखों, सात स्तंभ-लेखों तथा सात अन्य अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण अभिलेखों के रूप में हैं। इन अभिलेखों द्वारा हमें कई शताब्दियों को पार करती

हुई अशोक की आवाज़ सुनायी देती है, इसलिए ये बड़े ध्यान और विस्तार के साथ अध्ययन करने योग्य हैं। प्राचीन भारत के पत्थर तथा तांबे पर अंकित सैकड़ों अभिलेख आज भी विद्यमान हैं, जिनमें बरहुत के एक पंक्तिवाले सांकल्पिक पुरालेखों से लेकर इलाहाबाद के स्तंभ पर सुंदर तथा चुने हुए शब्दों में अंकित समुद्रगुप्त की प्रशस्ति तक सभी प्रकार के अभिलेख शामिल हैं। किसी भी अभिलेख को यों ही अललटप्प पढ़ने लगना कोई बहुत रोचक काम नहीं है क्योंकि उसकी भाषा अत्यंत अलंकारपूर्ण तथा अप्रचलित होती है। परंतु अशोक के अभिलेख इसका उल्लेखनीय अपवाद हैं। इन अभिलेखों में वाक्य अन्य पुरुष में इस प्रकार आरंभ करने कि "सम्राट् देवानाम्प्रिय प्रियदर्शिन का कथन है" अशोक शीघ्र ही प्रथम पुरुष एकवचन में बोलने लगता है और अपने पिछले जीवन तथा वर्तमान विचारों के बारे में बताता है और यह बताता है कि उसके विचार में क्या नैतिक है और क्या अनैतिक। केवल एक बार 'अशोक' नाम का प्रयोग किया गया है; आम तौर पर सम्राट् की उपाधि देवानाम्-प्रिय प्रियदर्शिन का ही प्रयोग किया है।

उपरोक्त बात को स्पष्ट करने के लिए हम एक बहुत अच्छा उदाहरण देते हैं। ११वें शिलालेख पर ये शब्द अंकित हैं : "देवताओं के प्रिय सम्राट् प्रियदर्शिन कहते हैं : धम्म के गुण से बढ़कर कोई दूसरा गुण नहीं है, अर्थात्, धम्म का ज्ञान रखना और धम्म से नाता जोड़े रखना। इसका अर्थ यह है कि 'दासों तथा अनुचरों के प्रति उचित व्यवहार, माता-पिता की आज्ञा का यथोचित पालन, मित्रों, परिचितों तथा सगे-संबंधियों को और ब्राह्मणों तथा श्रमणों को यथोचित उपहार (और) पशुओं के प्रति यथोचित अहिंसा का पालन।' पिता, पुत्र, भाई, स्वामी, मित्र या परिचित ही नहीं बल्कि पड़ोसी तक यह कह सकते हैं : यह उचित है, इसे करना चाहिये। जो इस नियम का पालन करता है वह सांसारिक जीवन में अपना कर्तव्य पूरा करता है और धम्म के गुण के कारण असीम आत्मिक गुणों से संपन्न हो जाता है।" (भंडारकर द्वारा अंग्रेज़ी में अनूदित अशोक के उद्धरण, पृष्ठ २९७-८ का हिन्दी रूपान्तर)। संबोधन के वैयक्तिक ढंग और प्रत्यक्ष आवेदन की दृष्टि से यह शिलालेख अद्वितीय है। इस शिलालेख में हम देखते हैं कि सम्राट् उस शिला या स्तंभ के पास से होकर गुज़रने वाले हर उस व्यक्ति को सीधे-सीधे संबोधित करके बात कह रहा है जो पढ़ना जानता हो और इस प्रकार जान सके कि महाराजाधिराज सम्राट् देवानाम्प्रिय प्रियदर्शिन अशोक को क्या कहना है। लोगों के मस्तिष्क पर इन लेखों की छाप बहुत गहरी पड़ी होगी क्योंकि लोग आम तौर पर पढ़ना-लिखना जानते थे इसलिए हजारों लोगों ने अशोक के ये शब्द पढ़े होंगे और उनके द्वारा सम्राट् के वैयक्तिक सम्पर्क में आये होंगे। इस लोक तथा परलोक की समस्याओं के विषय में प्रजा के प्रति अपने व्यवहार में वैयक्तिक सम्पर्क की इसी प्रवृत्ति को देखते हुए अशोक का यह कथन सर्वथा न्यायोचित प्रतीत होता है : "सभी मनुष्य मेरी संतान हैं। जिस प्रकार (अपनी) संतान के लिए मेरी यही कामना रहती है कि वे इस लोक तथा परलोक में समस्त कल्याण तथा सुख के भागी बनें, ठीक उसी प्रकार हर व्यक्ति के लिए मेरी यही कामना रहती है।" (पृथक कलिंग शिलालेख)।

इतिहास को बहुधा युद्ध और विजय तथा लौकिक वैभव का भव्य प्रदर्शन समझा जाता है। पर अशोक के संबंध में यह बात सच नहीं थी। उसके अभिलेखों से जिस इतिहास का रहस्योद्घाटन होता है वह उन तथ्यों से सर्वथा भिन्न है जिनके आधार पर साधारणतया ऐतिहासिक वृत्तांत लिखे जाते हैं। अशोक का इतिहास एक ऐसी व्यथित आत्मा की कहानी है जो नरसंहार पर केवल पश्चाताप करने से आगे बढ़कर धर्मविजय प्राप्त करने के पुनीत संतोष तक पहुँचने के लिए प्रयत्नशील है। कलिंग युद्ध के शीघ्र ही बाद अशोक बौद्धमत के शांतिनिष्ठ तथा नैतिक आदर्शों में सक्रिय रूप से दिलचस्पी लेने लगा और बाद में वह इस मत का अनुयायी हो गया। परंतु बौद्ध होने के बाद भी अशोक इस बात को नहीं भूला कि वह राजा भी है और अपने शिलालेखों में उसने जिस धर्म का प्रचार किया है वह एक धार्मिक मत न होकर सदाचार की एक पद्धति है। उसने दान, सदाचार, माता-पिता तथा बड़ों के प्रति और तपस्वियों तथा ब्राह्मणों के प्रति सम्मान और सबसे बढ़कर हर एक के प्रति अहिंसा का उपदेश किया है। उसने परिवार में एकता तथा परिवार के सभी सदस्यों के बीच प्रेमपूर्ण व्यवहार के गुण पर ज़ोर दिया है और हमें यह भी बता दिया है कि स्वयं उसके आचरण और विचारों में कोई अंतर नहीं है। उसने हमें बताया है कि स्वादिष्ट भोजनों के प्रति राजा की रुचि को संतुष्ट करने के लिए माँस का प्रयोग न्यूनतम कर दिया गया है, राजाओं की प्रिय क्रीड़ा आखेट को त्याग दिया गया है और पूरे राष्ट्र को एक सुखी परिवार समझा जाता है जिसका भाग्यविधायक राजा होता है। उसने जनता का आह्वान किया है कि वह कुविचारों, कठोर वचन तथा हानिकारक कर्मों को त्यागकर सदा परलोक को ध्यान में रखे। उसने चेतावनी दी है कि जो जैसा बोयेगा वह वैसा ही काटेगा; अपने मनसा, वाचा और कर्मणा जो अपने को जितने सुख-दुख का अधिकारी बनायेगा उसमें रत्ती भर कमी नहीं हो सकती चाहे कोई कितना ही पवित्र क्यों न हो या अपनी बुद्धि का कितना ही प्रयोग क्यों न करे। उस समय में भी लोग धार्मिक संस्कारों को आज की ही तरह बहुत महत्त्व देते थे और स्त्रियाँ तो बहुत ही ज्यादा महत्व देती थीं; कम से कम अशोक ने अपने एक शिलालेख में यही कहा है: बड़ों का आदर करो, दूसरों के प्रति अपने व्यवहार में प्रेम का भाव रखो, सत्य पर अटल रहो और अपने से निम्न स्तर के लोगों के प्रति उदार और क्षमाशील रहो, बस यही तुम्हारा कर्तव्य है। संक्षेप में यह है वह धर्म जिसमें अशोक विश्वास रखता था और जिसका प्रचार करने का उसने प्रयत्न किया।

परन्तु प्रियदर्शिन केवल प्रचार पर ही संतोष करके नहीं बैठ गया। उसमें धर्म प्रचारकों जैसा उत्साह था और उसके पास एक सम्राट् की शक्ति थी और इन दो बातों—उत्साह और शक्ति के संयोजन—के परिणामस्वरूप सदाचार के बारे में अनेक आदेश निकाले गये। जैसे-जैसे समय बीतता गया इस बात के प्रति अशोक का उत्साह बढ़ता गया कि लोगों के जीवन पर उसके विचारों की छाप पड़े। वह उसे मेलों-ठेलों और सार्वजनिक आमोद-प्रमोद के विरुद्ध था। बाद में उसने अनेक पशुओं तथा पक्षियों का बध निषिद्ध घोषित कर दिया, परंतु चूँकि इनमें से अधिकांश साधारणतया खाने के काम में नहीं आते थे इसलिए इस निषेध से

जन-साधारण को, जो सामान्यतया माँसाहारी थे, किसी विशेष कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। अशोक ने बंदियों को कारावासों से मुक्त कर देने की आज्ञा दे दी और जिन्हें मृत्युदंड दिया गया था उनका दंड तीन दिन के लिए स्थगित कर दिया। उसने सड़कें बनवायीं, सड़कों के किनारे पेड़ लगवाये, विश्रामगृहों की स्थापना की, मनुष्यों तथा पशुओं के लिए चिकित्सालय बनवाये और ऐसे वृक्षों को लगाने की आज्ञा दी जो रोगग्रस्त मनुष्यों को स्वस्थ बनाने में उपयोगी सिद्ध हो सकते थे।

अशोक धार्मिक संस्कारों का पालन भी इतने ही नियमित रूप से करता था। वह बौद्धों के पवित्र स्थानों की तीर्थ-यात्रा पर गया और वहाँ उसने महात्मा बुद्ध के भक्त के आगमन की-स्मृति में स्तंभ लगवाये और करों में छूट दी। वह बौद्ध संघ के कार्य-कलाप पर भी कड़ी दृष्टि रखता था और जो लोग कोई ग़लती करते थे उन्हें वह फ़ौरन चेतावनी देता था कि यदि उन्होंने अपना आचरण नहीं बदला तो उन्हें संघ से बहिष्कृत कर दिया जायेगा क्योंकि संघ की एकता को खतरे में नहीं डाला जा सकता था। वह बौद्ध संघ के धर्माधिकारियों को बड़े सम्मानपूर्वक संबोधित करता था। उसने बौद्ध धर्मग्रंथों का उल्लेख अनेक बार किया है, और उसके मतानुसार उनका बार-बार पाठ करना तथा उनका अध्ययन विशेष रूप से अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो सकता है; इससे पता चलता है कि वह बौद्ध धर्मग्रंथों से कितनी भली भाँति परिचित था। सारे देश में असंख्य स्तूप बनवाने के लिए वह बहुत प्रख्यात है और उसके बनवाये हुए स्तंभों तथा उनके ऊपर लगी हुई मूर्तियों में उसकी कलात्मक रुचि, उसके दृष्टिकोण की व्यापकता तथा उसके साम्राज्य की भव्यता प्रतिबिंबित होती है।

मौर्य प्रशासन का कार्य-संचालन छोटे-बड़े राज-कर्मचारियों के एक जटिल संगठन द्वारा होता था। इस संगठन का प्रधान राजा होता था जो अपनी प्रजा को अपनी संतान के समान समझता था। इसके बाद एक मंत्रिमंडल होता था जो शासन-संबंधी सभी प्रश्नों के बारे में राजा को परामर्श देता था। प्रशासन-व्यवस्था के विभिन्न अंगों का संचालन विविध अधिकारियों के हाथ में था। इन अधिकारियों में अशोक ने युक्तों, राजुकों, प्रादेशिकों, महामात्रों तथा धर्ममहामात्रों का उल्लेख किया है। धर्ममहामात्र अशोक द्वारा नियुक्त किये गये अधिकारियों की एक विशेष श्रेणी थी। उनका काम था लोगों के नैतिक आचरण का ध्यान रखना, धर्म संघों के कार्य-कलाप में दिलचस्पी रखना और अशोक द्वारा मनुष्यों तथा पशुओं के लिए बनवाये गये चिकित्सालयों, सड़कों और वृक्षों आदि की सुव्यवस्था की निगरानी करना। ये धर्ममहामात्र, या जिन्हें हम सदाचार अधिकारी कह सकते हैं, इस बात का ध्यान रखते थे कि सम्राट् की नैतिकता-संबंधी सभी आज्ञाओं का पालन किया जाये और उन्हें बहुत अधिकार मिले रहे होंगे।

अपनी प्रजा की नैतिक तथा भौतिक उन्नति के लिए इतने उत्साहपूर्वक काम करने के बाद अशोक की यह इच्छा हुई कि दूसरे समीपवर्ती राष्ट्रों को भी उसके उद्देश्यों और कृत्यों का ज्ञान हो जाये। चोल, चेर, पांड्य तथा सिंहल राजाओं के दरबारों के अतिरिक्त उसने उस समय के कुछ मध्य-पूर्वी देशों के राजाओं के यहाँ भी अपने राजदूत भेजे। जिन राजाओं के यहाँ उसने अपने राजदूत भेजे थे उनमें अशोक ने सीरिया के थियोस, ऐंटिओकस द्वितीय,

(२६१-२४६ ई. पू.), मिस्र के फ़िलाडेल्फ़स, तोलेमी द्वितीय, मकदूनिया के ऐंटीगोनोस गोनातास (२७८-२३९ ई. पू.), तथा साइरीन के मागास (३००-२५८ ई. पू.) और एपीरस के एलक्जेन्डर (२७२-२५८ ई. पू.) का उल्लेख किया है।

बौद्ध वाङ्मय से हमें पता चलता है कि अशोक के शासनकाल में बौद्ध धर्म-प्रचारक भारत के विभिन्न भागों में और विदेशों में गये। स्वयं अशोक का बेटा महेंद्र और बेटी संघ-मित्रा श्रीलंका गये, अन्य धर्म-प्रचारक हिमालय के प्रदेश में तथा उससे भी और आगे गये। यह भी संभव है कि धर्म-प्रचारक बर्मा भी भेजे गये हों बौद्धमत जो एक छोटे-से मठीय धर्म के रूप में आरंभ हुआ था सम्राट् का समर्थन पाकर सारे भारत में, और फिर विदेशों में भी, फैल गया। उसने एक नये सामाजिक दृष्टिकोण को जन्म दिया और नयी सृजनात्मक शक्तियों को उन्मुक्त किया। इन्हीं सब बातों के लिए अशोक की तुलना बहुधा कांस्टैंटीन महान से की जाती है जिसने पूरे रोमन साम्राज्य में ईसाई मत को फैलाया। बौद्ध वाङ्मय में यह भी दावा किया गया है कि बौद्ध की तीसरी परिषद् अशोक के शासनकाल में हुई थी और इस परिषद् में बौद्ध धर्मग्रंथों को अधिकृत रूप दिया गया।

अशोक ने अपने सामने जो लक्ष्य रखा था वह सचमुच बहुत विशाल था; वह अपनी प्रजा के जीवन को बिल्कुल ही बदल देना चाहता था। रणक्षेत्र से विमुख होकर उसने अपना सारा जीवन परोपकार और धर्मनिष्ठता का पालन करने के लिए अर्पित कर दिया; जहाँ दूसरे क़दम रखने से भी घबराते थे वहाँ उसने सफलता के उच्चतम शिखर तक पहुँचने का प्रयत्न किया। जब हम उसके अभिलेख पढ़ते हैं तो हमें ऐसा लगता है कि एक महान विभूति हमारे सामने खड़ी है, एक ऐसी विभूति जैसी किसी देश के जीवनकाल में शायद ही कभी दुबारा देखने में आती हो। खुरदुरी चट्टानों और सुडौल स्तंभों पर दृढ़ रूप से अंकित पंक्तियों से हमें एक ऐसी उदात्त आत्मा की वाणी आती हुई सुनायी देती है जिसने बुद्ध की बोधप्राप्ति के मर्म को समझा था और उसे समझने के बाद राजमहल में उसे व्यावहारिक रूप देने और अपने शक्तिशाली साम्राज्य में उसका प्रचार करने का साहस किया था। दान, दया, सच्ची लगन और ईमानदारी इस सम्राट् की कुछ विशिष्ट लाक्षणिकताएँ हैं; इनका हम पर गहरा प्रभाव पड़ता है और यह सोचकर कि अशोक जैसा सम्राट् हमारे देश पर शासन करता था हमारी मुखाकृति गर्व की भावना से आलोकित हो उठती है।

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इतने वैविध्यपूर्ण जीवन का अंत अत्यंत दुःखद ढंग से हुआ। बौद्ध वृत्तान्तों से हमें पता चलता है कि इस महान सम्राट् ने दान में अपनी इतनी अधिक संपत्ति दे दी कि अंत में उसके पास एक फल को छोड़कर और कुछ भी नहीं बचा और उसने वह भी निःसंकोच दान कर दिया। यह मान लेना तर्कसंगत है कि वृद्धावस्था में अशोक को अपने काम में अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ा और कदाचित् उसे अपने मंत्रियों और उत्तराधिकारियों के हाथों अपमान भी सहन करना पड़ा हो। पर उसने जो कर दिखाया था वह कोई दूसरा व्यक्ति अकेले नहीं कर सकता था और मरते समय (लगभग २३६ ई० पू०) अशोक के हृदय में कोई पश्चाताप नहीं था।

यह था अशोक, सम्राटों का शिरोमणि। जैसा कि एच० जी० वेल्स ने कहा है : "इतिहास के पृष्ठों में महाराजाधिराज और महामहिम और परमश्रेष्ठ और राजराजेश्वर आदि अनेक उपाधियों से सुशोभित जितने राजाओं के नाम भरे पड़े हैं उनमें अशोक का नाम सबसे अधिक उद्दीप्त है, और प्रायः एक अकेले सितारे की तरह चमकता है। वोल्गा नदी से लेकर जापान तक उसके नाम का आज तक सम्मान किया जाता है। चीन में, तिब्बत में, यहाँ तक कि भारत में भी—जिसने उसके सिद्धांतों को छोड़ दिया है—उसकी महानता की परम्परा आज तक क़ायम है। आज जितनी संख्या में लोग उसकी स्मृति को श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं उतने लोगों ने तो कभी कांस्टैंटीन या शार्लेमान का नाम भी न सुना होगा।" एक राजपुत्र के रूप में जन्म लेकर वह धर्म-प्रचारक बन गया; दूसरे राजा अन्य देशों पर विजय प्राप्त करके शासन करने में संतुष्ट रहते थे पर अशोक ने इस मार्ग को त्याग कर अपने आप पर विजय प्राप्त करने और मनुष्य के हृदय में 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' का साम्राज्य स्थापित करने का पथ ग्रहण किया।

अशोक की मृत्यु के बाद मौर्य साम्राज्य की शक्ति बड़ी तेज़ी से क्षीण होने लगी। अशोक के कम से कम चार बेटे थे, जिनमें से कुणाल को तो गद्दी पर बिठाया नहीं जा सकता था क्योंकि उसकी सौतेली माँ ने कपट से उसे अंधा करवा दिया था। महेंद्र बौद्ध संघ में शामिल हो गया था और श्रीलंका में रहता था; तीवर भी भिक्षु बन गया था। जलूक काश्मीर में शासन करता था। बराबर की गुफा में हमें अशोक के पोते दशरथ का एक शिलालेख मिलता है जिससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अशोक के बाद वही गद्दी पर बैठा होगा। जैन ग्रंथों में सम्प्रति को अशोक का उत्तराधिकारी बताया गया है और पुराणों में लिखा है कि अशोक के बाद केवल तीन मौर्य सम्राट् हुए : देवधर्मन, शतधर्मन और बृहद्रथ। इन-में से कौन अनुमान सही है यह बता सकना प्रायः असंभव है। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि इनमें से अधिकांश सम्राटों ने बहुत ही थोड़े-थोड़े समय के लिए शासन किया।

इसका क्या कारण था कि अशोक की मृत्यु के बाद इतना महान साम्राज्य इतनी तेज़ी से छिन्न-भिन्न हो गया। कुछ विद्वान यह तर्क देते हैं कि अंतिम विश्लेषण में बहुत बड़ी हद तक अशोक स्वयं अपने विस्तृत साम्राज्य के पतन के लिए ज़िम्मेदार था। उनका कहना है कि बौद्धमत के सिद्धान्तों को स्वीकार करने के बाद उसने शांति की जो नीति अपनायी और नैतिकता के प्रति जो उत्साह दिखाया उसने ब्राह्मणों की एक प्रति-क्रांति को प्रोत्साहन दिया। मौर्यों के अंतिम शासन बृहद्रथ को जब उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने मार डाला उस समय यह प्रति-क्रांति हिंसा की चरम सीमा को पहुँच गयी। इसके अति-रिक्त यह भी कहा जाता है कि अशोक सम्राट् के सिंहासन पर बैठने की अपेक्षा धर्माधीश के पद पर बैठने के लिए अधिक उपयुक्त था और उसकी सफलताओं का जो परिणाम हुआ वह अनिवार्य था। ये तर्क रोचक तो हैं पर ऐसी बातें कहना अशोक के साथ भी अन्याय करना है और उसके साथ भी जिसका वह अनुयायी था। मौर्य साम्राज्य के क्षय का सबसे तर्कसंगत कारण उस साम्राज्य के विचित्र संविधान में ढूंढ़ा जा सकता है। मौर्य साम्राज्य एक अत्यन्त केंद्रीकृत निरंकुश शासन था जिसका अस्तित्व सम्राट् के व्यक्तित्व की शक्ति पर निर्भर था;

सम्राट् अपनी शक्ति और प्रतिष्ठा के द्वारा साम्राज्य के विभिन्न अंगों को एकबद्ध रखता था। ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक के उत्तराधिकारियों में वह चरित्रबल नहीं था जो एक साम्राज्य का शासन चलाने के लिए आवश्यक है। अशोक की मृत्यु के बाद महत्त्वाकांक्षी अधिकारियों ने स्वयं अपनी शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न किया होगा। साम्राज्य का विस्तार धीरे-धीरे घटते-घटते पहले की तुलना में छाया मात्र रह गया। इसका एक और कारण यह भी हो सकता है कि मौर्य साम्राज्य के राजकर्मचारी-मंडल का व्यवहार जनता के प्रति अत्याचारपूर्ण होता गया हो। संस्कृत भाषा की दिव्यदान नामक एक बौद्ध पुस्तक की कहानी से इस बात की पुष्टि होती है। इस कहानी में बताया गया है कि बिंदुसार के शासनकाल में तक्षशिला नगर में एक विद्रोह खड़ा हो गया और अशोक को इस घटना की छानबीन के लिए नियुक्त किया गया। जब अशोक तक्षशिला गया तो वहाँ के निवासियों ने उससे कहा : "हम न राजकुमार के विरुद्ध हैं न सम्राट बिंदुसार के। परंतु ये दुष्ट मंत्री हमारा अपमान-करते हैं।..." अशोक ने स्वयं भी अपने एक अभिलेख में राजकर्मचारियों के अत्याचार की संभावना की ओर ही नहीं बल्कि उसके वास्तविक अस्तित्व की ओर संकेत भी किया है, जिसकी रोकथाम के लिए उसने अपने महामात्रों को हर पाँच या तीन वर्ष बाद निरीक्षण के लिए राज्य के विभिन्न भागों का दौरा करने की आज्ञा दी। इन दौरों के समय इन उच्च पदाधिकारियों को राजकर्मचारियों के अत्याचारों की छानबीन करनी पड़ती थी और यदि किसी के साथ अन्याय हुआ हो, जैसे उसे अनुचित रूप से गिरफ्तार कर लिया गया हो या यातनाएँ दी गयी हों, तो उस अन्याय का निवारण करना पड़ता था। अशोक ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि उस समय केवल कलिंग में ही नहीं बल्कि उज्जयिनी, तोसलि और तक्षशिला में भी कुप्रशासन की संभावना थी। अशोक के जीवनकाल में जनता को यह विश्वास था कि वह स्वयं सम्राट् के पास जाकर न्याय प्राप्त कर सकती थी, पर उसके मर जाने के बाद केंद्रीय प्रशासन के प्रति जनता का विश्वास और वफ़ादारी बहुत बड़ी हद तक मिट गयी होगी। फलस्वरूप बड़े व्यापक रूप से विद्रोह उठ खड़े हुए होंगे। इस प्रकार २०६ ई. पू. में एंटिओकस के नेतृत्व में यूनानी आक्रमण के फलस्वरूप साम्राज्य का ह्रास आरंभ हुआ और इसकी परिणति पुष्यमित्र शुंग की शक्ति के उदय में हुई।

पुराणों में और बाण के हर्षचरित में भी १८७ ई. पू. में पुराने राजवंश की जगह इस नये राजवंश की स्थापना पर संतोषजनक प्रकाश डाला गया है। मौर्य शासन के अंतिम वर्षों में पुष्यमित्र शुंग ने मौर्य राज-दरबार में और विदिशा के प्रांत में भी धीरे-धीरे अपनी शक्ति संगठित कर ली जहाँ उसका बेटा अग्निमित्र शुंग राजा के रूप में शासन करता था। इस प्रकार बृहद्रथ बिल्कुल शक्तिहीन कर दिया गया और १८७ ई. पू. में सेना का निरीक्षण करते समय उसके जीवन का अंत कर दिया गया। जिस समय मौर्य सम्राट् सेना का निरीक्षण कर रहा था उसी समय उसके सेनापति पुष्यमित्र ने अपनी तलवार निकाली और अंतिम मौर्य सम्राट् का वध कर दिया। परन्तु पुष्यमित्र द्वारा की गयी इस हत्या का महत्त्व केवल बृहद्रथ की मृत्यु तक ही सीमित नहीं है। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि शुंगवंश एक ब्राह्मण परिवार था, जिसकी सबसे

प्रमुख संतान पुष्यमित्र था; इस परिवार ने विद्योपार्जन और विद्यादान का काम छोड़कर अब तलवार उठा ली थी। पुष्यमित्र की शक्ति के उदय को बहुधा ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया का सबसे स्पष्ट राजनीतिक चिह्न माना जाता है और आगे चलकर पुष्यमित्र ने अपने कृत्यों से इस दृष्टिकोण की पुष्टि कर दी। उसने उसी राजधानी में, जहाँ अशोक ने पिछले ज़माने में पशु-वध को निषिद्ध घोषित कर दिया था, दो अश्वमेध यज्ञ किये। बौद्ध वृत्तांतों में पुष्यमित्र द्वारा बौद्धमत को कुचल देने के प्रयासों का जो विवरण मिलता है उस पर सहज ही विश्वास किया जा सकता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि मनुस्मृति को भी इसी युग में संहिता का रूप दिया गया और इस संहिता में दिये गये नियमों में ब्राह्मणों की आक्रामक भावना आम तौर पर प्रतिबिंबित होती है। यह भी संभव है कि महाभारत तथा रामायण महाकाव्यों को भी इस काल में ब्राह्मणों के दृष्टिकोण से दुबारा लिखा गया हो। ये सब बातें इस दृष्टिकोण की पुष्टि करती हैं कि सामंतवाद और पुरोहितों द्वारा शासन की इस संयुक्त शक्ति ने, जिसका साकार रूप शुंगवंश का संस्थापक पुष्यमित्र था, इतिहास की गति को पीछे मोड़ना आरंभ कर दिया था।

पुष्यमित्र का शासन बहुत लम्बा और घटनामय था। उसने ३६ वर्ष तक (१८८-१८७ ई०पू० से १५२ ई० पू० तक) शासन किया और इस दौरान में उसने दो आक्रमणों का सामना किया, दो अश्वमेध यज्ञ किये और बौद्धमत के अनुयायियों का संहार किया। इनमें से यूनानी आक्रमण का उल्लेख कालिदास को मालविकाग्निमित्रम् में तथा प्रख्यात व्याकरणाचार्य पतञ्जलि के महाभाष्य में मिलता है।

यूनानियों के इस आक्रमण को समझने के लिए हमें लगभग २५६ ई० पू० से परिस्थिति पर विचार करना पड़ेगा। उस समय सेलेल्यूसिड साम्राज्य के पार्थिया तथा बैक्ट्रिया नामक दो प्रदेशों ने सम्राट् ऐंटिओकस द्वितीय थियोस (२६१-२४६ ई० पू०) के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। इसके बाद ऐंटिओकस तृतीय ने बैक्ट्रिया के स्वतंत्र शासक यूथाईडेमस को समझौता करने पर बाध्य कर कर दिया। यूथाईडेमस के पुत्र देमेत्रियस ने भारत पर आक्रमण किया। इस काल के भारत के इतिहास में एक और व्यक्ति हुआ जिसका नाम उल्लेखनीय है वह है मेनैंडर, जिसे पाली की मिलिन्द पञ्ह नामक पुस्तक में मिलिन्द कहा गया है। यूनानी सेनाएँ पंजाब को पार करती हुई आगे बढ़ीं और इन्होंने माध्यमिका तथा साकेत पर आक्रमण कर दिया। कहा जाता है कि राजधानी पाटलिपुत्र को भी उनके कारण खतरा पैदा हो गया था। परंतु इसी बीच में आक्रमणकारी के अपने देश के कुछ प्रांतों में विद्रोह उठ खड़े हुए और आक्रमण शीघ्र ही समाप्त हो गया।

मेनैंडर के विषय में हम अधिक विस्तार के साथ जानते हैं। ऊपर जिस बौद्ध ग्रंथ का नाम लिया गया है उसमें लिखा है कि उसे बौद्धमत के प्रति गहरी रुचि थी और अंत में वह इस मत का अनुयायी बन गया। इस पुस्तक में यूनान के राजा और बौद्ध भिक्षु नागसेन के बीच वार्तालाप का विवरण सुरक्षित है। काबुल और सिंधु की घाटियों में उत्तर प्रदेश के पश्चिमी ज़िलों में तथा सौराष्ट्र में मेनैंडर के सिक्के बहुत बड़ी संख्या में पाये गये हैं, जिससे पता चलता है राज्य कितनी दूर-दूर तक फैला हुआ था। अनुमान किया जाता कि मेनैंडर पहली-

शताब्दी ईसा-पूर्व में शासन करता रहा होगा। पर घटनाओं के पूरे क्रम के बारे में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता और उसके तिथि-क्रम संबंधी निष्कर्षों के विषय में मतभेद है।

मगध पर दूसरा आक्रमण कलिंग के राजा खारवेल ने किया। खारवेल का व्यक्तित्व अत्यंत रोचक है। उसके शासनकाल के विषय में जानकारी प्राप्त करने का स्रोत हाथिगुम्फा का अभिलेख है; इस अभिलेख में इस राजा के शासनकाल के विषय में जितना विस्तृत विवरण दिया गया है उसकी दृष्टि से यह सराहनीय है। इस अभिलेख से हमें खारवेल की विद्वत्ता और युद्धकालीन तथा शान्तिकालीन कलाओं में उसकी निपुणता का पता चलता है। सोलह वर्ष की अवस्था में खारवेल युवराज बना। चौबीस वर्ष की अवस्था में उसका राज्याभिषेक हुआ और इस अवसर पर उसने चक्रवर्ती की सम्मानित उपाधि धारण की। वह जैनमत का पक्का अनुयायी था। शीघ्र ही उसने पश्चिम में और मगध में अपना विजय-अभियान आरंभ किया; उसने सातवाहन वंश के राजा सातकर्णी से भी टक्कर ली जो दक्षिण में और आंध्र के कुछ भागों पर राज्य करता था: मगध पर अपने आक्रमण के दौरान में खारवेल ने राजगढ़ पर धावा किया और गोरथगिरि को पदच्युत करके विजय-गर्व के साथ अपने हाथियों को गंगा में पानी पिलाने के लिए ले चला। वह विद्या और कला का बहुत बड़ा संरक्षक, एक महान निर्माता और अजेय योद्धा था। उसके शासनकाल और विजय-अभियानों की तिथि के बारे में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वान उसे पुष्यमित्र का समकालीन बताते हैं, कुछ अन्य विद्वानों का कहना है कि वह पहली शताब्दी ईसा-पूर्व से शासन करता था।

पुष्यमित्र का उत्तराधिकारी उसका बेटा अग्निमित्र था जो विदिशा से राज्य-शासन चलाता था। वह मालविकाग्निमित्रम् का मुख्य पात्र है; इस नाटक से तो यही पता चलता है कि वह राज्य-शासन की अपेक्षा प्रेम की समस्याओं को हल करने में अधिक निपुण था। इसके बाद शुंगवंश के जो आठ राजा हुए उनके बारे में बहुत कम जानकारी प्राप्य है और उस युग के इतिहास में उनका कोई महत्व नहीं है। इन आठ राजाओं में से भागभद्र तो हमें इसलिए याद है कि उसके शासनकाल में यूनान के राजा ऐंटाल्सिडास के राजदूत हीलियोडोरस ने वैष्णव मत स्वीकार किया था और इस बात के स्मारक के रूप में बेसनगर में गरुड़ स्तंभ की स्थापना करायी थी। शुंगवंश के अंतिम राजा देवभूमि की हत्या करके उसके मंत्री वासुदेव ने ६८-६७ ई० पू० में काण्व राजवंश की स्थापना की। मगध, जो किसी समय में एक शक्तिशाली साम्राज्य था, उसके बचे-खुचे भाग पर काण्व वंश के चार राजाओं ने शासन किया। २२ ई० पू० में इस राजवंश का अंत हो गया।

शुंगवंश तथा काण्ववंश का शासनकाल राजनीतिक दृष्टि से बहुत ही कम महत्त्व रखता है। सामाजिक दृष्टि से इस काल में पुनः सामंतवाद और पुरोहित वर्ग की प्रभुसत्ता की स्थापना हुई और इनके प्रभुत्व में बहुत कम उन्नति की आशा की जा सकती थी। बौद्ध स्रोतों में बताया गया है कि शुंगवंश के प्रथम राजा ने बौद्धों के साथ अत्याचार किये। उसके उत्तराधिकारी अधिक सहिष्णु थे क्योंकि उन्हीं के शासनकाल में साँची तथा बरहुत के स्तूपों का निर्माण पूरा हुआ। कला की दृष्टि से ये सराहनीय स्मारक हैं और उनकी स्थापत्य-कला में हमें

उस काल के लोगों के दैनिक जीवन पर प्रकाश डालनेवाली प्रचुर सामग्री मिलती है।

जिस समय भारत के मध्यवर्ती भाग के राजा और सामंत पारस्परिक कलह, षड्यंत्र और हत्या में संलग्न थे उसी समय भारत के उत्तरी-पश्चिमी भाग में एक नयी जाति का उदय हुआ। ये सीथियाई जाति के लोग थे, जिन्हें भारतीय इतिहास में शक जाति कहा गया है। सीथियाई मध्य एशिया के निवासी थे और उन्हें युएह्-ची के आक्रमणों के कारण अपना देश छोड़ना पड़ा। दूसरी शताब्दी ईसा-पूर्व में सीथियाई जाति के लोग पार्थिया में रहते थे, और उन्हीं के नाम पर इस देश का नाम शक्स्थान या सेइस्तान पड़ा। यहाँ से वे उत्तर की ओर बढ़े और उनके एक दल के नेता मायेज़ ने तक्षशिला पर विजय प्राप्त की और इस प्रकार इस प्रदेश में यूनानी शासन का अंत कर दिया। मायेज़ के सिक्के अधिकांशतः पंजाब में पाये गये हैं; ऐसा अनुमान किया जाता है कि कदाचित उसका शासनकाल २० ई. पू. से २२ ई. तक रहा होगा। मायेज़ के बाद एज़ीस प्रथम गद्दी पर बैठा, इस समय सीथियाई शासकों का पार्थिया अर्थात् पूर्वी ईरान के शासकों के साथ निरंतर संबंध क़ायम रहा, कभी-कभी अमित्रता का संबंध भी रहा। इन शासको में से दो के नाम ध्यान देने योग्य हैं, एक वोनोनीज़ और दूसरा गोंडोफ़र्नीज़। वोनोनीज़ को "राजाओ का राजा" कहा गया है। संभव है कि पहले वह द्रांगियाना में राजा का प्रतिनिधि (वाइसराय) रहा हो, बाद में वह मिथरादेतीज़ द्वितीय के स्थान पर गद्दी पर बैठा।

गोंडोफ़र्नीज़ ने धीरे-धीरे अपनी सत्ता को बढ़ाया और अंत में सम्राट् बन बैठा। उसने २१ ई. से ४६ ई. तक शासन किया। ईसाई स्रोतों के अनुसार देवदूत सेंट थोमस ईसा के सूली पर चढ़ाये जाने के शीघ्र ही बाद २९ या ३३ ई. में उसके दरबार में आये थे।

यह थी शक जाति की पृष्ठभूमि। परंतु यहाँ पर हमें भारत में शकों की सत्ता के विकास में दिलचस्पी है। मथुरा और मध्यवर्ती तथा पश्चिमी भारत के शक क्षत्रप परिवारों की भारत के इतिहास में बहुत दीर्घकाल तक—मगध शासन के अन्त से लेकर गुप्त साम्राज्य की स्थापना तक—महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। मथुरा के क्षत्रपों में राजुवेल तथा उसके पुत्र शोडास के नाम सुविख्यात हैं। पश्चिमी क्षत्रपों में भूमक का नाम गुजरात के तटवर्ती प्रदेशों, सौराष्ट्र और मालवा में पाये गये सिक्कों के कारण प्रसिद्ध है। उसका उत्तराधिकारी नहपान था जिसकी राजधानी जुन्नर में थी। वह बड़ा दानी था और बौद्धों तथा ब्राह्मणों दोनों के प्रति समान रूप से उदार था। उसने विश्रामगृह, पिआऊ, सार्वजनिक भवन बनवाये और निगम सभाओं की परम्परा को दुबारा स्थापित किया। उज्जयिनी के क्षत्रपों में च्राष्टण और उसके उत्तराधिकारी रुद्रदमन का उल्लेख किया जाना चाहिये। रुद्रदमन का जूनागढ़ का अभिलेख अत्यंत महत्त्व-पूर्ण है : उसमें रुद्रदमन के बारे में लिखा है कि प्रजा ने उसे महाक्षत्रप के रूप में शासन के लिए निर्वाचित किया था। उसका राज्य पूर्वी तथा पश्चिमी मालवा, माहिष्मति प्रदेश, सौराष्ट्र, कच्छ, सिंधु घाटी के निचले भाग, पश्चिमी तथा मध्य भारत के कुछ भाग और उत्तरी कोंकन में फैला हुआ था। उजयिनी के क्षत्रपों की सातवाहनों से कई बार टक्कर हुई; उन्हें मध्य भारत के यौधेय तथा इसी प्रकार के अन्य स्थानीय सत्ताधीशों का भी सामना करना पड़ा।

प्रशासन की क्षत्रपीय पद्धति भारत में शक शासन की विशिष्ट लाक्षणिकता थी, जिसे वे

ईरान से अपने साथ लाये थे। ईरान में प्रशासन का प्रधान क्षत्रप होता था; वह कर वसूल करता था, स्थानीय अधिकारियों, अधीन जातियों और नगरों पर नियंत्रण रखता था और अपने प्रशासन-क्षेत्र में सर्वोच्च न्यायाधीश का भी काम करता था। इस प्रकार उसके दायित्वों में पौर प्रशासन, न्याय और सेना सभी से संबंधित कृत्य शामिल थे। यद्यपि वह सर्वोच्च शासक के प्रतिनिधि के रूप में ही शासन करता था, परंतु बहुधा उसमें स्वतंत्र रूप से काम करने की प्रवृत्ति पायी जाती थी और उसका व्यवहार ऐसा होता था मानो वह स्वयं ही सर्वोच्च सत्ता का अधिकारी हो।

उत्तरी तथा उत्तरी-पश्चिमी भारत के क्षत्रपों का शासनकाल सबसे थोड़ा रहा क्योंकि कुषाणों की शक्ति के उदय के साथ उनका स्वतंत्र पद उनसे छिन गया। कुषाण जिन्हें चीनी इतिहासकार युएह-ची कहते हैं, ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी में मध्य एशिया में रहते थे। उन्हें हिडंग-नू ने पराजित किया था और उन्हें पश्चिम की ओर भागना पड़ा। सीर दरिया के मैदानों में कुषाणों की शकों से लड़ाई हुई पर वू-सुन ने उन्हें और पश्चिम की ओर ढकेल दिया। पहला उल्लेखनीय कुषाण राजा कैडफ़िसीज़ प्रथम (१५-६५ ई.) है, जो अपने आपको महाराजा और सत्यधर्मस्थित कहता था, जिससे उसकी धार्मिक रुचि का पता लगता है। उसका पुत्र कैडफ़िसीज़ द्वितीय वेम था। उसने उत्तरी भारत को जीतकर कुषाण सत्ता का क्षेत्र भारत में और अंदर तक फैला लिया। रोमन सिक्कों की नक़ल में वेम ने भी सोने के सिक्के जारी किये और ऐसा प्रतीत होता है कि वह शिव का भक्त था।

कनिष्क के समय में भारत में कुषाण सत्ता अपने शिखर पर पहुँच गयी। पूरब में बिहार से लेकर पश्चिम में ख़ुरासान तक और उत्तर में खुतन से लेकर दक्षिण में कोंकन तक फैले हुए एक समृद्धिशाली तथा विस्तृत राज्य पर उसका शासन था। उत्तर प्रदेश, मध्य भारत तथा काबुल के क्षेत्र में कई अभिलेखों में उसका उल्लेख मिलता है। उसने मध्य एशिया में चीनियों के विरुद्ध एक असफल आक्रमण किया।

परंतु कनिष्क की ख्याति उसकी शक्ति और रण-कौशल में उसकी योग्यता के कारण उतनी नहीं है जितनी बौद्धमत को प्रोत्साहन और संरक्षण देने के कारण। बौद्ध वृत्तांतों में उसका उल्लेख बौद्धमत के संरक्षक, एक दूसरे अशोक के रूप में किया गया है और यह बताया गया है कि उसके समय में काश्मीर में बौद्ध परिषद् की बैठक हुई जिसकी अध्यक्षता वसुमित्र ने की और जिसमें पार्श्व और बुद्धचरित तथा सौन्दरानंदकाव्य के रचयिता अश्वघोष जैसी प्रसिद्ध बौद्ध महान विभूतियों ने भाग लिया। इस परिषद् में महायान पंथ के तत्कालीन बौद्ध साहित्य को संग्रह किया गया तथा उसका सम्पादन किया गया; इसमें बौद्ध-दर्शन का विश्व-कोष महाविभाष भी शामिल था जो मूलतः संस्कृत में लिखा गया था पर बाद में कहीं खो गया और अब एक चीनी अनुवाद के रूप में ही सुरक्षित है। कनिष्क के बारे में यह भी प्रसिद्ध है कि वह बहुत बड़ा निर्माता और कला का पुजारी था। यद्यपि वह स्वयं बौद्ध था पर उसकी प्रजा जिन यूनानी, सुमेरियाई, ज़रतुश्त के अनुयायियों के, एलामी और हिन्दू देवताओं की, पूजा करती थी उन सबका वह सम्मान करता था। उसके दरबार में वसुमित्र, अश्वघोष चरक, नागार्जुन, माठर आदि महापुरुषों जैसे रत्न थे जिन्होंने उस युग के धर्म, साहित्य, दर्शन, विज्ञान तथा

कला के क्षेत्र में प्रमुख भूमिका का निर्वाह किया। यह बात सामान्यतः स्वीकार की जाती है कि गांधार की कला, जिसमें बुद्ध की मूर्ति का जी खोलकर प्रयोग किया गया है, इसी काल में फली-फूली और उसने भारत के अन्तःप्रदेश के कलात्मक विकास को प्रभावित किया।

महान कुषाण सम्राटों का युग भारत के इतिहास में सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उनके साम्राज्य की सीमाएँ रोमन साम्राज्य से मिली हुई थीं और यहाँ व्यापार तथा वाणिज्य द्वारा विदेशों से बहुत बड़ी मात्रा में बहुमूल्य सोना आता था। इस साम्राज्य में चार विभिन्न सांस्कृतिक परम्पराओं का संगम हुआ—भारतीय, ईरानी, रोमन तथा चीनी। यह बात कुषाण सम्राटों द्वारा प्रयुक्त महाराजा, सत्यधर्मस्थित, कैसर तथा देवपुत्र आदि कुछ उपाधियों में प्रतिबिंबित होती है। इन सम्राटों ने बौद्धमत को जो संरक्षण तथा प्रोत्साहन दिया उसकी सहायता से यह मत मध्य एशिया तथा चीन तक फैल गया; और स्थापत्य-कला तथा मूर्तिकला को उनके द्वारा दिये गये संरक्षण तथा प्रोत्साहन ने इस भूमि को अनेक महान स्मारकों तथा मूर्तियों से समृद्ध बनाया। साहित्य, कला तथा विज्ञान उन्नति के नये शिखर पर पहुँच गये और भारतीय संस्कृति में विदेशों से नये विचारों का संचार हुआ।

कनिष्क के उत्तराधिकारी महत्वहीन व्यक्ति थे। कनिष्क के दीर्घ शासनकाल (जो संभवतः ७८ ई०, जो शक संवत् का प्रथम वर्ष था, से आरंभ हुआ) के बाद कुषाण साम्राज्य ने अपनी बहुत काफ़ी शक्ति खो दी यद्यपि यह साम्राज्य संकुचित रूप में चौथी शताब्दी ईसवी तक क़ायम रहा।

जिस समय मौर्य साम्राज्य अपने ह्रास की अंतिम अवस्था में था उस समय भारत की राजनीतिक एकता धीरे-धीरे भंग होती जा रही थी और अनेक छोटे-छोटे राज्य तथा रियासतें अस्तित्व में आती जा रही थीं। इसी समय विदेशियों के आक्रमण भी हुए, पहले यूनानियों का, फिर शकों का और अंत में मध्य एशिया के युएह-ची का। मौर्यों तथा गुप्तों के "सर्वव्यापी" साम्राज्यों के बीच की अवधि में "सर्वव्यापी" बौद्धमत की उन्नति हुई, पहले उसके कट्टरपंथी रूप में और फिर महायान के रूप में जो पूरे भारत में और पर्वतमाला के उस पार तक फैल गया। इस प्रकार एक ओर जहाँ राजनीतिक क्षेत्र में विखंडन हुआ तो दूसरी ओर भारतीय धार्मिक प्रयासों के क्षेत्र में गठन तथा वृद्धि हुई। इस प्रकार भारत एक नये युग के द्वार पर खड़ा था जिसमें एक महान संश्लेषण होनेवाला था। भारत में नयी जातियों और उनके साथ नयी संस्थाओं तथा नये विचारों के आगमन से एक नये सामाजिक वातावरण की रचना हुई। पहली बार वस्त्रों की एक नयी पद्धति—सिले हुए कपड़ों की पद्धति—प्रचलित की गयी, सोने के सिक्कों का प्रचलन बहुत बड़े पैमाने पर हुआ और एक प्रतीक के रूप में बुद्ध की प्रतिमा भारतीय जनता की समस्त आंतरिक भावनाओं तथा आत्मिक आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति करने लगी। यायावर जातियाँ पहले विदेशी बर्बर जातियों के रूप में आयीं परंतु शीघ्र ही वे भारतीय ज्ञान और कला की संरक्षक बन गयीं और उन्होंने परम्परा के मृत हाथों से उसे मुक्त कराने में सहायता दी। अतएव इस इतिहास की लय में नये सुर थे जो आरंभ में कर्कश थे जैसे कि विदेशी आक्रमणों के समय, परन्तु बाद में उन्होंने प्राचीन भारतीय जीवन की परम्परा को और भी समृद्ध बना दिया।

## परिशिष्ट

## विक्रमी तथा शक संवत् के बारे में कुछ शब्द

जब सही-सही तिथि-निर्धारण का प्रश्न उठता है तो प्राचीन भारत के इतिहास के विभिन्न कालों के विषय में एक अत्यंत रोचक अस्पष्टता देखने में आती है। विभिन्न कालों और विभिन्न क्षेत्रों में समय को नापने की अलग-अलग पद्धतियाँ थीं। एक विक्रमी संवत् था (जिसका प्रथम वर्ष ५८-५७ ई० पू० में पड़ा), एक शक संवत् था (जिसका प्रथम वर्ष ७७-७८ ई० में पड़ा), फिर गुप्त काल था (जिसका प्रथम वर्ष ३१८-३१९ ई० में पड़ा) और फिर हर्षकाल। अतिरिक्त हाथिगुम्फा में राजा खारवेल के शिलालेख में मौर्यकाल का भी एक अस्पष्ट उल्लेख मिलता है। इनमें विक्रमी तथा शक संवत् विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं।

परम्परा के अनुसार विक्रमादित्य नामक एक राजा को, जिसकी राजधानी उज्जयिनी में थी, विक्रमी संवत् का संस्थापक बताया जाता है; उसने शकों को प्रशस्त किया और ऐसा अनुमान है कि इसी घटना की स्मृति के रूप में उसने यह संवत् चलाया था। इस विषय में बहुत कुछ लिखा गया है कि इतिहास में विक्रमादित्य नाम का कोई राजा था भी कि नहीं। अभी तक इस राजा का कोई शिलालेख या सिक्का नहीं मिला है, और शकों के विरुद्ध उसकी विजय की प्रतिध्वनि रणक्षेत्र से नहीं बल्कि किंवदंतियों से आती है। सब बातों पर विचार करने के बाद संभावना यही प्रतीत होती है कि इस नाम का कोई राजा कभी नहीं हुआ और वास्तव में यह संवत् "सीथियाई-पार्थियाई संवत्" था जो पहली शताब्दी ईसा-पूर्व के मध्य लगभग वोनोनीज़ के राज्याभिषेक के समय से आरंभ हुआ।" इस संवत् के अनुसार काल निर्धारित करने की पद्धति मालव जाति के लोग पंजाब से राजपूताना और मध्य भारत में लाये और वहाँ पहुँचकर इसका नाम भी मालवों ने अलग रख दिया।

फिर भी भारतीय परम्परा विक्रमादित्य के जीवन तथा कृत्यों के विषय में इतने ही दृढ़ रूप से अटल है। यह कहना कठिन है कि यह परम्परा पूर्णतः कपोलकल्पित है। "विक्रमी संवत्" के पक्षधरों ने इसके विषय में जो सिद्धांत निर्धारित किये हैं उसे हम ज्यों का त्यों तो स्वीकार नहीं कर सकते फिर भी हमें संतोषजनक ढंग से बताना पड़ेगा कि विक्रमादित्य के बारे में ये परम्परागत बातें किस प्रकार आरंभ हुईं और यदि इसका कोई इतिहासगत आधार है तो वह क्या है। इस विषय पर आगे चलकर फिर चर्चा की जायेगी। इस समय तो इतना ही बता देना काफ़ी है कि इसका कोई विश्वस्त प्रमाण नहीं मिलता कि इतिहास में विक्रमादित्य नाम का कोई राजा था और न इसी बात का प्रमाण मिलता है कि यह संवत् उसका चलाया हुआ है।

शक संवत् अपने राज्याभिषेक के समय किसी सीथियाई शासक का चलाया हुआ प्रतीत

होता है। पर अभी तक निर्विवाद रूप से यह निश्चित नहीं किया जा सका है कि यह राजा कौन था। सबसे अधिक व्यापक रूप से स्वीकृत मत यह है कि यह संवत् ७८ ई. में कनिष्क ने चलाया था और शकों ने (जो कुषाणों के आधिपत्य में थे) काल-निर्धारण की इस पद्धति का प्रयोग किया और समय की गति के साथ इसका नाम शक संवत् पड़ गया। गुप्तकाल तथा हर्षकाल पर यहाँ विवेचना करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि उन पर हम आगे चलकर प्रकाश डालेंगे। पर महत्त्वपूर्ण बात यह है कि संवत् के रूप में समय नापने की पद्धति को सबसे पहले विदेशियों ने प्रचलित किया तथा लोकप्रिय बनाया। यह प्राचीन भारतीय संस्कृति में विदेशियों के योगदान का एक उदाहरण है और इस विषय का अध्ययन करना हमारे लिए महत्व रखता है।

— ६ —

# विंध्याचल के पार

सातवाहन (लगभग २३४ ई. पू. से २५० ई. तक)
पल्लव (लगभग २०० ई. से ९०० ई. तक)
कदम्ब (चौथी शताब्दी ईसवी से छठी शताब्दी ईसवी तक)

अशोक की मृत्यु के बाद मौर्य साम्राज्य के पतन के फलस्वरूप सारे देश में नाना प्रकार की प्रतिक्रियाएँ हुईं। उत्तर में कई राज्य बन गये और शक तथा कुषाण जैसी विदेशी जातियाँ इस रिक्त स्थान को भरने के लिए भारत में घुस आयीं। प्राचीन भारत का इतिहास अधिकांशतः उत्तरी भारत का इतिहास प्रतीत होता है; इस वृत्तांत में दक्षिणी भारत को केवल एक नगण्य स्थान दिया जाता है। ऐसा प्रतीत होने के कई कारण हैं, जिनमें सबसे प्रमुख कारण हमारे इतिहास के स्रोतों का स्वरूप है। ब्राह्मण स्रोत भारत के केवल मध्यवर्ती भाग तक सीमित हैं और उनमें दक्षिणी भारत की घटनाओं के बारे में बहुत ही थोड़ी जानकारी प्रदान की गयी है। बौद्ध स्रोतों में अशोक के बाद भारत के इतिहास के बारे में कुछ कहा ही नहीं गया है; केवल मंजुश्री मूलकल्प में गुप्तवंश के राजाओं तथा उनके उत्तराधिकारियों के बारे में बताया गया है। सातवाहनों और पल्लवों के प्रमुखता प्राप्त करने से पहले हमारे ऐतिहासिक वृत्तांतों में दक्षिण एक अपरिचित प्रदेश प्रतीत होता है। परंतु पिछले कुछ वर्षों में तामिल स्रोतों के अधिक गूढ़ अध्ययन के फलस्वरूप यह अंधकार धीरे-धीरे दूर होता जा रहा है; और जैसे-जैसे हम अपनी गवेषणा में प्रगति करते जायेंगे वैसे-वैसे हमें निश्चित रूप से इतिहास के प्राचीनकाल में दक्षिणी भारत के इतिहास का अधिक पूर्ण विवरण प्राप्त होता जायेगा।

ब्राह्मणों के साहित्य में, जिसमें भारत के मध्यवर्ती भाग के बारे में इतना कुछ बताया गया है, दक्षिण के बारे में जानकारी की अस्पष्टता तथा अभाव के कारण साफ़ हैं। बहुत समय तक आर्यों के राज्यविस्तार की सुदूरतम सीमा विंध्याचल पर आकर समाप्त हो जाती थी, इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि उसके पार के इलाक़ों के बारे में जानकारी अस्पष्ट हो। पर ऊँचे से ऊँचा पर्वत भी अनिश्चितकाल तक अलंघ्य बाधा नहीं बना रह सकता था और धीरे-धीरे आर्यों की बस्तियाँ दकन के इलाक़े में और दक्षिणी भारत में भी बस गयी होंगी। पौराणिक कथाओं में इस बात का उल्लेख मिलता है कि दक्षिण में आर्यों की बस्तियाँ बसाने के अग्रदूत ऋषि अगस्त्य थे जो पोदियिल पहाड़ी पर जाकर बस गये थे। पौराणिक कथाओं में बताया गया है कि अगस्त्य ऋषि ने तमिल भाषा स्वयं भगवान शिव से सीखी थी और वह तमिल भाषा

के व्याकरण तथा शब्दकोश के प्रथम रचयिता थे। दक्षिण में आर्य ढंग के राजनीतिक तथा सामाजिक संगठन प्रचलित करने का श्रेय भी उन्हीं को दिया जाता है।

स्पष्ट है कि इस प्रकार की किंवदंतियों पर अक्षरशः विश्वास तो नहीं किया जा सकता परंतु इनसे पता चलता है कि अग्रणियों द्वारा दक्षिण का आर्यीकरण किस प्रकार हुआ; इन अग्रणियों में योद्धाओं जैसा प्रबल उत्साह भी था और तपस्वियों जैसी निःस्वार्थ भावना भी। परंतु एक बार विंध्याचल पर्वत के पार जाने का पथ मिल जाने पर वह शीघ्र ही एक प्रशस्त मार्ग बन गया। समय की गति के साथ देश के दोनों भागों के बीच व्यापारिक संबंध बढ़ते गये और इसके साथ ही दक्षिणी भारत तथा वहाँ के जीवन पर रहस्य का जो परदा पड़ा हुआ था वह उठ गया। पाली के बौद्ध वाङ्मय में दक्षिण के पतिट्ठान नामक नगर का उल्लेख मिलता है और सुत्त निपात में बताया गया है कि गोदावरी के तट पर जंगल में रहनेवाले बावरी नामक ऋषि ने जब गौतमबुद्ध के बारे में सुना तो उसने नवजीवन के इस देवदूत के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए अपने शिष्यों को मगध भेजा। इस पुस्तक में यह भी बताया गया है के बावरी के शिष्यों ने पतिट्ठान (यह औरंगाबाद के निकट वही स्थान है जिसे आजकल पैथन कहते हैं) से उत्तर की यात्रा किस मार्ग से की।

अशोक के शिलालेखों में हमें चोल, पांड्य तथा केरल जातियों का उल्लेख मिलता है; इन्हें स्वतंत्र जातियाँ बताया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय दो चोल राज्य थे, एक उत्तरी तथा एक दक्षिणी। इस राज्य का विस्तार तिरुचिरापल्ली तथा अर्काट के आसपास के इलाक़े में था। पांड्य राज्य में दक्षिण में तिरुनेलवेली का इलाक़ा शामिल था और "यह राज्य में कोयम्बतूर के दर्रे के आसपास के पहाड़ी इलाक़े तक फैला हुआ था।" यह संभव है कि चोल राज्य की तरह पांडय राज्य भी उत्तरी तथा दक्षिणी भागों में विभाजित रहा हो। पांडय राज्य का बना हुआ सूती कपड़ा और वहाँ के मोती सुप्रसिद्ध थे और उनकी बड़ी माँग थी। मेगास्थनीज़ ने लिखा है कि पांड्यों पर एक रानी शासन करती थी जिसके राज्य में ३६५ गाँव थे। अशोक ने जिस सत्यपुत्र प्रदेश का उल्लेख किया है वह वही था जो आधुनिक त्रावणकोर है और केरल प्रदेश में दक्षिणी कनाड़ा, कुर्ग, मलाबार, मैसूर का उत्तरी-पश्चिमी भाग और कदाचित त्रावणकोर के सबसे उत्तरी भाग शामिल थे।

दकन प्रदेश का सबसे महत्त्वपूर्ण उल्लेख तृतीय बौद्ध परिषद् के वृत्तांत में मिलता है। इस वृत्तांत में बताया गया है कि इस परिषद् की कार्यवाही समाप्त होने के बाद परिषद् के अध्यक्ष मोगल्लिपुत्त तिस्सा ने भारत के विभिन्न भागों में और विदेशों में बौद्ध धर्मप्रचारकों को भेजा। योन रक्खित नामक एक प्रचारक अपरांत भेजा गया; कुछ विद्वानों का मत है कि उस समयका अपरांत ही आधुनिक महाराष्ट्र है। दकन प्रदेश अशोक के साम्राज्य का एक अंग था और सोपारा कदाचित एक मौर्य राज्यपाल का प्रशासन-केंद्र था।

सातवाहनों की शक्ति के उदय के साथ अनुमान और अटकल के स्थान पर हमें पुराणों तथा अभिलेखों में अंकित सुप्रमाणित तथ्य मिलने लगते हैं। तीन शताब्दियों से अधिक समय तक दकन प्रदेश में तथा आंध्रदेश में सातवाहनों की शक्ति सर्वोपरि रही। सातवाहन

वंश के राजा अपने आपको "दक्षिणापथस्वामि" कहते थे; दक्षिणापथ का अभिप्राय सामन्यतः पूरे दकन प्रदेश से है। पुराणों में इस वंश के तीस से अधिक राजाओं का उल्लेख मिलता है और उनके बारे में कहा जाता है कि उन्होंने ४०० से अधिक वर्षों तक शासन किया।

सातवाहनों ने कब से कब तक शासन किया और उनका मूल निवासस्थान कहाँ था, इसके बारे में काफ़ी अनिश्चितता पायी जाती है। पुराणों के अनुसार इस वंश का संस्थापक सिमुक था जिसने काण्व वंश के अंतिम राजा सुशर्मन को मार डाला था, जिससे स्पष्ट रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि काण्वों के तुरंत बाद ही सातवाहनों का काल आया। चूँकि सुशर्मन की हत्या पहली शताब्दी ईसा-पूर्व के अंतिम पच्चीस वर्षों में कभी हुई थी इसलिए यह मान लेना होगा कि सातवाहन वंश का शासनकाल भी लगभग इसी समय आरंभ हुआ होगा। यह भी तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि पुराणों में जिन ३० राजाओं के नाम दिये गये हैं उनमें से कुछ नाम ऐसे राजकुमारों के भी हैं जो वस्तुतः शासन नहीं करते थे और यह कहना अधिक तर्कसंगत होगा कि इस वंश के १९ राजाओं ने कुल मिलाकर ३०० वर्षों तक शासन किया। परंतु इस समय इस प्रश्न पर वाद-विवाद जिस स्थिति में है उसे देखते हुए हमारे लिए अधिक उचित यही होगा कि हम यह मानकर चलें कि इस वंश का आरंभ इससे भी पहले दूसरी शताब्दी ईसा-पूर्व में हुआ। यह संभव है कि सातवाहन वंश का पहला शासक मौर्य साम्राज्य के अंतर्गत कोई राजकर्मचारी रहा हो जिसने अशोक की मृत्यु के परिस्थिति का लाभ उठाकर अपने आपको स्वतंत्र घोषित कर दिया हो। सिमुक ने २३ वर्षों तक शासन किया; उसे अपने शासनकाल के शुरू के वर्षों में जैन मंदिर तथा चैत्य बनवाने का श्रेय दिया जाता है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि बाद में वह दुष्ट हो गया।

सिमुक का उत्तराधिकारी उसका भाई कृष्ण प्रथम था, जिसका राज्य पश्चिम में नासिक तक फैला हुआ था। यह बात ध्यान देने योग्य है कि सातवाहनों के सब से पुराने शिलालेख उत्तरी महाराष्ट्र में नहीं बल्कि नासिक में पाये गये हैं जिससे यह संकेत मिलता है कि शुरू-शुरू में सातवाहनों का कार्यक्षेत्र दकन प्रदेश के पश्चिमी भाग में था और संभवतः यही उनका मूल निवासस्थान रहा होगा। पुराणों में उन्हें आंध्रभृत्य (आंध्र के सेवक) कहा गया है, और एक ज़माने में यह विश्वास किया जाता था कि सातवाहन आंध्र के निवासी थे। परंतु अब यह मत स्वीकार्य नहीं रह गया।

कृष्ण के बाद श्री सातकर्णी प्रथम गद्दी पर बैठा; उसकी पत्नी नागनिका ने, जो महारथी त्रनकयिर की पुत्री थी, ननघट के एक शिलालेख में उल्लेख किया है कि सातकर्णी ने राजसूय तथा अश्वमेध आदि अनेक यज्ञ किये। इसलिए हम यह मान सकते हैं कि वह एक शक्तिशाली राजा और एक महान विजेता था। सातकर्णी प्रथम और गौतमीपुत्र के शासनकाल के बीच की अवधि में शकों के अतिक्रमण के कारण सातवाहनों की सत्ता का ह्रास होने लगा। परंतु गौतमीपुत्र ने शकों, यवनों तथा पहलवों को परास्त करके अपने वंश की खोयी हुई सम्पदा को फिर प्राप्त कर लिया। क्षहरतों को कुचल दिया गया और पश्चिमी तथा मध्य भारत के बहुत बड़े भाग को विदेशी आधिपत्य से मुक्त करा लिया गया। इस प्रकार

गौतमीपुत्र का राज्य दक्षिण में कृष्णा नदी से लेकर उत्तर में मालवा तथा सौराष्ट्र तक और पूरब में बरार से लेकर पश्चिम में कोंकन तक के पूरे क्षेत्र में फैला हुआ था। उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है कि वह अत्यंत सुंदर, निर्भीक, माता-पिता का सम्मान करनेवाला तथा पराजितों के प्रति उदार था।

गौतमीपुत्र का उत्तराधिकारी उसका पुत्र वाशिष्टिपुत्र पुलुमायि था जिसने २४ से अधिक वर्षों तक शासन किया। उसके सिक्के गोदावरी और गुंटूर के ज़िलों में और कोरोमंडल तट पर दक्षिण में कड्डालूर तक पाये गये हैं। इसके बाद शकों के राज्य-विस्तार के प्रवास भयानक रूप धारण करने लगे और फलस्वरूप पश्चिमी राजपूताना तथा मालवा का प्रदेश सातवाहनों से छिन गया। परंतु श्री यज्ञ सातकर्णी ने कुछ खोया हुआ इलाक़ा फिर वापस जीत लिया; श्री यज्ञ सातकर्णी के शिलालेख नासिक, कन्हेरी तथा चिन्न-गंजाम में पाये गये हैं। सातवाहन वंश के अंतिम शासक पुलुमायि था; उसका एक शिलालेख वेलारी ज़िले में पाया गया है।

दकन प्रदेश के इतिहास में सातवाहनों का शासन सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत महत्व रखता है। यद्यपि वे कट्टर ब्राह्मण-भक्त थे पर वे अन्य मतों का संरक्षण भी बड़ी उदारता से करते थे। और उन्हीं के शासनकाल में कार्ले, कन्हेरी तथा नासिक के कुछ गुफा-मंदिर बनवाये गये। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी मुद्रा विपुल परिमाण में थी क्योंकि उनके शासन काल के सिक्कों के बहुत बड़े-बड़े भंडार मिले हैं। सातवाहन वंश का हाल नामक एक शासक साहित्य का बहुत बड़ा पुजारी था; सामान्यतः यह माना जाता है कि प्राकृत के गाथासप्तशति नामक प्रेम-काव्य का रचयिता वही था; यह उस साहित्य की कदाचित एकमात्र प्राप्य कृति है जिसका क्षेत्र किसी समय में अवश्य ही अत्यंत व्यापक रहा होगा। इन राजाओं के राज्य के विस्तार ने उत्तर तथा दक्षिण के बीच सम्पर्क स्थापित किया, जिसके फलस्वरूप दक्षिण में आर्य संस्कृति के प्रभावों के फैलने में सुविधा हो गयी।

सातवाहनों के पराभव के साथ ही नये राज्य उत्पन्न होने लगे। मध्य प्रदेश में वाकाटकों के राज्य का उदय हुआ; दकन प्रदेश के उत्तर-पश्चिम में आभीरों का प्रभुत्व हो गया; आंध्र देश के मध्यवर्ती क्षेत्रों पर इक्ष्वाकुओं ने अधिकार जमा लिया; और बृहत्फलायन मसुलिपटम के आसपास के प्रदेश के दावेदार बन बैठे। पर इससे भी दक्षिण प्रदेश की ओर उस शक्ति का उदय हो रहा था जो शीघ्र ही पूरे दक्षिण प्रदेश के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जीवन पर छा गयी। यह काञ्ची के पल्लवों की सत्ता थी।

पल्लवों की शक्ति का उदय ऐसे समय पर हुआ जब दक्षिण में उत्तरी भारत के सांस्कृतिक प्रभाव निरंतर प्रविष्ट हो रहे थे। उनकी राजधानी काञ्ची संस्कृत के विद्वानों, ब्राह्मणों, बौद्धों तथा जैनों का केंद्र बन गयी और सारे देश पर अपना प्रभाव डालने लगी।

पल्लवों का इतिहास तो अत्यंत गौरवशाली था पर इस समस्या को अभी तक ठीक-ठीक नहीं हल किया जा सका है कि उनकी मूल उत्पत्ति कहाँ से हुई। पल्लव तथा पहलव के उच्चारण की समानता के आधार पर एक समय में यह तर्क प्रस्तुत किया जाता था कि वे मूलतः पार्थिया के रहनेवाले विदेशी थे; परंतु अब इस धारणा को त्यागकर यह माना जाने

लगा है कि वे इसी भूमि के मूल निवासी थे। परंतु इसकी पुष्टि में जो प्रमाण मिलते हैं वे बहुत थोड़े हैं और उन पर निश्चित रूप से विश्वास नहीं किया जा सकता और यह समस्या अब तक एक पहेली बनी हुई है। पल्लवों के मुख्यतः दो दल हैं: एक तो वे पल्लव जिनका उल्लेख प्राकृत के वृत्तांतों में मिलता है और एक वे जिनका उल्लेख संस्कृत के पुरालेखों में मिलता है। पुरालेखों में जिस प्राचीनतम राजा का उल्लेख मिलता है वह है महाराजा बप्प स्वामी (यह नाम किसी व्यक्ति के नाम की अपेक्षा किसी की उपाधि अधिक मालूम होता है); इसके राज्य में काञ्ची के आसपास का इलाक़ा शामिल था जिसके दक्षिण में पलर और उत्तर में कृष्णा नदी थी। इसके बाद शिवस्कंदवर्मन राजा बना जिसने कदाचित पल्लव सत्ता के विस्तार की स्मृति के रूप में अश्वमेध, वाजपेय तथा अग्निस्तोम यज्ञ कराये; पल्लवों का राज्य इस समय तक दक्षिण पेन्नर तक फैल चुका था और उत्तर में गोदावरी तथा कृष्णा नदियों के बीच के तेलुगु प्रदेश इस राज्य में सम्मिलित हो गये थे, इसी समय में अमरावती बौद्धमत का बहुत बड़ा केंद्र हो गया और बढ़ते हुए व्यापार तथा वाणिज्य से जनता की समृद्धि में बहुत वृद्धि हुई। शिवस्कंदवर्मन का उत्तराधिकारी विजयस्कंदवर्मन था जिसके बारे में हमें बहुत थोड़ी जानकारी प्राप्त है। इसके बाद विष्णुगोप नामक राजा हुआ जिसका उल्लेख इलाहाबाद के स्तंभ पर समुद्रगुप्त के अभिलेख में किया गया है; उसके बारे में कहा गया है कि गुप्त सम्राट् ने उसे युद्ध में पराजित किया था।

छठी शताब्दी ईसवी में सिंहविष्णु के शासनकाल से पल्लवों के इतिहास में एक नये अध्याय का श्रीगणेश होता है। ऐसा अनुमान है कि संस्कृत का प्रसिद्ध कवि भारवी उसी के दरबार में था। सिंहविष्णु ने चोल राजाओं के विरुद्ध लड़ाई की और तामिलनाड में अपना राज्य और दूर तक फैला लिया। वह वैष्णव मत का अनुयायी था।

सिंहविष्णु के उत्तराधिकारी महेंद्रवर्मन प्रथम (लगभग ६००–६३० ई.) का शासनकाल कई कारणों से स्मरणीय रहा। उसी के शासनकाल में चट्टानों को काटकर मंदिर बनाने का काम बहुत बड़े पैमाने पर आरंभ हुआ और उसी के शासन काल में अप्पर की धार्मिक कार्यवाहियाँ और भारवी की साहित्यिक सफलताएँ देखने में आयीं। इसी काल में चालुक्यों और पांड्यों के साथ पल्लवों के भीषण संघर्ष हुए जो १५० से अधिक वर्षों तक चलते रहे। महेंद्रवर्मन, जो पहले जैनमत का अनुयायी था, शैव हो गया और इसका श्रेय अप्पर को है। इसके बाद चिंगलपट और उत्तरी तथा दक्षिणी अर्काट के ज़िलों में चट्टानें काटकर मंदिर बनाये गये।

महेंद्रवर्मन का उत्तराधिकारी नरसिंहवर्मन प्रथम (लगभग ६३०–६४५ ई.) चालुक्यों की राजधानी वातपी (बादामी) के विजेता के रूप में प्रख्यात है। चालुक्यों के राजा पुलकेशिन द्वितीय ने पल्लवों के राज्य पर आक्रमण किया था और उनकी राजधानी के बहुत निकट तक बढ़ आया था। परंतु बाद में उसे पीछे ढकेल दिया गया और उसकी राजधानी वातपी तक खदेड़ दिया गया; वातपी पर घेरा डाल दिया गया और पल्लव सेनाएँ राजधानी पर टूट पड़ीं। नरसिंहवर्मन ने श्रीलंका के राजवंश के एक निर्वासित राजा मानवम्म को उसका सिंहासन

विष्णुकुण्डिन वंश के राजा कुछ समय के लिए कृष्णा ज़िले पर छाये रहे। परंतु दक्षिण के इतिहास में इन दोनों में से किसी का भी अधिक महत्व नहीं है।

समय की गति के साथ विंध्याचल पर्वत के उस पार की भूमि पर बारी-बारी से सातवाहनों, पल्लवों तथा कदम्बों की सत्ता का उदय हुआ और कुछ समय तक फलने-फूलने के बाद ये सभी राज्य लुप्त हो गये। यद्यपि उनके राजनीतिक कार्यों का महत्व केवल अस्थायी था और छोटे-छोटे प्रदेशों तक सीमित था फिर भी प्राचीन भारतीय इतिहास का पूरा मूल्यांकन करते समय हम देखते हैं कि उनका सांस्कृतिक योगदान बहुत अधिक था। उनमें से अधिकांश पर उत्तरी भारत का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। इसके साथ ही उत्तरी भारत की संस्कृति भी द्राविड़ संस्कृति में घुलमिल गयी और इस प्रकार भारत की सांस्कृतिक एकता की स्थापना हुई। सातवाहनों ने प्राकृत भाषा को प्रोत्साहन दिया और अपने अभिलेखों में इसी भाषा का प्रयोग किया और उनके संरक्षण में प्राकृत साहित्य के परिमाण और विस्तार दोनों ही में बहुत वृद्धि हुई। पल्लवों ने संस्कृत को प्रोत्साहन दिया और दक्षिण में प्रेम-रस तथा भक्ति-रस प्रधान साहित्य के विकास का श्रेय उन्हीं को है। उनमें से प्रायः सभी ब्राह्मणों को मानते थे और उन्होंने अश्वमेध आदि अनेक वैदिक यज्ञ कराये और इस प्रकार ब्राह्मणोचित संस्कारों का प्रचार किया। पल्लव वश के कुछ राजा वैष्णव तथा शैव मत के पक्के अनुयायी थे और इनके संरक्षण में इन दोनों मतों के अनुयायियों की संख्या में बहुत वृद्धि हुई और शीघ्र ही ये मत दक्षिण भारत में ब्राह्मणवाद के दो प्रमुख रूप बन गये। इन राजाओं का निजी धार्मिक मत कुछ भी रहा हो पर उन्होंने बौद्धमत तथा जैनमत को भी बड़ी उदारता से प्रोत्साहन दिया, और चट्टानों को काटकर मंदिर बनाने की कला को उनके शासनकाल में बहुत बढ़ावा मिला। पल्लव वंश के राजा महान निर्माता थे; काञ्ची के मंदिर तथा महाबलिपुरम के रथ उनकी कलात्मक रुचि तथा कला पर उनकी कृपादृष्टि के ज्वलंत प्रमाण हैं। इस प्रदेश के बंदरगाह विदेशों के साथ बहुत व्यापार करते थे, जिससे जनता को बहुत समृद्धि प्राप्त हुई। इसी काल में दक्षिणवासियों ने बंगाल की खाड़ी पार करके बर्मा तथा दूरवर्ती भारत में भारतीय व्यापारिक बस्तियों की स्थापना की। समय की गति के साथ ये उपनिवेश भारतीय संस्कृति के प्रसार के केंद्र बन गये। पल्लव तथा चोल राजाओं ने बहुत विशाल समुद्री शक्ति संगठित की, जिससे पता चलता है कि वे आक्रमण तथा सुरक्षा दोनों ही के लिए नौ-सेना के यथोचित उपयोग को कितनी भलीभाँति समझते थे। इस प्रकार जीवन के हर क्षेत्र में उन्नति हुई जिसके दौरान में हितकर सांस्कृतिक प्रभाव इस देश में समाज के हर वर्ग में फैल गये और उन्होंने समुद्र के पार नये क्षेत्रों पर अपना आधिपत्य जमा लिया।

— ७ —

## द्वितीय साम्राज्य

ईसा की तीसरी शताब्दी के अंत के निकट भारत के उत्तरी भागों की राजनीतिक परिस्थिति क्रांतिकारी संभावनाओं से परिपूर्ण थी। इस समय से लगभग तीन सौ वर्ष पहले एक और साम्राज्य छिन्न-भिन्न होकर पराभव को प्राप्त हो चुका था। इसके बाद शकों और कुषाणों के दल आये जिनका कुछ समय तक देश के बहुत बड़े भाग पर प्रभुत्व रहा। परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि लोगों के हृदय में एक नया जीवन हिलोरें ले रहा था। इस समय क्षय और ह्रास की इस दलदल से हम कुछ ऐसे राज्यों को उभरता हुआ पाते हैं जो साम्राज्य का गौरवशाली पद प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा रखते थे।

मगध राज्य, जो प्राचीन साम्राज्य का जन्मस्थान था, १०० ई. तक कुषाण साम्राज्य का एक भाग बन चुका था। जिस समय कुषाणों की सत्ता अपने उच्चतम शिखर पर थी उस समय उनका राज्य सुदूर उत्तर-पश्चिम में कापिश से लेकर दक्षिण-पूर्व में वाराणसी तक फैला हुआ था। कुषाण साम्राज्य की सीमाओं से परे मध्य एशिया तथा सेइस्तान में सासानी साम्राज्य फैला हुआ था। कुछ समय तक शकवंशी राजा कुषाणों की तरफ़ से पश्चिमी तथा मध्य भारत में शासन करते रहे और कुषाणों के पराभव के बाद वे स्वतंत्र रूप से शासन करने लगे। कुषाण साम्राज्य की सीमाओं पर मालव, आर्जुनायन, यौधेय, मद्रक, आभीर, प्रार्जुन, सनकानीक, काका तथा खरपरिक नामक क़बीलों के राज्य थे। इन्हीं वीर जातियों ने कुषाण साम्राज्य पर सांघातिक प्रहार किये और भारत में शक शासन की जड़ें खोखली कर दीं; इसलिए हमें उनके इतिहास पर भी संक्षेप में विचार करना चाहिये।

मद्रक पंजाब के निवासी थे और उनकी राजधानी शाकल में थी, जहाँ आजकल सियालकोट का नगर बसा हुआ है। मालव आरंभ में जाकर पंजाब में बसे थे पर बाद में वे राजपूताना, मध्य भारत और उत्तर उदेश में फैल गये। दूसरी से चौथी शताब्दी ईसवी तक, ऐसा प्रतीत होता है, कि वे पूर्वी राजपूताना के एक सीमित क्षेत्र में आबाद थे। २२५ ई० के लगभग उन्होंने अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करने का सफल प्रयास किया और अपनी भूमि को एक गणतंत्र घोषित कर दिया; इस गणतंत्र की राजधानी नागरी में थी। इस गणतंत्र का अस्तित्व समुद्रगुप्त के काल तक रहा।

मालवों के बिलकुल पड़ोस में आर्जुनायन और प्रार्जुन रहते थे; दिल्ली-जयपुर-आगरा के बीच की त्रिभुजाकार भूमि पर उनका आधिपत्य था। यौधेयों का, जो पूर्वा पंजाब में रहते थे, आर्जुनायनों के साथ गहरा संबंध था। दूसरी शताब्दी ईसवी के अंत के निकट उन्होंने अपने आपको स्वतंत्र घोषित कर दिया और इस बात का प्रदर्शन करने के लिए उन्होंने नये सिक्के

जारी किये। ये सिक्के अब अक्सर सहारनपुर, देहरादून, दिल्ली, रोहतक, लुधियाना और कांगड़ा के इलाक़े में ज़मीन में गड़े हुए पाये जाते हैं; यही इलाक़ा यौधेयों का निवास क्षेत्र था। भरतपुर राज्य के विजयगढ़ प्रदेश में जोहियाबर में जो जोहिया राजपूत रहते हैं वे इन्हीं यौधेयों के वंशज हैं।

पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम में आभीर थे। सौराष्ट्र तथा अवंति में उनका बहुत ज़ोर था। उत्तर प्रदेश, बिहार, नेपाल तथा राजपूताना के कुछ भागों के अहीरों में अब भी उनकी स्पष्ट छाप मिलती है। मध्य प्रदेश में वाकाटकों का राज्य था जिनकी राजधानी पूरिका में थी। इस वंश का संस्थापक विंध्याशक्ति था; वह सातवाहनों के पतनोन्मुख साम्राज्य के अधीन बरार का कोई स्थानीय पदाधिकारी रहा होगा। विंध्याशक्ति के पुत्र प्रवरसेन प्रथम ने, जो उसके बाद गद्दी पर बैठा, युद्ध तथा अतिक्रमण द्वारा अपनी पैतृक सम्पत्ति के छोटे-से भू-विस्तार को बढ़ाकर एक शक्तिशाली साम्राज्य का रूप दे दिया जिसमें उत्तरी महाराष्ट्र, बरार, मध्य प्रदेश और हैदराबाद रियासत का बहुत बड़ा भाग शामिल था। परंतु कुछ समय बाद यह राजवंश दो शाखाओं में विभाजित हो गया और गुप्त साम्राज्य का उदय होने पर उनका महत्व बहुत घट गया।

दक्षिण में वेंगी में सालंकायनों का शासन था और पल्लव अपनी राजधानी काञ्ची से राज्य करते थे। एक और शक्ति जिसने उत्तर में कुछ प्रमुखता प्राप्त कर ली थी वह नागवंश की शक्ति थी; एक समय में भारशिव नागों को बहुत-सी बातों का श्रेय दिया जाता था। उन्होंने अश्वमेध यज्ञ किये और पद्मावती तथा मथुरा के दो राजवंश गुप्त साम्राज्य की स्थापना से पहले काफ़ी विस्तृत राज्य पर शासन करते थे।

तीसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राजनीतिक परिस्थिति यह थी। यह चित्र अलग-अलग दिशाओं में चलनेवाले परस्परविरोधी अनेक राज्यों को उलझन में डाल देनेवाला चित्र है; ये सभी राज्य बड़ी तेज़ी से अपने-अपने राज्यों के विस्तार को बढ़ा रहे थे। इसी समय एक वंश का नाम चमक उठा। यह गुप्तवंश था।

इलाहाबाद में एक लौह-स्तंभ है। इस स्तंभ पर दो अत्यंत रोचक अभिलेख हैं। एक अभिलेख तो देवानाम्प्रिय प्रियदर्शिन अशोक का है, जिसने इस अभिलेख में अपनी प्रजा को शान्ति और सदाचार के पथ पर चलने का उपदेश दिया है। यह अभिलेख ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी में अंकित किया गया था। छः सौ वर्ष बाद अभिलेख अंकित करनेवालों के एक दूसरे दल ने एक दूसरे सम्राट् की आज्ञा पर आनेवाली पीढ़ियों के लिए एक दूसरा प्रशंसनीय अभिलेख अंकित किया। यह उसी स्तंभ पर दूसरा अभिलेख है। इस अभिलेख की ३३ पंक्तियों में समुद्रगुप्त की सामरिक उपलब्धियों तथा उतनी ही ज्वलंत सांस्कृतिक सफलताओं का उल्लेख किया गया है। इस अभिलेख में कहा गया है कि समुद्रगुप्त महाराजगुप्त का प्रपौत्र, महाराज घटोत्कचगुप्त का पौत्र और महाराजाधिराज चंद्रगुप्त तथा लिच्छवि राजकुमारी कुमारदेवी का पुत्र था। इनमें चंद्रगुप्त ने अपने पूर्वजों से आगे बढ़कर "महाराजाधिराज" की भव्य उपाधि धारण की; इस उपाधि की परम्परा कुषाण राजाओं की चलाई हुई थी। कुमारदेवी का

विशेष रूपसे उल्लेख महत्व रखता है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि चंद्रगुप्त और कुमारदेवी का विवाह गुप्तवंश के लिए एक राजनीतिक महत्व का संबंध था। बौद्धधर्म के प्रारंभकाल से ही लिच्छवि एक ख्यातिप्राप्त जाति थी; इनका सबसे शक्तिशाली संघ पाटलिपुत्र के उत्तर में गंडक नदी के किनारे वैशाली के चारों ओर के इलाके में स्थापित था। इस विवाह के फलस्वरूप अत्यंत शक्तिशाली लिच्छवि-गुप्त एकता स्थापित हुई होगी जिसने भावी गुप्त साम्राज्य की नींव डाली।

साम्राज्यधारी गुप्तवंश की उत्पत्ति के प्रश्न पर अभी तक रहस्य का काफ़ी मोटा आवरण पड़ा हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे उत्तरी बिहार के रहनेवाले थे और जब चंद्रगुप्त ने कुमारदेवी से विवाह किया तो उनकी राजनीतिक ख्याति काफ़ी बढ़ गयी। समुद्रगुप्त ने जिस गर्व के साथ अपने आपको लिच्छविवंश की कन्या का पुत्र कहा है उससे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है।

कुमारदेवी से विवाह करने के अतिरिक्त अपना उत्तराधिकारी चुनने में भी चंद्रगुप्त ने बड़ी बुद्धिमत्ता का परिचय दिया। उपरोक्त अभिलेख में बताया गया है कि चंद्रगुप्त ने भरे दरबार में घोषणा की कि समुद्रगुप्त उसका उत्तराधिकारी होगा; इस बात पर बहुत-से लोग प्रसन्न हुए और कुछ नाराज़ भी हुए। अभिलेख के इस भाग को बहुत महत्वपूर्ण समझा गया है और इस संबंध में काच का नाम लाने का प्रयत्न किया गया है, जिसके सोने के सिक्के थोड़ी बहुत संख्या में पाये गये हैं। यह मान लिया गया है कि काच समुद्रगुप्त का बड़ा भाई था जिसने समुद्रगुप्त को राजसिंहासन का उत्तराधिकारी बनाये जाने का विरोध किया; उसका विरोध भले ही थोड़े दिनों तक रहा हो पर उसने विरोध किया। परंतु इस विषय में अभी तक कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता इसलिए इस समस्या को विद्वानों के लिए ही छोड़ देना सबसे अच्छा है कि वे तथ्यों के आधार पर इस पर वाद-विवाद करके इसका निर्णय करें।

सिंहासन पर बैटने के शीघ्र ही बाद समुद्रगुप्त विजय-अभियान पर निकल पड़ा। उसके अभिलेख से, जिसे उसके राजकर्मचारी तथा दरबार के कवि हरिसेन ने लिखा था, हमें पता चलता है कि उसने कुछ राजाओं को समूल नष्ट कर दिया, कुछ पर विजय प्राप्त की और कई राजाओं को मौत के घाट उतार दिया। जिन राजाओं को उसने जड़ से उखाड़ दिया उनमें अच्युत, नागसेन और कोट परिवार का एक अज्ञात राजा था। अनुमान है कि अच्युत अहिच्छत्र का राजा था और नागसेन ग्वालियर में नरवर नामक स्थान से २५ मील उत्तर-पूर्व में स्थित पद्मावती-पद्म पवय का शासक था। ये दोनों नाग परिवारों की संतान थे और कोटवंश के राजा गंगा की घाटी के ऊपरी भाग में शासन करते थे। यहा बात स्पष्ट नहीं है कि आख़िर समुद्रगुप्त ने ऐसा क्यों किया, पर यह माना जा सकता है कि यह साम्राज्य विस्तार की दिशा में पहला क़दम था।

आसपास के क्षेत्रों में जिन केंद्रों से विरोध की संभावना थी उन्हें नष्ट करके समुद्रगुप्त दक्षिण-विजय पर चल पड़ा। यह उसका दूसरा विजय-अभियान था। इस अभिलेख में दक्षिणापथ के

बारह राजाओं की नामावली दी हुई है जिन्हें गुप्तवंश के इस पराक्रमी योद्धा ने नीचा दिखाया था। कदाचित ये नाम भौगोलिक क्रम से दिये गये हैं और इस प्रकार पता चलता है कि संभवतः समुद्रगुप्त किस मार्ग से होकर आगे बढ़ा होगा। अभिलेख के अनुसार पाटलिपुत्र से चलकर उसने रास्ते के पहाड़ी राज्यों को अपने अधीन किया और फिर कोशल के राजा महेंद्र को पराजित किया; उसके राज्य में बिलासपुर, रायपुर और सम्बलपुर के वर्तमान ज़िले शामिल थे। इसके बाद उसने महाकांतार के राजा व्याघ्रराज को पराजित किया; महाकांतार कदाचित उड़ीसा के जैपुर वन में स्थित था। तीसरी बारी कुराल के राजा मंटराज की थी—अभी तक संतोषपूर्वक यह नहीं मालूम किया जा सका है कि यह कुराल नगरी कौन-सी जगह थी। पिष्टपुर का राजा महेंद्रगिरि चौथा राजा था जिसे समुद्रगुप्त ने परास्त किया; पिष्टपुर वही जगह थी जहाँ आजकल गोदावरी ज़िले का पिठापुरम् नामक स्थान है। सूची में पाँचवा नाम कोट्टूर (ठीक स्थिति अनिश्चित) के राजा स्वामिदत्त और छठा नाम एरण्डपल्ल के राजा दमन का है—एरण्डपल्ल विशाखापटनम् ज़िले में है। सातवाँ राजा जिसने समुद्रगुप्त का मुक़ाबला किया पर असफल रहा, काञ्ची का राजा विष्णुगोप था जिसका उल्लेख हम पहले कर आये हैं। इसके बाद अवमुक्तक के नीलराज की बारी आयी; इस राज्य की स्थिति का अभी तक ठीक-ठीक पता नहीं चल सका है। समुद्रगुप्त का विरोध करनेवाला नौवाँ राजा वेंगी का राजा हस्तिवर्मन था। नेल्लोर से ७ मील उत्तर की ओर कृष्णा तथा गोदावरी नदियों के बीच स्थित पेद्दावेगी नामक स्थान के नाम में प्राचीन वेंगी का नाम आज तक सुरक्षित है। इसके बाद समुद्रगुप्त ने पालक के राजा उग्रसेन को हराया; यह वही स्थान था जिसे आजकल पालक्कड कहते हैं; यह नेल्लोर ज़िले में पल्लव राज्य के एक प्रांत की राजधानी थी। देवराष्ट्र का राजा कुबेर और कुस्थलपुर का राजा धनञ्जय अंतिम दो राजा थे चिन्होंने समुद्रगुप्त की शक्ति के आगे सिर झुका दिया। देवराष्ट्र वर्तमान विशाखापटनम् ज़िले में स्थित था, परंतु कुस्थलपुर की स्थिति के बारे में अभी निश्चित रूप से कुछ नहीं मालूम हो सका है।

यह विजय-अभियान शौर्य तथा पराक्रम की एक सराहनीय सफलता थी। इस अभियान की व्यापकता आश्चर्यजनक है; इसके दौरान में समुद्रगुप्त ने शत्रुओं की भूमि पर ३००० मील का रास्ता तै किया और इस पूरे दौरान में एक बार भी उसकी पराजय नहीं हुई। जंगली रास्तों पर, पहाड़ियों और मैदानों में राजा ने स्वयं सेना का नेतृत्व किया और उसने हर लड़ाई बड़ी निपुणता तथा विवेकपूर्ण दूरदर्शिता के साथ लड़ी। अभिलेख में आगे चलकर कहा गया है कि रणक्षेत्र में उसके अत्यंत सुंदर शरीर पर सैकड़ों घाव लगे और यह सच भी हो सकता है। अब उसका साम्राज्य बहुत विस्तृत हो गया था, जिसमें दक्षिणी-पूर्वी भागों को छोड़कर पूरा बंगाल शामिल था; पश्चिम में यह साम्राज्य पंजाब तक फैला हुआ था, "और संभवतः लाहौर तथा करनाल के बीच के पूर्वी ज़िले इसमें शामिल थे। करनाल से इस साम्राज्य की सीमा यमुना नदी के किनारे-किनारे वहाँ तक चली गयी थी जहाँ चंबल नदी आकर यमुना में गिरती है। यहाँ से राज्य की सीमा मध्य प्रदेश के सागर ज़िले में नरवर के पश्चिम से होती हुई आगे चली गयी थी; नरवर भीलसा से उत्तर-उत्तर-पूर्व की ओर ५० मील की दूरी पर स्थित है।

भीलसा भी समुद्रगुप्त के राज्य में ही था।" दक्षिण में उसके साम्राज्य की सीमा एरन से जबलपुर तक और फिर विंध्याचल पर्वत के किनारे-किनारे थी।

समुद्रगुप्त की इन अपूर्व सैनिक सफलताओं के कारण उसकी इतनी धाक जम गयी कि कई छोटे-मोटे राज्यों ने जल्दी से उसकी प्रभुसत्ता को स्वीकार कर लिया और अपनी अधीनता को सिद्ध करने के लिए उसके दरबार में उपहार भेजने लगे। इनमें कुषाण तथा शक सरदार, समतट (दक्षिण-पूर्वी बंगाल), कामरूप (उत्तरी-आसाम), नेपाल, देवाक (नौगांग ज़िला, आसाम), कर्तिपुर (जालंधर ज़िले में कर्तारपुर) के शासक और गुप्तसाम्राज्य के सीमांत प्रदेशों के निकट बसनेवाली मालव, आर्जुनायन, यौधेय, मद्रक, सनकानीक (भीलसा प्रदेश के), काका, खरपारिक (मध्य प्रदेश के दामोह ज़िले में बसनेवाली) और प्रार्जुन आदि कई जातियाँ शामिल थीं। अभिलेख में श्रीलंका का नाम भी इस सूची में दिया हुआ है पर यह कुछ भ्रांत धारणा प्रतीत होती है। श्रीलंका के राजा मेघवर्ण ने समुद्रगुप्त के दरबार में बौद्ध यात्रियों की सुविधा के लिए बोधगया में एक मठ बनवाने की अनुमति प्राप्त करने के उद्देश्य से एक राजदूत-मंडल तो अवश्य भेजा था परंतु इसका अर्थ यह कदापि नहीं था कि उसने राजनीतिक रूप से गुप्त सम्राट् की अधीनता स्वीकार करने का संदेश भेजा था। मठ बनाने की अनुमति दे दी गयी और फलस्वरूप बोधिवृक्ष के उत्तर की ओर एक शानदार मठ बनाया गया। इसके अतिरिक्त समुद्र पार के कुछ द्वीपों का भी उल्लेख किया गया है जिन्होंने भारत की विकासोन्मुख सत्ता के साथ निकट सम्पर्क बनाये रखने के लिए गुप्त साम्राज्य की राजधानी में अपने राजदूत भेजे; इन द्वीपों से संभवतः अभिप्राय मलाया प्रायद्वीप, जावा तथा सुमात्रा के उन राज्यों से था जिन पर भारत की छाप पड़ चुकी थी। इस प्रकार समुद्रगुप्त ने अपना प्रभुत्व प्रायः पूरे भारत पर स्थापित कर लिया था और समुद्र पार के देशों से भी उसके कूटनीतिक संबंध थे।

समुद्रगुप्त की सफलता इतनी सराहनीय रही कि इलाहाबाद के अभिलेख में उसके विषय में जो कुछ कहा गया है वह सत्य प्रतीत होता है। उत्तराधिकार में उसे पैतृक सम्पत्ति के रूप में बहुत थोड़ी-सी भूमि मिली थी पर उसने अपनी सशस्त्र शक्ति के बल पर उसे एक शक्तिशाली साम्राज्य में परिणत कर दिया। इसके बाद उसने पृथ्वी पर अपनी इस सत्ता के लिए देवताओं का वरदान प्राप्त करने के हेतु अश्वमेध यज्ञ किया और अश्वमेध यज्ञ कराने का जितना अधिकार उसे पहुँचता था उतना किसी को भी नहीं पहुँचता था। वह शास्त्रों का ज्ञाता और अपने ब्राह्मण धर्म का पक्का अनुयायी था।

परन्तु समुद्रगुप्त, जिसे बहुधा प्राचीन भारत का नेपोलियन कहा जाता है, केवल योद्धा ही नहीं था। शत्रुओं के प्रति वह निर्मम था और जिसकी वफादारी पर वह विश्वास नहीं करता था उसे "जड़ से उखाड़ देने" या "मौत के घाट उतार देने" में उसे लेशमात्र भी संकोच नहीं होता था। परंतु वह राजधर्म के सभी नियमों का पालन भी करता था, जब कोई राजा उसके सामने आत्म-समर्पण कर देता था तो वह उनके साथ बड़ी उदारता का बरताव करता था। उसकी इस उदारता का प्रमाण दक्षिण के राजाओं के प्रति उसके व्यवहार में मिलता है; उसने

युद्ध में उन्हें परास्त किया पर उनसे उनकी पैतृक सत्ता छीनने के बजाय उन्हें फिर गद्दी पर बिठा दिया; वह उनसे केवल प्रतीक रूप में कुछ भेंट लेता था। राज्य के शासन में तथा विजय में भी उसने अत्यंत कुशलता के साथ असुर-विजय तथा धर्मविजय दोनों ही से काम लिया और इस प्रकार यह सिद्ध कर दिया कि "साम्राज्य विस्तार" उसका एकमात्र उद्देश्य नहीं था। इलाहाबाद के अभिलेख में उसकी विद्वता तथा बुद्धिमत्ता उसकी प्रखर तथा परिमार्जित प्रतिभा तथा संगीत और काव्य-कला में उसकी दक्षता का उल्लेख किया गया है। उसके सिक्कों में उसकी बहुमुखी प्रतिभा प्रतिबिंबित होती है। उसके छः विभिन्न प्रकार के सिक्के चलते थे। इनमें से तीन प्रकार के सिक्कों पर जो प्रतीक-चिह्न बने हैं उनसे उसके शौर्य तथा रणक्षेत्र के प्रति उसकी रुचि का पता चलता है। एक सिक्के पर उसे राजसी वस्त्र-आभूषणों से पूरी तरह सुसज्जित, बाँये हाथ में धनुष् और दाहिने हाथ में बाण लिए हुए दिखाया गया है; इस मुद्रा पर ये शब्द अंकित हैं: "पृथ्वी पर विजय प्राप्त करने के बाद अपराजेय ने अपने सत्कर्मों द्वारा स्वर्ग पर विजय प्राप्त की।" दूसरे सिक्के पर उसे हाथ में फरसा लिए हुए दिखाया गया है और उसका वर्णन इन शब्दों में किया गया है: "अजेय राजाओं का अपराजेय विजेता कृतांत (मृत्यु) का फरसा लिए हुए।" तीसरे सिक्के पर उसे एक सिंह पर पैर रखे खड़ा हुआ दिखाया गया है, और इस प्रकार उसकी शक्ति की तुलना सिंह से की गयी है। दूसरे सिक्कों में हमें उसका बिल्कुल ही भिन्न रूप दिखायी देता है। चौथे प्रकार के सिक्के में उसे एक सिंहासन पर घुटने पर वीणा रखे संगीत में तल्लीन बैठा हुआ दिखाया गया है। पाँचवे प्रकार के सिक्के उसके अश्वमेध यज्ञ के उपलक्ष में और छठे प्रकार के सिक्के उसके माता-पिता की स्मृति में जारी किये गये थे, जिससे पता चलता है कि वह कितना आज्ञाकारी पुत्र था। इन सिक्कों को देखने से जो चित्र हमारे सामने उभर कर आता है वह अत्यंत प्रभावशाली है। हम अपने सामने एक लम्बे तथा हृष्ट-पुष्ट शरीरवाले व्यक्ति को देखते हैं जिसकी भुजाएँ बलिष्ठ तथा सीना चौड़ा है, जिसका नाक-नक़शा अत्यंत सुडौल तथा आकृति सौम्य है; जो शारीरिक बल तथा प्रखर बुद्धि का साकार रूप तथा प्राचीन भारत के स्वर्ण-युग का प्रवर्त्तक था। प्राचीन भारत में दिग्विजयी सम्राट् का जो आदर्श था, एक ऐसा सम्राट् जो उदार भी हो और निर्मम भी, जो योद्धा भी हो और दार्शनिक भी, उस पर समुद्र-गुप्त पूरा उतरता है। उसके सिक्कों में उसका शक्तिशाली व्यक्तित्व और ब्रह्मपुत्र से यमुना तथा चंबल तक फैले हुए उसके साम्राज्य का वैभव प्रतिबिंबित होता है। इन सिक्कों की बनावट भी अत्यंत उत्कृष्ट है तथा कला की दृष्टि से भी वे सुंदर हैं; इनमें उस सम्राट् का सर्वांग-पूर्ण तथा प्रतिभासम्पन्न व्यक्तित्व प्रतिबिंबित होता है जिसके नाम पर ये सिक्के चलाये गये थे।

समुद्रगुप्त का दीर्घ शासन काल लगभग ३८० ई. में समाप्त हुआ। उसकी पटरानी दत्ता देवी और उत्तराधिकारी चंद्रगुप्त द्वितीय (परिशिष्ट २ भी देखिये) था। उसके सिंहासन पर बैठने की तिथि के बारे में निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता पर सबसे अधिक संभव तिथि ३५० ई. ही मालूम होती है न कि ३२० या ३२५ ई. जैसा कि पहले विश्वास किया जाता था।

चंद्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में गुप्त साम्राज्य का वैभव अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच गया। ऐसा अनुमान है कि स्वयं उसके पिता ने ही उसे अपना उत्तराधिकारी चुना था और यदि यह सच है तो उसका निर्णय सर्वथा न्यायोचित था। उसकी सबसे प्रमुख सफलता यह थी कि उसने पश्चिमी भारत में शकों की सत्ता का तख़्ता उलट दिया। उसने यह सफलता एक अभियान में या क्रमशः कई अभियानों द्वारा प्राप्त की और अनुमान किया जाता है कि इसी उद्देश्य से उसने अपनी राजधानी पाटलिपुत्र से हटाकर उज्जयिनी में स्थापित की क्योंकि उज्जयिनी अधिक केंद्रीय स्थान था। शक सत्ता भारत की भूमि पर सबसे दीर्घकालीन विदेशी प्रभुत्व को ही प्रतीक नहीं थी बल्कि इससे भी महत्वपूर्ण बात यह थी कि उनके साम्राज्य में सौराष्ट्र तथा गुजरात के समृद्धिशाली क्षेत्र शामिल थे जिनमें पश्चिमी समुद्रतट पर अत्यंत उपयोगी बंदरगाह थे। शक शासन अनेक अत्यंत सुनियोजित सैनिक अभियानों के फलस्वरूप स्थापित हुआ होगा। उस काल के वैवाहिक संबंधों से गुप्त साम्राज्य की नीति के इस पहलू पर प्रकाश पड़ता है। चंद्रगुप्त द्वितीय ने कुबेर नागा नामक एक नागा राजकुमारी से विवाह किया और इस प्रकार नागा राजपरिवारों की मित्रता प्राप्त की। उसकी पुत्री प्रभावती गुप्ता का विवाह वाकाटक वंश के राजकुमार रुद्रसेन द्वितीय के साथ हुआ था। अपने पति की मृत्यु के बाद उसने बड़ी योग्यता से शासन चलाया। उसने स्वाभाविक रूप से अपने प्रशासन के कार्य में गुप्त साम्राज्य के राजकर्मचारियों से सहायता ली और इस प्रकार वाकाटक राज्य के पूरे प्रशासन पर गुप्त साम्राज्य का नियंत्रण हो गया। काकुस्थवर्मन की एक पुत्री का विवाह गुप्तवंश के एक राजकुमार के साथ हुआ था और इस संबंध द्वारा गुप्त सम्राटों को विंध्याचल पर्वत के उस पार के इस महत्वपूर्ण राज्य की मित्रता प्राप्त हुई होगी। शक शासन का अंत चौथी शताब्दी ईसवी के अंत के लगभग हुआ होगा क्योंकि ३८८ ई. और ३९७ ई. के बीच में पश्चिमी भारत के क्षत्रपों के सिक्कों का लम्बा क्रम समाप्त हो जाता है और उनके स्थान पर उसी बनावट के सिक्के मिलने लगते हैं जैसे चंद्रगुप्त द्वितीय ने जारी कराये थे।

पश्चिमी भारत में शक सत्ता का अंत हो जाने से गुप्त साम्राज्य में अत्यंत संपन्न क्षेत्र शामिल हो गये; इस क्षेत्र के साथ उन्हें अत्यंत समृद्धिशाली बंदरगाह भी मिले जिनसे मध्य-पूर्व तथा योरपीय जगत के साथ जोरों से व्यापार होने लगा। योरप के सौदागरों के माल के साथ देश में बहुत-सा सोना आया और योरप के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित हो जाने से गुप्त सम्राट् का दरबार योरपीय विचारों के प्रभाव में आ गया; सिकंदरिया के सौदागरों के माल के साथ ही ये विचार भी समुद्र पार करके इस देश में पहुँचे थे। सौराष्ट्र विजय के उपलक्ष्य में एक विशेष प्रकार का सोने का सिक्का चलाया गया जिसमें सम्राट् को गिर के जंगलों के एक शेर का वध करते हुए दिखाया गया है।

चंद्रगुप्त द्वितीय के कुबेर नागा के अतिरिक्त ध्रुवदेवी नामक एक और रानी भी थी। चंद्रगुप्त के बाद कुमारगुप्त प्रथम गद्दी पर बैठा। चंद्रगुप्त द्वितीय ने अपने नाम के साथ विक्रमादित्य की उपाधि भी जोड़ ली थी; उसका एक और नाम भी था, देव। उसके काल के छः अभिलेख मिले हैं जिनमें उसके कुछ अधिकारियों के नाम दिये गये हैं। इनमें एक वीरसेन था

जो शांति और युद्ध का मंत्री था; दूसरा आम्रकारद्दव था जो बहुत उच्च सैनिक पदाधिकारी था। अपने पिता की तरह ही चंद्रगुप्त द्वितीय को भी कला के प्रति बड़ी रुचि थी और उसके एक सिक्के पर उसे रूपाकृति कहा गया है। एक प्रकार के सिक्कों पर उसे दाहिने हाथ में फूल लिए सिंहासन पर बैठा दिखाया गया है; एक दूसरे प्रकार के सिक्कों में सम्राट् को अपना दाहिना हाथ तलवार की मूठ पर रखे खड़ा हुआ दिखाया गया है और एक सेवक उसके सिर पर छत्र लगाये हुए है। अन्य प्रकार के सिक्कों में उसे तलवार और धनुष् लिए पूर्णतः सज्जित घोड़े पर सवार दिखाया गया है, जिससे पता चलता है कि सम्राट् को घुड़सवारी के प्रति बहुत रुचि थी। उस युग की बढ़ती हुई "भारतीयता" की भावना इस बात से प्रकट होती है कि पहले सिक्कों पर सिंहासन पर बैठी हुई जिस देवी का प्रतिरूप अंकित होता था वह विदेशी मुद्रा से नक़ल किया गया था पर चंद्रगुप्त द्वितीय के सिक्कों पर शुद्धतः भारतीय ढंग की देवी का चित्र अंकित किया जाने लगा। हम चंद्रगुप्त के तीन अधीन सामंतों के बारे में जानते हैं—एक महाराज त्रिकमल, दूसरे वल्क के शासक स्वामिदास और तीसरे महाराज श्री विश्वामित्र स्वामि। यह जानकारी हमें उस काल के अभिलेखों तथा मुहरों से मिलती है। चंद्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल के संबंध में जो अंतिम तिथि हमें निश्चित रूप से विदित है वह ४१२-४१३ ई० है। चूँकि यह ज्ञात है कि उसका बेटा कुमारगुप्त प्रथम ४१५-४१६ ई० में गद्दी पर बैठ चुका था इसलिए चंद्रगुप्त अपने शासनकाल की इस अंतिम ज्ञात तिथि के के बाद बहुत समय तक जीवित नहीं रहा होगा। उसके ३६ वर्ष के शासनकाल में गुप्तवंश की सत्ता की जड़ें पूरे उत्तरी तथा पश्चिमी भारत में मज़बूती से जम गयीं और शांति तथा समृद्धि के साथ-साथ बौद्धिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में सक्रिय कार्य का युग प्रारंभ हुआ।

चंद्रगुप्त द्वितीय के जीवन के बारे में जो बातें मालूम हैं उनमें से कई बातें गाथाओं में उल्लिखित सम्राट् विक्रमादित्य के जीवन की घटनाओं से बहुत मिलती-जुलती हैं। चंद्रगुप्त द्वितीय को भी विक्रमादित्य कहते थे, जो इसकी बिरुद अर्थात् उपाधि थी; उसीने शक सत्ता को नष्ट किया था। कदाचित उज्जयिनी उसकी दूसरी राजधानी थी। कई विद्वानों का मत है कि महाकवि कालिदास उसी के शासनकाल में हुए थे। इसलिए यह बहुत संभव है कि विक्रमादित्य के बारे में जो कहानियाँ मशहूर हैं उनमें से कहानियों का एक क्रम वास्तव में समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय जैसे गुप्तवंश के सम्राटों से संबंधित हो। हम पहले इस बात को देख चुके हैं कि ५५-५७ ई० पू० में आरंभ होने वाला विक्रमी संवत् वास्तव में एक विदेशी संवत् था जिसे संयोगवश विक्रमादित्य के नाम से संबद्ध कर दिया गया था और कथा-कहानियो में पहली शताब्दी ईसा-पूर्व के जिस विक्रमादित्य का उल्लेख मिलता है वह इतिहास की दृष्टि से संदिग्ध है। हम चाहे जितना विश्वास करना चाहें कि विक्रमादित्य जैसा राजा वास्तव में था, परंतु हम कथा-कहानियों में उल्लिखित इस विक्रमादित्य के विषय में हठधर्मी नहीं कर सकते।

दिल्ली में कुतुब मीनार के निकट एक लौह-स्तंभ पर एक अभिलेख है जिसमें चंद्र नामक एक राजा के कृत्यों का वर्णन किया गया है। इस अभिलेख की लिपि वही है जो गुप्तवंश के सम्राटों के अन्य अभिलेखों में प्रयुक्त की गयी है। अभिलेख में कहा गया है कि चंद्र नामक

इस राजा ने बंगाल के महत्वाकांक्षी राजाओं के एक संघ को परास्त किया और सिंधु को पार करके वल्हिकों पर विजय प्राप्त की। कई विद्वानों के मतानुसार इस अभिलेख में जिस राजा चंद्र का उल्लेख किया गया है वह चंद्रगुप्त द्वितीय ही था। यदि यह अभिलेख सचमुच चंद्रगुप्त द्वितीय का ही है तो इससे उसकी सैनिक सफलताओं पर गहरा प्रकाश पड़ता है और इससे उसकी विजयों के नये पहलू का पता चलता है जिसके फलस्वरूप भारत का उत्तरी-पश्चिमी भाग गुप्त साम्राज्य की छत्रच्छाया में आ गया। परंतु यह विषय विवादग्रस्त है और इसके पक्ष में तथा इसके विरुद्ध जो तर्क दिये जाते हैं वे समान रूप से संभव प्रतीत होते हैं।

चंद्रगुप्त द्वितीय के बाद ध्रुवदेवी का पुत्र कुमारगुप्त प्रथम गद्दी पर बैठा। कुमारगुप्त प्रथम ने ४० से अधिक वर्ष तक (४१४-४१५ ई. से ४५५-४५६ तक) शासन किया। इस दीर्घ शासनकाल का अधिकांश भाग शांति और समृद्धि का काल रहा। हमें उसके शासनकाल के कम से कम १३ अभिलेख मिले हैं जिनसे पता चलता है कि उसके पिता और पितामह ने जिस विस्तृत साम्राज्य का निर्माण किया था उसे उसने सुरक्षित रखा। उसने कई नये प्रकार के सोने के सिक्के चलाये और एक अश्वमेध यज्ञ भी किया। उसके एक सिक्के पर भगवान शिव के पुत्र और देवताओं के सेनापति कार्तिकेय को मोर पर बैठा हुआ दिखाया गया है। उसके चांदी के सिक्के पहली बार साम्राज्य के मध्यवर्ती प्रांतों में जारी किये गये। कुमारगुप्त प्रथम ने श्री महेंद्र, महेंद्र सिंह और अश्वमेध महेंद्र की उपाधियाँ धारण कीं।

यह दीर्घ शासनकाल अत्यंत उज्ज्वल भविष्य की आशाएँ लेकर आरंभ हुआ था और इसके दौरान में शांति का वातावरण बना रहा, परंतु इसका अंत अशांति के वातावरण में हुआ। कुमारगुप्त के शासनकाल के अंत के निकट साम्राज्य के सामने किसी अज्ञात शत्रु के आक्रमण का संकट आ खड़ा हुआ। यद्यपि इस शत्रु का नाम नहीं मालूम हो सका है पर वह बहुत बलवान था क्योंकि उसके विरुद्ध संघर्ष करते हुए युवराज स्कंदगुप्त को "खाली भूमि पर लेटे-लेटे पूरी एक रात बिता देनी पड़ी।" परंतु अंत में यह संकट टल गया और सारे देश में "उल्लसित नर-नारी, यहाँ तक कि बच्चे भी" स्कंदगुप्त की वीरता की सराहना करने लगे। कुमारगुप्त प्रथम के बारे में कहा गया है कि "उसमें चरित्रबल की कमी थी और वह भोग-विलासमय जीवन का प्रेमी था; और वह निर्भीक नेता नहीं था।" उसके बारे में यह निर्णय देना न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता। इस आक्रमण के समय वह बूढ़ा था और उससे यह आशा करना उसके साथ अन्याय था कि वह रणक्षेत्र में जाकर लड़े। इतिहास में शक्रादित्य नामक एक राजा का उल्लेख मिलता है जो उन सर्वप्रथम राजाओं में से था जिनका संरक्षण नालंदा विश्वविद्यालय को प्राप्त हुआ और यह संभव है कि कुमारगुप्त प्रथम ही शक्रादित्य रहा हो, क्योंकि उसकी उपाधि महेंद्रादित्य थी और शक्र को महेंद्र भी कहते हैं। उसके चलाये हुए सिक्कों पर कार्तिकेय के चित्र से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उसकी प्रवृत्ति शैव मत की ओर थी।

अज्ञात शत्रु के विरुद्ध युद्ध से उसके पुत्र स्कंदगुप्त के लौटने से पहले ही कुमारगुप्त प्रथम की

मृत्यु हो गयी। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तराधिकार के विषय में कुछ झगड़ा भी हुआ था पर हमें यह निश्चित रूप से नहीं मालूम है कि राजसिंहासन के अधिकार के लिए उसका प्रतिद्वंद्वी कौन था, यह भी विदित नहीं है कि प्रतिद्वंद्वी केवल एक था या अनेक थे। भारत पर हूणों का आक्रमण स्कंदगुप्त के शासनकाल (४५५-५६ ई. से ४६७-४६८ ई. तक) की सबसे महत्वपूर्ण घटना थी। यह एक भयंकर खतरा था और इसे दूर करने के लिए स्कंदगुप्त की सारी वीरता तथा योग्यता और शक्तिशाली गुप्त साम्राज्य के समस्त साधनों की आवश्यकता थी।

हूण मध्य एशिया की एक यायावर जाति थी। अपने निष्क्रमण के दौरान में वह दो दलों में विभाजित हो गयी। इनमें से एक दल ३७५ ई. में योरप पर टूट पड़ा और उसने रोम के साम्राज्य की नींव हिला दी। दूसरे दल ने, जिन्हें श्वेत हूण कहते हैं, भारत पर आक्रमण किया पर स्कंदगुप्त ने उन्हें पीछे ढकेल दिया। ऐसा अनुमान है कि यह आक्रमण ४६०-४६१ ई. से पहले हुआ होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि छठी शताब्दी ईसवी के प्रारंभिक वर्षों में हूणों के आक्रमण की एक और लहर आयी। शिलालेखों में तोरमाण और मिहिरगुल दो नाम मिलते हैं जो भारत में शासन करनेवाले हूण राजाओं के हो सकते हैं। इन दोनों में से मिहिर-गुल को अत्यधिक क्रूर बताया गया है। हूणों को अंततः उत्तरी भारत के राजाओं के एक संघ ने पराजित किया जिसका नेतृत्व नरसिंह गुप्त बालादित्य के हाथ में था; इस संघ में मंदसौर का राजा यशोधर्मन भी शामिल था। आगे चलकर हूण भारत में बस गये और धीरे-धीरे भारत के समाज में घुल-मिल गये।

हूणों की पराजय स्कंदगुप्त की बहुत बड़ी सफलता थी जिस समय इस बर्बर जाति ने भारत पर हल्ला बोला उस समय उसका उद्देश्य योरप की तरह यहाँ की भी निस्सहाय जनता का संहार करना, लूटना और यातनाएँ देना था। भारत से बाहर उन्होंने रवेन्ना और कुस्तुनतुनिया के राजाओं को चुनौती दी थी, अपनी क्रूरता के बल पर ईरान पर अधिकार जमा लिया था और ईरान के बादशाह को मार डाला था। जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि स्कंदगुप्त ने अपने पराक्रम से किस प्रकार भारतीय जनता की रक्षा की तब हमारी समझ में आता है कि हुणों की पराजय पर जनता ने कितने संतोष की साँस ली होगी और स्कंदगुप्त को अपने त्राता के रूप में सराहा होगा। परंतु यह विजय इतनी आसानी से नहीं प्राप्त हुई और इस युद्ध से देश पर कितना बोझ पड़ा उसका प्रमाण उस काल के सिक्कों में मिलता है। स्कंदगुप्त के सोने के सिक्के बहुत थोड़ी संख्या में मिले हैं, उनमें से अधिकांश वे हैं जिन पर धनुर्धारी के रूप में सम्राट् का चित्र अंकित है और इन सिक्कों के लिए जो धातु इस्तेमाल की गयी है उसमें भी मिलावट है।

स्कंदगुप्त की राजनीतिक बुद्धिमत्ता अपने साम्राज्य के विभिन्न भागों का शासन-भार सँभालवे के लिए योग्य अधिकारियों को चुनने में व्यक्त होती है। जूनागढ़ के शिलालेख में पर्णदत्त के नाम का उल्लेख है जिसने वहाँ एक टूटे हुए बाँध की मरम्मत करायी और वहाँ की जनता की कृतज्ञता का पात्र बना। अंतर्वेदी अर्थात् गंगा के दोआब का शासन सर्वांग के सिपुर्द था और कोसम क्षेत्र के शासन का उत्तरदायित्व भीमवर्मन पर था।

स्कंदगुप्त ने १२ वर्ष तक शासन किया और क्रमादित्य, विक्रमादित्य तथा देवराज की उपाधियाँ धारण कीं। हूणों के आक्रमण को रोककर उन्हें पीछे ढकेल देना उसकी सबसे बड़ी सफलता थी। अपनी मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए वह इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता था कि उसके पूर्वजों ने जिस विस्तृत साम्राज्य का निर्माण किया था और जिसे उसने बर्बर आक्रमणों तथा लूटमार से सुरक्षित रखा था, वह आधी शताब्दी के अंदर ही ढह जायेगा।

इस शक्तिशाली साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने के पूरे क्रम का पता प्रायः एक-एक मंज़िल करके लगाया जा सकता है। मंदसौर के अभिलेख में चंद्रगुप्त द्वितीय और उसके पुत्र गोविंद-गुप्त का उल्लेख किया गया है पर स्कंदगुप्त का नहीं। वैशाली की एक मिट्टी की मुहर पर चंद्रगुप्त द्वितीय, उसकी रानी ध्रुवदेवी और उनके पुत्र गोविंदगुप्त का उल्लेख मिलता है जिससे संकेत मिलता है कि गोविंदगुप्त ने अपने भतीजे स्कंदगुप्त के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। पश्चिमी मालवा के अभिलेखों में गुप्त साम्राज्य के अधीन शासन करनेवाले सामंतों में बढ़ती हुई विद्रोह की भावना का प्रमाण मिलता है। वाकाटक राजा नरेंद्रसेन बड़े गर्व से कहता है कि कोशल, मेकल तथा मालव के सामंत उसके आदेशों का पालन करते थे। स्कंदगुप्त के बाद गुप्तवंश के इतिहास के बारे में निश्चय के साथ कुछ कह सकना असंभव है। इसके बाद जो दो राजा पुरुगुप्त और कुमारगुप्त द्वितीय गद्दी पर बैठे उन्होंने बहुत थोड़े-थोड़े दिन शासन किया। गुप्तवंश की सत्ता का ह्रास हो चला था और उनके अधीन शासन करनेवाले सामंत अपने अभिलेखों तथा सिक्कों में सम्राट् की सत्ता की अवहेलना करने लगे थे। केवल बुद्धगुप्त के विषय में हमें कुछ विश्वस्त जानकारी प्राप्त है क्योंकि उसके समय के छः दस्तावेज़ मिले हैं। इन दस्तावेज़ों से पता चलता है कि उसकी प्रभुसत्ता मालवा से बंगाल तक के क्षेत्र पर स्थापित थी और इसमें सौराष्ट्र भी सम्मिलित था, जहाँ का शासकवर्ग, वलभी के मैत्रक, गुप्तों की प्रभुसत्ता को स्वीकार करता था। परंतु उसकी मृत्यु के बाद कौन गद्दी पर बैठा इसके बारे में मतभेद है; संभवतः उसके बाद गुप्तसाम्राज्य दो भागों में विभाजित हो गया था। एक भाग पर वैन्यगुप्त शासन करता था और दूसरे पर भानुगुप्त। इन दोनों ही के बारे में बहुत कम मालूम हो सका है; नरसिंहगुप्त बालादित्य के शासनकाल में पहुँचकर परावर्ती गुप्त सम्राटों इतिहास पर कुछ आशाजनक प्रकाश पड़ता है। नरसिंहगुप्त बालादित्यके ने हूण राजा मिहिर-गुप्त को परास्त करने में प्रमुख रूप से भाग लिया और नालंदा विश्वविद्यालय में एक विशाल मठ बनवाने का श्रेय भी उसीको है। उसके बाद जो गुप्त सम्राट् हुए उनके इतिहास पर फिर अंधकार और अनिश्चितता का परदा पड़ जाता है और यहीं से हम साम्राज्यधारी गुप्तवंश से विदा लेते हैं।

इस प्रकार उस शक्तिशाली साम्राज्य का अंत हुआ जिसके निर्माण में समुद्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त प्रथम तथा स्कंदगुप्त जैसी महान विभूतियों ने योग दिया था। इस साम्राज्य के ह्रास और पतन के क्या कारण थे? इसके कारण अनेक तथा जटिल हैं। सामान्यतया यह माना जाता है कि हूणों के आक्रमणों के कारण ही गुप्त साम्राज्य का पतन हुआ। परंतु ऐसा कहना हूणों को उससे अधिक श्रेय (या अपयश) देना होगा जितने के वे अधिकारी हैं। इसमें तो

संदेह नहीं कि हूणों से युद्ध करने में गुप्त साम्राज्य को अपनी बहुत अधिक शक्ति व्यय करनी पड़ी परंतु उन्होंने हूणों को मार भगाया और आक्रमण की इस पहली लहर के बाद भी वे बहुत समय तक शासन करते रहे। ह्रास की इस प्रक्रिया में कुछ अन्य उपकरण भी काम कर रहे थे जैसे उत्तराधिकार के लिए युद्ध और दूसरे राज्यों के प्रति असंतोषजनक नीति। ऐसा प्रतीक होता है कि प्रायः हर राजा मरने के बाद उत्तराधिकार के लिए झगड़ा हुआ और इन युद्धों के दौरान में यह जानना कठिन था कि राजकर्मचारी और प्रजा किसके प्रति वफ़ादार है। इन युद्धों ने कुछ दुस्साहसी सामंतों को इस बात का अवसर दिया कि वे एक पक्ष का समर्थन करें; जिन सामंतों की सहायता से किसी पक्ष को सफलता प्राप्त हुई उनकी साख हानिकर हद तक बढ़ गयी। प्राचीनकाल के अन्य सभी साम्राज्यों की तरह गुप्त साम्राज्य में भी सत्ता की दो समानांतर धाराएँ साथ-साथ पायी थीं; एक ओर तो सत्ता का अधिकतम केंद्रीकरण था और इसके साथ ही दूसरी ओर केंद्रीय शासन में तथा निम्नतर स्तरों पर सत्ता अत्यंत व्यापक रूप से विकेंद्रित भी थी। इस प्रकार की शासन-व्यवस्था के लिए एक बहुत बड़ी स्थायी सेना और निरीक्षण तथा प्रतिनिरीक्षण की एक जटिल व्यवस्था की आवश्यकता थी और यदि छोटे-बड़े अधिकारियों के इस संगठन में शक्ति-संतुलन ज़रा भी गड़बड़ा जाती थी तो सारे देश में उसका बहुत गहरा प्रभाव पड़ता था। ऐसी परिस्थिति में हूणों के आक्रमण हुए और यद्यपि गुप्तों की विजय हुई परंतु उन्हें इस विजय के लिए भारी मूल्य चुकाना पड़ा। स्कंदगुप्त के बाद अधिकांश गुप्त राजा या तो उत्तराधिकार के झगड़ों में या सामंतों की बढ़ती हुई शक्ति को कुचलने में उलझे रहे। सामंतों की शक्ति किस प्रकार निरंतर बढ़ती गयी इसका एक बहुत अच्छा उदाहरण वलभी के मैत्रकों का उत्थान है।

मैत्रक वंश ने लगभग ५०० ई. से ७७० ई. तक सौराष्ट्र पर शासन किया। उनकी राजधानी वलभी में थी। यही गुप्तवंश के ह्रास का काल था। इस वंश का संस्थापक भट्टारक था और यद्यपि मैत्रक शासकों ने आरंभ में गुप्त सम्राटों की प्रभुसत्ता को स्वीकार किया पर शीघ्र ही उन्होंने अपने आपको स्वतंत्र घोषित कर दिया। गुप्त सम्राटों के प्रति परिव्राजक महाराजों और उच्छाकल्प राजाओं का रवैया भी ऐसा ही था। ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त साम्राज्य पर सांघातिक प्रहार मंदसौर के यशोधर्मन ने किया।

यशोधर्मन उस काल के राजनीतिक क्षितिज पर एक अकेले सितारे के रूप में उभरकर एक क्षण के लिए पूरे गगन को आलोकित कर गया; वह कहाँ से आया और कहाँ गया किसी को मालूम नहीं। मंदसौर में दो स्तंभों पर संस्कृत भाषा में उसके एक लम्बे-से अभिलेख की दो प्रतिलिपियां अंकित हैं, जिसमें उसके बारे में बड़े लम्बे-चौड़े दावे किये गये हैं। वह गर्व से घोषणा करता है कि उसने हूणों पर विजय प्राप्त की और यह दावा करता है कि समस्त भारत के राजा उसके सामने श्रद्धा से शीश झुकाते थे। मिहिरगुल को परास्त करके उस पर अहंकार का नशा छा गया और इस विजय ने उसे राजद्रोह का पथ ग्रहण करने के लिए प्रोत्साहित किया। उसने गुप्त सम्राटों से टक्कर ली, और इस प्रकार उनकी शक्ति के ह्रास की गति को तेज़ करने का साधन बना। हमें उसके जीवन के अंतिम दिनों के बारे में कुछ भी नहीं मालूम है

और यह भी नहीं ज्ञात है कि उसका कोई उत्तराधिकारी था भी कि नहीं। परंतु वह एक बहुत शक्तिशाली व्यक्ति था, जिसने छिन्न-भिन्न होते हुए गुप्त साम्राज्य के स्थान पर एक नया साम्राज्य स्थापित करने के बजाय अपना सारा कौशल्य उस पर एक भीषण प्रहार करने में लगा दिया।

जब इतिहास के रंगमंच से साम्राज्यधारी गुप्तों ने विदा ली तो मगध के परवर्ती गुप्त, मौखरि और मैत्रक बचे-खुचे साम्राज्य के दावेदार बन गये। ये तीनों सामंत थे जिन्होंने गुप्त सम्राटों से टक्कर ली थी और स्वतंत्र शासकों की हैसियत से राज करते थे। परवर्ती गुप्त मगध में राज करते थे और साम्राज्यधारी गुप्तों से इनका कोई पारिवारिक संबंध नहीं था। मौखरियों का बोलबाला उत्तर प्रदेश में गंगा तथा घाघरा नदी के बीच वर्तमान जौनपुर तथा बाराबंकी के ज़िलों में था। हर्ष के शासनकाल में उन्हें कुछ महत्व प्राप्त हुआ परंतु अन्य सामंतों की तरह ही वे भी हमारे इस अध्ययन के लिए केवल गौण महत्व रखते हैं।

इस प्रकार गुप्त साम्राज्य का अंत हुआ। परंतु अपने अस्तित्वकाल में उसने साहित्य, विज्ञान तथा कला के क्षेत्र में महान सृजनात्मक शक्तियों को उन्मुक्त किया। इसका उल्लेख हम आगे चलकर करेंगे। गुप्त सम्राटों ने भारत को और विशेषतः उत्तरी भारत को एकता, सुरक्षा तथा शांति की भावना प्रदान की जिसकी उसे बहुत आवश्यकता थी। प्रथम चीनी यात्री फ़ाह्यान ने, जो चंद्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में भारत आया था, जन-जीवन का उल्लेख अत्यंत प्रशंसा भरे शब्दों में किया है। वह लिखता है कि मध्यदेश में "सर्दी और गर्मी दोनों में अत्यंत उत्तम संतुलन है, न पाला पड़ता है न बर्फ़ गिरती है। जनता बहुसंख्यक और सुखी है; किसी को अपने पर सरकारी कार्यालय में दर्ज नहीं कराने पड़ते हैं और न न्यायाधीशों के सामने जाना पड़ता है न उनके नियमों का पालन ही करना पड़ता हैं। केवल वे लोग जो राजा की जमीन पर खेती करते हैं उन्हें अपने लाभ का एक भाग देना पड़ता है। यदि वे ज़मीन छोड़कर जाना चाहें तो जा सकते हैं या रहना चाहें तो रह सकते हैं। राजा अपने शासन में किसी अपराधी को मृत्युदंड या अन्य किसी प्रकार का शारीरिक दंड नहीं देता। अपराधियों पर केवल जुर्माना किया जाता है। हर मुक़द्दमे की वास्तविक परिस्थिति के अनुसार यह जुर्माना कम या ज्यादा होता है। कई बार राजद्रोह का दुस्साहस करनेवालों का भी केवल दाहिना हाथ काट दिया जाता है। राजा के अंगरक्षकों और सभी सेवकों को वेतन मिलता है।" गुप्त साम्राज्य की समृद्धि का प्रत्यक्ष प्रमाण इन सम्राटों के सोने तथा चाँदी के सिक्कों में मिलता है जिसके बहुत बड़े-बड़े भंडार विभिन्न स्थानों में पाये गये हैं। सबसे हाल में भरतपुर में कुछ सिक्के पाये गये हैं जिनका वर्गीकरण तथा अध्ययन किया जा रहा है।

फ़ाह्यान ने प्रशासन की उदारता का उल्लेख किया है। गुप्त साम्राज्य कई प्रांतों में विभाजित था जिन्हें 'देश' कहते थे; इनका शासन उपराजों (वाइसरायों) के हाथ में था, जो आम तौर पर राज-परिवार के सदस्य होते थे। देश के बाद 'भुक्तिया' थीं, जो आजकल के कमिश्नरों के डिवीज़न के बराबर होती थीं। इनके बाद 'विषय' थे जो आधुनिक ज़िलों के बराबर थे।

प्रत्येक भुक्ति के प्रशासन का भार एक 'उपरिक' पर होता था जिसे सम्राट् स्वयं नियुक्त करता था। 'विषय' का शासक 'विषयपति' होता था जिसे 'उपरिक' नियुक्त करता था, कभी-कभी एकाध विषयपति को सम्राट् स्वयं भी नियुक्त कर देता था। प्रशासन की सबसे छोटी इकाई 'ग्राम' थी जिसका शासन-भार 'ग्राम्यक' के सिपुर्द होता था और उसकी सहायता के लिए ग्राम पंचायत और ख़जांची आदि कुछ राजकर्मचारी होते थे।

राजधानी में महाअक्षपटलिक (अभिलेख मंत्री), महाप्रतिहार (राजमहल का मुख्य प्रबंध-कर्ता), महादंडनायक (न्यायाधीश) तथा महासंधिविग्राहिक (युद्ध तथा शांति मंत्री) आदि उच्च पदाधिकारी काम करते थे। इन सब के ऊपर राजा का स्थान होता था। यह गुप्तवंश की एक विशिष्टता रही है कि राजा अपने नाम के साथ महाराजाधिराज आदि जैसी सम्मानसूचक उपाधियाँ जोड़ लेते थे और उसके अतिरिक्त उनके नाम के साथ विक्रमादित्य, महेंद्र आदि अनेक बिरुद भी जुड़े होते थे। इससे पहले के युग में अशोक जैसा महान सम्राट् भी राजन् की साधारण उपाधि से संतुष्ट रहता था। परंतु बाद में चलकर राजत्व में देवत्व के गुण आ गये और समुद्रगुप्त का वर्णन एक देवता के रूप में किया गया है तथा उसकी तुलना इंद्र तथा वरुण आदि देवताओं से की गयी है। यह पद्धति कुषाणों की चलायी हुई थी और संभवतः उन्होंने इसे ईरानियों और चीनियों से अपनाया था। बहुधा राजा अपना उत्तराधिकारी स्वयं नियुक्त करता था; समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय इसी प्रकार नियुक्त किये गये थे। यद्यपि कुछ राजा स्वयं वैष्णव मत या शैव मत के अनुयायी थे परंतु दूसरे मतों के प्रति वे सहिष्णुता का भाव रखते थे और नालंदा के बौद्ध विश्वविद्यालय के विकास का बहुत कुछ श्रेय गुप्त सम्राटों की उदारता को है। इस काल में ब्राह्मणवाद का पुनरुत्थान हुआ और राजा उसके सबसे बड़े समर्थक थे। अश्वमेध आदि पुराने वैदिक यज्ञों का फिर से प्रचलन हुआ और वैष्णव मत तथा शैव मत दो महान पंथों के रूप में सामने आये जिनके अनुयायियों की संख्या बहुत अधिक थी। ब्राह्मणपंथ में भी धीरे-धीरे एक परिवर्तन आया और उसने पौराणिक हिंदू धर्म का वह रूप धारण कर लिया जिससे हम आज तक भली भाँति परिचित हैं।

धर्म के प्रति गुप्त सम्राटों की रुचि इस बात से सिद्ध होती है कि उन्होंने कितने ही गाँव मंदिरों तथा मठों को दान कर दिये। इन्हें 'अग्रहार' गाँव कहते थे और इनसे जो भूमि-कर वसूल होता था वह विद्या के प्रसार तथा सार्वजनिक मंदिरों का खर्च चलाने पर व्यय किया जाता था। कुछ अधिकारी ऐसे भी थे जिन्हें विनयस्थितिस्थापक कहते थे; इनके जिम्मे नैतिक समस्याओं की देखभाल करने तथा उन्हें हल करने का काम था; उनकी तुलना अशोक के समय के धर्ममहामात्रों से की जा सकती है।

इस प्रकार गुप्तकाल शांति तथा समृद्धि, नागर संस्कृति तथा परिमार्जन, धार्मिक पुनरुत्थान तथा बौद्धिक प्रयास, उत्कृष्ट साहित्य तथा कला की उन्नति का युग था और इसे प्राचीन भारत का स्वर्ण-युग ठीक ही कहा गया है। आत्म-विश्वास के साथ भारतीय संस्कृति ने दरबार के आचार-व्यवहार, मुद्रा, विज्ञान तथा कला के क्षेत्रों में विदेशों की बहुत-सी बातें स्वतंत्रतापूर्वक अंगीकार कर लीं; परंतु विदेशों से सीखते समय भी उसने इस बात का ध्यान रखा कि सभी

देशों की हवाएँ उसके घर के चारों ओर चलें पर ऐसा न होने पाये कि उनके प्रबल वेग से घर की बुनियाद उखड़ जाये। भारत की मूलभूत "भारतीयता" को पूरी तरह समझ लिया गया था, उसे पुष्ट किया गया और उसे चिरस्थायी तथा परिमार्जित रूप में व्यक्त किया गया ताकि आनेवाली पीढ़ियों के लिए एक आदर्श रखा जा सके—एक ऐसा आदर्श जिसे लोग सराहें और उसका अनुसरण करें।

# परिशिष्ट १

## गुप्तकाल

यह साधारणतया स्वीकार किया जाता है कि गुप्तकाल का आरंभ समुद्रगुप्त के पिता चंद्रगुप्त प्रथम के राज्याभिषेक के समय से हुआ। एक अनुमान के अनुसार चंद्रगुप्त प्रथम का राज्याभिषेक २० दिसम्बर ३१८ ई० को और दूसरे अनुमान के अनुसार २६ फरवरी ३२० ई० को हुआ था। पर इन दोनों तिथियों में से किसी की पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं मिलता है। जैसा कि कुछ लोग तर्क प्रस्तुत करते हैं, यह भी संभव है कि गुप्तकाल समुद्रगुप्त के गद्दी पर बैठने के समय से आरंभ हुआ; वह निस्संदेह सबसे महान गुप्त सम्राट् था। प्रत्येक काल का आरंभ किसी अत्यंत महत्वपूर्ण घटना के उपलक्ष्य में होता है और ये दोनों ही घटनाएँ, चंद्रगुप्त प्रथम का राज्याभिषेक और समुद्रगुप्त का गद्दी पर बैठना, गुप्तवंश के इतिहास में समान रूप से अत्यंत महत्वपूर्ण घटनाएँ कही जा सकती हैं। चंद्रगुप्त प्रथम और उसके पूर्वगामी शासकों का अंतर इलाहाबाद के स्तंभ पर समुद्रगुप्त के अभिलेख में स्पष्ट रूप से बताया गया है; चंद्रगुप्त प्रथम को महाराजाधिराज कहा गया है जबकि उसके पूर्वगामी शासकों के लिए केवल महाराज शब्द का प्रयोग किया गया है। इस अंतर का स्पष्ट अर्थ यह है कि गुप्तवंश के शासनकाल में राज्य के विस्तार में वृद्धि हुई और इसलिए यह मान लेना स्वाभाविक ही है कि चंद्रगुप्त प्रथम के शासन की इस घटना को अविस्मरणीय बना देने के लिए एक नये काल—गुप्तकाल—का श्रीगणेश किया गया। परंतु इस समस्या का अभी तक पूरी तरह निवारण नहीं हो सका है इसलिए हमारे लिए इस रूढिगत मान्यता का ही प्रयोग करना उचित होगा कि ३१९–३२० ई० गुप्तकाल का प्रथम वर्ष था।

# परिशिष्ट २

## रामगुप्त की कहानी

बहुत समय तक यह माना जाता था कि समुद्रगुप्त के बाद उसका बेटा चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य गद्दी पर बैठा। परंतु विशाखदत्त-रचित देवी-चंद्रगुप्त नामक नाटक की खोज से हमारे सामने यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ है कि कदाचित समुद्रगुप्त के बाद रामगुप्त गद्दी पर बैठा। नाट्यदर्पण तथा *शृंगारप्रकाश* में यदा-कदा जो उल्लेख मिलते हैं और शिलालेखों तथा मजमल-उत-तवारीख आदि परावर्ती रचनाओं में रामगुप्त के जीवन की जो प्रतिध्वनि मिलती है उनके अनुसार रामगुप्त की कहानी इस प्रकार है :

समुद्रगुप्त के बाद उसका बेटा रामगुप्त गद्दी पर बैठा; वह बहुत ही दुर्बल चरित्र का और महत्वहीन व्यक्ति था। इसी समय शकों का एक आक्रमण भारत पर हुआ और रामगुप्त ने अपने प्राण बचाने के लिए यह अपमानजनक शर्त स्वीकार कर ली कि वह अपनी रानी ध्रुव-देवी को आक्रमणकर्ता के रनवास में भेज देगा। परंतु उसके भाई चंद्रगुप्त को इस नीच षड्-यंत्र का पता चल गया और वह कुल की मर्यादा की रक्षा करने के लिए स्वयं स्त्री के भेष में में शक दरबार में गया और वहाँ उसने धृष्ट शत्रु को मार डाला। जब वह लौटा तो स्वाभाविक रूप से उसका वीरोचित स्वागत किया गया; बाद में उसने रामगुप्त को मार डाला और उसकी विधवा ध्रुवदेवी से विवाह कर लिया।

परंतु इस वृत्तांत पर विश्वास करना कठिन है। गुप्तवंश के अधिकृत वंशक्रम में कहीं राम-गुप्त का उल्लेख नहीं मिलता; परंतु इस संबंध में यह तर्क भी दिया जा सकता है कि समुद्रगुप्त जैसे महान सम्राट् का अयोग्य पुत्र तथा उत्तराधिकारी होने के कारण ही संभवतः उसका नाम न दिया गया हो। परंतु यदि उसने शासन किया होता, चाहे उसका शासन कितने थोड़े समय के लिए ही क्यों न रहा हो, तो उसने अपने नाम के सिक्के भी अवश्य चलवाये होते। अभी तक इस प्रकार के कोई सिक्के नहीं मिले हैं। यह प्रायः असंभव है कि इस समय तक शकों कि शक्ति इतनी बढ़ गयी हो कि वे रामगुप्त को इतनी अपमानजनक बात स्वीकार करने पर बाध्य कर सकें; हम जानते हैं कि इतिहास के इस काल में उनकी सत्ता का ह्रास हो रहा था और इसके शीघ्र ही बाद उनका नाम-निशान भी मिट गया। परंतु यह तर्क कोई अलंघ्य बाधा नहीं है क्योंकि यदि यह मान भी लिया जाये कि शकों की शक्ति क्षीण होती जा रही थी फिर भी संभव है कि उन्हें सहसा एक आक्रमण करने का अवसर मिल गया हो जिसके दौरान में उन्होंने रामगुप्त को ऐसे संकट में फँसा दिया हो जिससे निकलना उसके लिए कठिन हो गया हो। इसके अतिरिक्त चंद्रगुप्त का अपनी भावज से विवाह करना कुछ विचित्र तो अवश्य प्रतीत होता है पर ऐसा असंभव नहीं था क्योंकि शास्त्रों में इस प्रकार के विवाह का कहीं निषेध नहीं किया गया है। परंतु हमें यह भी याद रखना चाहिये कि रामगुप्त की कहानी हमें जिन स्रोतों से प्राप्त हुई है वे पूर्णतः साहित्यिक तथा प्रेमरस-प्रधान हैं और इनमें अतिशयोक्ति तथा कल्पना का बहुत बड़ा हाथ है। रामगुप्त की कहानी को स्वीकार करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि हमें इसकी पुष्टि में किसी अभिलेख में कोई उल्लेख या कोई सिक्के नहीं मिलते और जब तक यह कठिनाई दूर न हो हम न इस कहानी को निश्चय के साथ स्वीकार ही कर सकते हैं न ठुकरा ही सकते हैं।

## — ८ —

# दीपक की अंतिम ज्योति

लगभग ५५० ई. तक गुप्त साम्राज्य का अस्तित्व मिट चुका था। लगभग आधी शताब्दी तक उत्तरी भारत छोटी-छोटी स्थानीय सत्ताओं में बँटा रहा, जिनमें मौखरि, मगध के परवर्ती गुप्त और वलभी के मैत्रक प्रमुख रूप से सामने आये पर उनकी स्थिति हमेशा डावाँ-डोल रही। इन अनेक राज्यों में से स्थानेश्वर नामक एक राज्य में उन्नति करने की संभावना दिखायी दी और शीघ्र ही यह संभावना पूरी भी हो गयी।

स्थानेश्वर के राज्य की स्थिति सैनिक दृष्टि से बहुत महत्व रखती थी। इस राज्य की राजधानी का नाम भी स्थानेश्वर था और वह पंजाब के पूर्वी सिरे पर सरस्वती नदी के किनारे स्थित थी। छठी शताब्दी के अंतिम दशक में स्थानेश्वर के इस राज्य पर प्रभाकरवर्धन नामक राजा राज करता था। उसके दो पुत्र और एक पुत्री थी। उसके दरबार में बाण नामक एक प्रतिभाशाली लेखक था; बाद के ज़माने में एक चीनी यात्री उसके राज्य से होकर गुज़रा जिसकी दृष्टि अत्यंत तीक्ष्ण, बुद्धि अत्यंत प्रखर तथा हृदय अत्यंत दृढ़ था।

यह भारतीय लेखक और चीनी यात्री दोनों ही इस राजवंश के प्रति बड़ा सम्मान रखते थे और इस काल की घटनाओं के बारे में हमें जो विपुल ज्ञान प्राप्त है उसका श्रेय इन्हीं दोनों को है। इसके अतिरिक्त तीन अभिलेख अभी तक विद्यमान हैं जिनमें कुछ ऐसे तथ्यों का उल्लेख मिलता है जिनके बारे में बहुत कम लोगों को जानकारी है। इनमें से एक अभिलेख पर हस्ताक्षर भी हैं, जिससे हमें प्राचीन भारत की एक महानतम विभूति के चरित्र की एक झलक मिलती है।

इस राजवंश को हम वर्धनवंश कह सकते हैं क्योंकि इसके हर सदस्य के नाम के अंत में वर्धन शब्द आता है; इस राजवंश का संस्थापक नरवर्धन था जिसका पुत्र राज्यवर्धन और पौत्र आदित्यवर्धन था। आदित्यवर्धन का पुत्र प्रभाकरवर्धन था; उसने अपने आपको महाराजाधिराज कहना आरंभ किया जबकि उसके पूर्वज केवल महाराज कहलाते थे। इसका अर्थ तो यह है कि श्रीकण्ठ प्रदेश के स्थानेश्वर नामक ज़िले के तुच्छ सामंत से बढ़कर प्रभाकरवर्धन अपने बाहुबल के ज़ोर पर एक शक्तिशाली महाराजा बन गया। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने सिंधु प्रदेश, गुजरात, गांधार तथा मालव राज्य में फैले हुए हूणों को परास्त किया और लाटवंश के राजाओं पर विजय प्राप्त की। चीनी यात्री ह्युएन सांग ने अपने वृत्तांत में लिखा है कि स्थानेश्वर राज्य की "परिधि लगभग ७०० ली* और राजधानी की परिधि लगभग २० ली थी।"

---

* ली : दूरी नापने का चीनी मानदंड; एक 'ली' लगभग ⅙ मील के बराबर होता है।

ह्युएन सांग ने आगे चलकर यह भी लिखा है कि "यहां की भूमि उपजाऊ है और अन्न बहुत पैदा होता है। जलवायु गरम होते हुए भी सुखकर है। लोगों का व्यवहार अत्यंत रूखा है और उनमें एक-दूसरे के प्रति लगाव नहीं है। परिवार धनी हैं और अत्यधिक विलासिता का जीवन व्यतीत करते हैं। वे जादू-टोनों के बहुत आदी हैं और साधारणतया उन लोगों का सम्मान करते हैं जो किसी भी अन्य क्षेत्र में असाधारण योग्यता रखते हों। अधिकांश लोग माया के मोह में फँसे रहते हैं, केवल बहुत थोड़े-से लोग खेती-बारी का काम करते हैं। यहाँ देश के कोने-कोने से अलभ्य तथा बहुमूल्य वस्तुएँ बहुत बड़ी मात्रा में बिकने के लिए आती थीं।" स्पष्ट है कि स्थानेश्वर यद्यपि अत्यंत समृद्धिशाली और घना बसा हुआ था पर इस यात्री पर उसका कोई गहरा प्रभाव नहीं पड़ा।

प्रभाकरवर्धन के दो बेटे राज्यवर्धन तथा हर्षवर्धन तथा एक पुत्री राज्यश्री थी; उनका जन्म क्रमशः ५८७ ई०, ५९०–५९१ ई० तथा ५९३ ई० में हुआ था। राजकुमारों का पालन-पोषण राजोचित ऐश्वर्य के वातावरण में हुआ और उस समय की प्रथा के अनुसार उन्हें युद्ध तथा शांति की कलाओं की शिक्षा दी गयी। राज्यश्री बढ़कर एक सुन्दरी युवती बन गयी और उसका विवाह बड़ी धूमधाम के साथ कन्नौज के मौखरि राजा अवंतिवर्मन के पुत्र राजकुमार ग्रहवर्मन के साथ हो गया।

इसके बाद हुणों के आक्रमण का संकट सामने आ खड़ा हुआ। चूँकि प्रभाकरवर्धन बूढ़ा था इसलिए युवराज राज्यवर्धन, अपने पूर्वगामी राजकुमार स्कंदगुप्त की ही तरह, शत्रु से मोर्चा लेने के लिए निकल पड़ा। हर्ष भी अपने बड़े भाई के साथ रणक्षेत्र में जाने को बहुत उत्सुक था पर उसकी अल्पावस्था के कारण उसे केवल एक सहकारी सेना का सेनानायक बनाकर युद्ध के मोर्चे से कुछ दूर रहने की अनुमति दे दी गयी ताकि यदि राज्यवर्धन को सहायता की आवश्यकता हो तो यह सेना भेजी जा सके। इस प्रकार जब राज्यवर्धन हुणों की शत्रु-सेना के विरुद्ध लड़ रहा था हर्ष अपना अवकाश का समय, जो उस पर ज़बर्दस्ती थोप दिया गया था, हिरनों तथा अन्य जंगली जानवरों के शिकार में व्यतीत कर रहा था। इतने में राजधानी से समाचार मिला कि प्रभाकरवर्धन बहुत सख़्त बीमार हैं और रोगशय्या पर पड़े हुए अपने पिता की सेवा करने के लिए हर्ष राजधानी की ओर तुरंत चल पड़ा। उसने यह दुःखद समाचार लेकर एक संवादवाहक को अपने भाई के पास भेजा पर राज्यवर्धन जब युद्ध में लगे हुए तीरों के घावों पर पट्टियाँ बाँधे वापस पहुँचा तब तक प्रभाकरवर्धन की मृत्यु हो चुकी थी। दोनों भाई शोक में डूब गये। राज्यवर्धन ने भाव-विह्वल होकर घोषणा की कि वह अपने छोटे भाई को राजपाट सौंपकर संन्यास ले लेगा परंतु हर्ष ने समझा-बुझाकर अपने भाई को ऐसा करने से रोका और राज्यवर्धन को स्थानेश्वर का राजा घोषित कर दिया गया।

परंतु मुसीबत कभी अकेली नहीं आती, इस घटना के शीघ्र ही बाद क्रूर नियति ने उनपर एक और भीषण आघात किया। एक संवादवाहक यह समाचार लेकर आया कि मालवा के राजा ने विश्वासघात से राजश्री के पति ग्रहवर्मन पर आक्रमण करके उसे मार डाला था। इस शोक में वृद्धि करने के लिए यह अपमानजनक सूचना भी मिली कि राज्यश्री को मालवा राज्य की

राजधानी कान्यकुब्ज के कारावास में उसके कोमल पैरों में लोहे की बेड़ियाँ पहनाकर चोर-डाकुओं की पत्नी की तरह डाल दिया गया है। यह समाचार सुनते ही सर्वत्र शोक तथा रोष की एक लहर दौड़ गयी। राज्यवर्धन शासन की बागडोर अपने छोटे भाई को सौंपकर अपनी बहन को कारावास से मुक्त करने और अपने मृत बहनोई का बदला लेने के लिए चल पड़ा। वह एक क्रुद्ध सिंह की तरह रणक्षेत्र में उतरा। उसे अपूर्व सफलता प्राप्त हुई; उसने बिना किसी कठिनाई के शत्रु के छक्के छुड़ा दिये। परंतु राज्यवर्धन जितना वीर था उतना ही भोला भी था और युद्ध में पराजित शत्रु इस बात को जानता था। बंगाल का राजा शशांक मालवा के राजा का मित्र था; उसने छल से राज्यवर्धन को संधि-वार्ता के लिए एक सम्मेलन में बुलाया और वहां किसी हत्यारे ने उसे मौत के घाट उतार दिया। इस गड़बड़ में राज्यश्री बंदीगृह से भाग निकली और विंध्याचल के वन में जा पहुँची जहाँ उसे बौद्ध भिक्षु दिवाकरमित्र के आश्रम में शरण मिली; दिवाकरमित्र कदाचित उसके परिवार का पुराना मित्र था।

अपने भाई की मृत्यु से और अपनी बहन के बारे में निश्चित रूप में कुछ मालूम न होने के कारण हर्ष को भीषण आघात पहुँचा। परंतु नियति ने जो भार उसके कंधों पर डाल दिया था उसे सँभालने की योग्यता उसमें थी। विश्वासघाती शशांक से बदला लेने की सौगंध खाकर उसने अपनी सैन्य-शक्ति संगठित की और स्थानेश्वर नगर की सीमाएँ छोड़कर रणक्षेत्र की ओर चल पड़ा। हर्ष रण-कौशल में काफ़ी निपुण था और उसमें अपने शत्रुओं को परास्त करने के लिए काफ़ी वीरता भी थी। परंतु शशांक, जिसके बारे में बौद्ध वृत्तांतों में यह भी कहा गया है कि यही राजा था जिसने बोधि-वृक्ष को नष्ट किया था, हाथ नहीं आया; वह इसके बाद भी बहुत समय तक जीवित रहा और हर्ष की आंखों में काँटे की तरह खटकता रहा।

अपने शत्रुओं को परास्त कर चुकने के बाद हर्ष अपनी बहन का पता लगाने के लिए बेचैन हो उठा। बहुत दिन इधर-उधर भटकने के बाद वह दिवाकरमित्र के आश्रम की ओर चला। निराश और व्यथित होकर राज्यश्री धधकती हुई चिता की ज्वाला में कूदकर सती होने ही जा रही थी कि इतने में हर्ष ने उसे पुकारा और उसे चिता में कूदने से रोक लिया। राज्यश्री ने बौद्ध संघ में सम्मिलित होने की प्रार्थना की। हर्ष ने उत्तर दिया कि वह स्वयं भी उसके साथ बौद्ध संघ में सम्मिलित हो जायेगा पर अपना लक्ष्य पूरा कर लेने के बाद। अन्ततः हर्ष और राज्यश्री कनौज की तरफ़ वापस लौटे।

अब दो राजसिंहासन खाली थे; एक स्थानेश्वर का और दूसरा कन्नौज का क्योंकि राज्यश्री के कोई पुत्र नहीं था। राज्यश्री ने हर्ष को कन्नौज का भी शासन संभाल लेने पर राज़ी कर लिया। इस प्रकार जब दोनों राज्य मिलकर एक हो गये और राजधानी कन्नौज में स्थापित हुई तो स्थानेश्वर का हर्षवर्धन कन्नौज का श्री हर्ष बन गया।

हर्ष इस संकट से भली भांति परिचित था कि दूसरे सामंत जिनकी स्वामिभक्ति पर विश्वास नहीं किया जा सकता था, कहीं उसे चारों तरफ़ से घेर न लें, इसलिए वह विजय अभियान पर निकल पड़ा। इसके लिए वह पूरी तरह से लैस था क्योंकि उसके साथ ५,००० हाथियों, २०,००० घुड़सवारों और ५०,००० पैदल सिपाहियों की सेना थी; "यह सेना "पांच राज्य" को

पार करती हुई आगे बढ़ती गयी और यह सैनिक अभियान लगभग छः वर्षों तक जारी रहा।

इतनी विजयों के साथ हर्ष को चालुक्यों के राजा पुलकेशिन द्वितीय के हाथों एक पराजय भी देखना पड़ी। चालुक्य काञ्ची के पल्लवों के सब से कट्टर शत्रु थे; पिछले पृष्ठों में हम दक्षिण में उनके आक्रमणों का उल्लेख कर चुके हैं। ५५० ई० के लगभग चालुक्य वंश के संस्थापक पुलकेशिन प्रथम ने वातापीपुर में, जो आधुनिक बादामी है, अपनी राजधानी बनाकर उसके आस-पास के इलाक़े में अपना राज्य स्थापित कर लिया। उसके बेटों ने देश-विजय की परम्परा को आगे बढ़ाया और कोंकन, कुर्नूल तथा बेलारी ज़िलों के बहुत बड़े भाग को कदम्बों से छीनकर अपने राज्य में मिला। कुछ समय बाद सौराष्ट्र और उत्तरी गुजरात को छोड़कर वर्तमान बम्बई राज्य का पूरा इलाक़ा चालुक्यों के राज्य में आ चुका था।

पुलकेशिन प्रथम के दो पुत्र थे, कीर्तिवर्मन प्रथम और मंगलेश; इन दोनों में से छोटा भाई मंगलेश गद्दी पर बैठा। मंगलेश अपने बाद अपने एक पुत्र को गद्दीपर बिठाना चाहता था पर कीर्तिवर्मन प्रथम के पुत्र पुलकेशिन द्वितीय ने लड़ाई में अपने चाचा को परास्त करके उसे मार डाला और स्वयं चालुक्यों का राजा बन बैठा। बड़ी निपुणता से उसने अपनी स्थिति दृढ़ की; जब हर्ष ने उसपर आक्रमण किया उस समय वह युद्ध के लिए पूरी तरह तैयार था।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय देश दो समान रूप से शक्तिशाली राज्यों में विभाजित था; उत्तर में हर्ष का शासन था और दक्षिण में पुलकेशिन का एकछत्र राज्य था। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इन दोनों राज्यों के सौराष्ट्र जैसे सीमावर्ती प्रदेशों पर, जहाँ मैत्रकों का राज्य था, प्रभुत्व जमाने के प्रश्न को लेकर दोनों राज्यों के बीच लड़ाई ठन गयी। ६३० ई० से ६३४ ई० तक दोनों राज्यों की सेनाएँ नर्मदा नदी के किनारे किसी स्थान पर एक दूसरे के सामने डटी रहीं। इस घटना का उल्लेख ह्युएन सांग ने बहुत ही थोड़े शब्दों में किया है। उसने लिखा है : "शीलादित्य राजा (हर्ष को लोग इसी नाम से जानते थे) अपने कौशल और अपने सेनापति की अनवरत सफलताओं के गर्व में चूर इस राजा (पुलकेशिन द्वितीय) से टक्कर लेने के लिए स्वयं अपनी सेना का नेतृत्व करता हुआ आगे बढ़ा, पर वह उसपर विजय पाने या उसे अपनी अधीन करने में असफल रहा।"

इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है क्योंकि पुलकेशिन द्वितीय युद्धकला में नौसिखिया नहीं था। वह उत्तरी भारत के लाट, मालव और गुर्जर राज्यों को अपने अधीन कर चुका था। वह दक्षिण की तरफ़ बढ़ा और कृष्णा तथा गोदावरी नदियों के बीच की सारी भूमि पर अपना अधिकार जमा लिया; उसने पल्लवों की राजधानी काञ्ची पर घेरा डाल दिया और उनका सम्राट् होने का गौरव मिट्टी में मिला दिया। और आगे बढ़कर उसने चोलों के राज्य के लिए संकट उपस्थित कर दिया पर चोलों ने और उनके साथ केरलों तथा पांड्यों ने शीघ्र ही हर्ष से मित्रता कर ली। इन विषयों से उसकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी और ईरान के बादशाह खुसरो ने उसे पत्र तथा उपहार भेजे और इधर से भी प्रत्युत्तर में पत्र तथा उपहार भेजे गये।

जिन लोगों पर पुलकेशिन द्वितीय का शासन था उनके बारे में ह्युएन सांग ने बहुत कुछ लिखा है। वह लिखता है, "प्रजा स्वभावतः ईमानदार और सरलताप्रिय है; लोगों का क़द लम्बा होता है

और प्रतिकार की कठोर भावना उनके स्वभाव का एक अंग है। अपने शुभचिंतकों के प्रति वे कृतज्ञता और शत्रुओं के प्रति निर्ममता का व्यवहार करते है। यदि कोई विपदा में उनकी सहायता माँगे तो वे सहायता देने की उत्सुकता में अपनी आपको भी भूल जाते हैं। जब वे बदला लेने निकलते थे तो पहले शत्रु को चेतावनी देते थे; जब दोनों पक्ष सशस्त्र हो जाते हैं तब वे भालों से एक दूसरे पर आक्रमण करते हैं; जब कोई भागता है तो दूसरा उसका पीछा करता है पर वे शरण में आये हुए व्यक्ति को (जो आत्म-समर्पण कर देता है) नहीं मारते। यदि कोई सेनापति युद्ध में हार जाता है तो वे उसे दंड नहीं देते बल्कि उसे स्त्रियों के कपड़े पहना दिये जाते हैं और वह स्वयं लज्जित होकर आत्म-हत्या कर लेता है। देश में कई सौ ऐसे योद्धाओं के भरण-पोषण का प्रबंध है जो संघर्ष में जूझने से पहले मदिरा पीकर मस्त हो जाते हैं और फिर एक आदमी अकेला हाथ में भाला लेकर दस हजार आदमियों का भी सामना करने को तैयार हो जाता है और उन्हें लड़ने की चुनौती देता है। यदि इन योद्धाओं में से कोई किसी आदमी को मार डाले तो देश के क़ानून में उसके लिए कोई दंड नहीं है। हमेशा वे ढोल पीटते हुए लड़ाई के मैदान में जाते हैं। इसके अतिरिक्त पहले स्वयं मदिरा पीकर और फिर सैकड़ों हाथियों को मदिरा पिलाकर वे उन्हें रणक्षेत्र में ले जाते हैं फिर वे एक साथ शत्रु पर टूट पड़ते हैं और जो भी उनके सामने आता है वह पैरों तले रौंद दिया जाता है; उसी कारण कोई शत्रु उनके सामने टिक नहीं पाता।......चूँकि राजा के पास ये योद्धा और हाथी हैं इसलिए वह अपने पड़ोसी राजाओं को तिरस्कार की दृष्टि से देखता है। राजा क्षत्रिय है और उसका नाम पुलंकेशिन है। उसकी योजनाओं और कार्यकलापों का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है और उसकी उदारता का प्रभाव दूर-दूर तक अनुभव किया जाता है। उसकी प्रजा उसकी आज्ञा का पूरी तरह पालन करती है।"

पुलकेशिन द्वितीय, जो युद्ध में निर्भीक और अपने शासन में दृढ़ था, सहज ही अपने वंश का सब से प्रमुख राजा था। परंतु उसका यह गौरव थोड़े ही समय के लिए रहा। पल्लवों ने अपनी शक्ति फिर एकत्रित की और अपने राजा नरसिंहवर्मन प्रथम के नेतृत्व में उसे युद्ध में हराकर मार डाला और उसकी राजधानी वातापी को लूट लिया।

पुलकेशिन द्वितीय की मृत्यु के बाद चालुक्यों का राज्य दो भागों में विभाजित हो गया। इसकी मुख्य शाखा उस युग के इतिहास में एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती रही और ७१२ ई० में अरब आये तो वे आक्रमणकारियों के विरुद्ध युद्ध करने के लिए पूरी तरह तैयार थे। लाट प्रदेश में अरबों को पीछे ढकेल दिया गया और भारत को कम से कम कुछ समय के लिए उनकी लूट-खसोट से बचा लिया गया। परंतु चालुक्यों का अंतकाल निकट आ गया था क्योंकि ७५३ ई० में उन्हें अपना प्रभुत्व, जिसके लिए उन्हें बहुत लड़ना पड़ा था और जिस पर अनेक बार संकट आये थे, एक दूसरी विकासोन्मुख शक्ति को सौंप देना पड़ा। यह नयी शक्ति राष्ट्रकूटों की शक्ति थी। चालुक्य लगभग डेढ़ शताब्दी तक राजनीतिक रंगमंच पर केंद्रीय पात्र बने रहे; उन्होंने रण में शूरवीरता तथा साहसमय स्वभाव का परिचय दिया। स्थापत्य-कला तथा मूर्तिकला पर उनकी जो कृपादृष्टि रही उसकी साक्षी बादामी के गुफा मंदिर

आज तक देते हैं। बादामी की मूर्ति कला की कृतियाँ बहुत खुरदुरी हैं पर उनमें शक्ति का आभास मिलता है; उनमें नाटकीयता तथा एक व्यापकता है; वे अपने संरक्षकों के स्वभाव को प्रतिबिंबित करती हैं।

पुलकेशिन द्वितीय के अपराजेय सैनिकों के हाथों हर्ष की जो पराजय हुई थी उससे हर्ष ने सबक़ लिया और चालुक्यों को फिर कभी छेड़ने का साहस नहीं किया; उसने दक्षिण की तरफ़ से बिल्कुल मुँह मोड़ लिया। इस समय उसका राज्य काफ़ी विस्तृत था; उसमें गंगा का पूरा मैदान, नेपाल और हिमालय पर्वत तथा नर्मदा नदी के बीच का लगभग पूरा क्षेत्र शामिल था। वह अपना अधिकतर ध्यान उन विस्तृत क्षेत्रों के प्रशासन की ओर देने लगा जो उसके अधीन थे। वह यात्रा के प्रति बड़ा उत्साह रखता था और विभिन्न प्रशासकों के साथ वैयक्तिक संपर्क रखता था; उसके राज्य की प्रशासन-व्यवस्था "उदारता के सिद्धांतों पर आधारित थी।" हमें उस के राज्य के कुछ उच्च पदाधिकारियों के नाम भी मालूम हैं। उसका प्रधानमंत्री अवंति, प्रधान सेनापति सिंहनाद, अश्वारोहियों का सेनापति कुंतल और हाथियों की सेना का सेनापति स्कंदगुप्त था। महासामंत, राजस्थानीय, उपरिक, विषयपति आदि अनेक पदाधिकारियों का एक पूरा क्रम था। ह्युएन सांग का कहना है कि कार्यांग का संगठन बहुत ही सीधा-सादा था। परिवारों के नाम कहीं दर्ज नहीं किये जाते थे और न किसी से बेगार ही ली जाती थी। राजा की निजी संपत्ति चार मुख्य भागों में विभाजित थी : पहला भाग राज्य-शासन चलाने तथा यज्ञ आदि पर व्यय होता था; दूसरे भाग से मंत्रियों तथा राज्य के मुख्य पदाधिकारियों का वेतन दिया जाता था; तीसरे भाग से असाधारण रूप से प्रतिभाशाली व्यक्तियों को पुरस्कार दिया जाता था; चौथा भाग धार्मिक संस्थाओं को दान दिया जाता था। इस प्रकार सद्गुणों को प्रोत्साहन दिया जाता था। इस प्रकार लोगों पर कर का भार बहुत कम था और उन्हें राज्य के प्रति जो सेवाएँ करनी पड़ती थीं वह बहुत कष्टसाध्य नहीं थीं। प्रत्येक व्यक्ति निर्विघ्न रूप से अपनी भौतिक संपत्ति का भोग करता था और सभी लोग शांति तथा सुरक्षा के वातावरण में खेती-बारी करते थे। उपज का छठा भाग भूमिकर के रूप में लिया जाता था। व्यापारी वाणिज्य से बहुत लाभ उठाते थे और थोड़ी-सी चुंगी अदा करने पर कोई भी व्यक्ति जलमार्गों तथा सड़कों को इस्तेमाल कर सकता था। जब भी सार्वजनिक निर्माण-कार्यों के लिए आवश्यक होता था हर व्यक्ति को अनिवार्य रूप से काम करना पड़ता था पर सबको उचित पारिश्रमिक दिया जाता था।

सेना के कर्मचारियों को अनेक विशेष अधिकार मिले हुए थे। यह नियम था कि सैनिकों को वेतन नक़द रक़म के रूप में दिया जाता था और जो लोग सबसे वीर होते थे उनमें से देश के सेनानायक चुने जाते थे। राजदरबार का जीवन भोग-विलास और आमोद-प्रमोद का जीवन था। यद्यपि धार्मिक नीतिशास्त्रों में स्त्रियों के अधिकारों पर अधिकाधिक प्रतिबंध लगाने के आदेश दिये गये थे पर व्यवहार में उन्हें काफ़ी स्वतंत्रता प्राप्त थी।

लोग चावल, गेहूँ, दूध और दूध की बनी हुई चीजें खाते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि लोगों को मिष्टान्न के प्रति काफ़ी रुचि थी क्योंकि हर प्रकार की मिठाई की उस समय बड़ी माँग थी।

मछली, माँस, बारहसिंगों और हिरनों का माँस सामान्यतया ताज़ा ही खाया जाता था पर कभी-कभी उसे नमक लगाकर रख भी लिया जाता था। उत्सवों के अवसर पर अंगूर और गन्ने की शराब लोगों के लोकप्रिय पेय थे, परंतु धर्मात्मा लोग इसे निंदा की दृष्टि से देखते थे।

नगर की सारी सरगर्मियों का केंद्र बाज़ार होता था जहाँ नाना प्रकार की भारतीय तथा विदेशी दोनों ही वस्तुएँ बिकने के लिए आती थीं। सोनें और चाँदी के सिक्के विनिमय का माध्यम थे यद्यपि कभी-कभी सुविधा के लिए छोटे मोतियों और कौड़ियों को भी इस्तेमाल किया जाता था। समुद्र पार के देशों के साथ बहुत व्यापार होता था और भारतीय जहाज़ श्रीलंका से चीन तक का चक्कर लगाते थे। हिंसाजनक अपराध बहुत कम होते थे यद्यपि यात्रा करना गुप्तकाल की अपेक्षा ज्यादा खतरनाक हो गया था। फाह्यान को कभी किसी ने रास्ते में नहीं सताया पर उसके बाद आनेवाले चीनी यात्री ह्युएन सांग को कई बार ऐसे अरुचिकर अनुभवों का सामना करना पड़ा। हर अपराध का उचित दंड दिया जाता था और न्याय-पथ से विचलित होने के विरुद्ध दूसरों को सचेत करने के लिए अपराधियों के शरीर के किसी अंग को विकृत कर दिया जाता था। वेश-भूषा में लोग स्वच्छ श्वेत परिधानों को पसंद करते थे; रंगीन कपड़ों के प्रति लोगों की रुचि बहुत कम थी। पुरुष कपड़े का एक टुकड़ा कमर पर बाँधते थे और उसके दूसरे सिरे को बग़ल के नीचे से लाकर दाहिने कंधे के ऊपर डाल देते थे। स्त्रियों के वस्त्र नीचे पैरों तक लम्बे होते थे और उनके कंधे बिलकुल ढके रहते थे। स्त्रियाँ सिर पर सामने की ओर एक छोटा-सा जूड़ा बाँधती थीं और बाकी बाल पीछे खुले छोड़ रखती थीं। पुरुष टोपियाँ पहनते थे और गले में पुष्पमालाएँ और मोतियों के हार पहनते थे। वर्ण-व्यवस्था अपने अंतिम रूप में स्थापित हो चुकी थी और अस्पृश्यता के प्रथम चिह्न दिखायी देने लगे थे।

लगभग छः वर्ष तक युद्ध में फँसे रहने के बाद हर्ष शांति तथा आध्यात्मिक खोज का जीवन व्यतीत करने लगा। उसके इस शांतिपूर्ण जीवन में लगभग ६३४ ई० में एक बार विघ्न पड़ा जब उसने वलभी के मैत्रक राजा ध्रुवसेन द्वितीय पर आक्रमण किया। बाद में ध्रुवसेन द्वितीय ने उससे मित्रता कर ली और हर्ष की पुत्री से विवाह करके अर्ध-स्वतंत्र रूप से शासन करता रहा। अनुमान किया जाता है कि लगभग इसी समय पुलकेशिन द्वितीय से हर्ष की टक्कर हुई और उसकी पराजय हुई। ह्युएन सांग के वृत्तांत में इस विषय में स्पष्टता के साथ कुछ नहीं कहा गया है। वह लिखता है कि साढ़े पाँच वर्ष तक युद्धरत रहने के बाद हर्ष ३० वर्ष तक शांतिपूर्वक शासन करता रहा। उसके राज्य में शांति तो थी और आसाम का राजा भास्करवर्मन उसका मित्र था, परंतु उसका सबसे कट्टर शत्रु शशांक ६३८ ई० में अपनी मृत्यु के समय तक उसके सीने में काँटे की तरह खटकता रहा। आध्यात्मिक जीवन के प्रति हर्ष की रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती गयी; वह धार्मिक संस्थानों तथा विद्या के केंद्रों को हाथ खोलकर सहायता देने लगा; उदाहरण के लिए नालंदा का प्रख्यात विश्वविद्यालय उसी के समय में अपने गौरव के उच्चतम शिखर पर पहुँचा।

बौद्ध वृत्तांतों में हर्ष को एक दूसरे अशोक के रूप में सराहा गया है। परंतु यह स्पष्ट रूप से

ज्ञात नहीं हो सका है कि उसने बौद्धमत कब अंगीकार किया। उसके पूर्वज कट्टर ब्राह्मणवादी थे। हर्ष ने अपने शासन काल के २५वें वर्ष में जो शिलालेख अंकित करवाया था उसमें उसने लिखा है कि वह शिव का उपासक था; यह शिलालेख ६३१ ई० में लिखा गया होगा क्योंकि हर्षकाल ६०६ ई. में आरंभ होता है। उसका भाई राज्यवर्धन तथा बहन राज्यश्री दोनों बौद्ध थे; राज्यश्री सम्मितीय पंथ की अनुयायी थीं। इन प्रभावों के अधीन यह स्वाभाविक ही था कि हर्ष में गौतम के सिद्धांतों को उचित मानने की प्रवृत्ति रही हो। परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि उसने अपने शासनकाल के अंत के निकट ही बौद्धमत अंगीकार किया। एक बार निर्णय कर लेने पर हर्ष धर्म-प्रचारकों जैसे उत्साह के साथ अपने मत के हितों को आगे बढ़ाने के काम में तन-मन से जुट गया। ह्युएन सांग का कहना है कि वह "आत्म-संयम के नियमों का पालन पूरी तरह करता था। धर्मनिष्ठ व्यवहार का प्रचार करने में इतना खोया रहता था कि उसे अपने खाने-पीने और सोने की भी सुध न रहती थी।" उसने पंचभारत की सीमा में किसी भी प्राणी की हत्या और मांसाहार का निषेध कर दिया था; इस आज्ञा का उल्लंघन करनेवाले के लिए मृत्युदंड निर्धारित किया गया था और इन अपराधियों को किसी भी दशा में क्षमा नहीं किया जाता था। उसने गंगा नदी के किनारे लगभग सौ-सौ फुट ऊँचे कई हज़ार स्तूप बनवाये। भारत के नगरों तथा गाँवों की सभी मुख्य-मुख्य सड़कों के किनारे उसने विश्रामगृह बनवाये जहाँ खाने-पीने का उचित प्रबंध था; यहाँ उसने चिकित्सक नियुक्त किये जो यात्रियों और आस-पास के निर्धन लोगों को मुफ्त दवायें देते थे।" ऐसा प्रतीत होता है कि रोगियों के लिए चिकित्सालय बनवाने का चलन प्राचीन भारत में हमेशा से ही रहा है। अशोक ने अपने बनवाये हुए चिकित्सालयों का उल्लेख किया है। फ़ाह्यान ने, जो चंद्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में भारत आया था, रोगियों का इलाज मुफ्त करनेवाले एक चिकित्सालय का वर्णन इन-शब्दों में किया है : "हर प्रकार के रोगों से पीड़ित निर्धन तथा निस्सहाय लोग यहाँ आते हैं। उनकी अच्छी तरह देखभाल की जाती है; एक चिकित्सक उनका निरीक्षण करता है और उन्हें यथोचित पथ्य तथा औषधि मिलती है। इस प्रकार वे वहाँ काफ़ी आराम से रहते हैं और स्वस्थ हो जाने पर वे अस्पताल छोड़कर जा सकते हैं।" इसी प्रसंग में यह उद्धरण भी दिये बिना जी नहीं मानता : "उस समय संसार के किसी दूसरे भाग में इस प्रकार का कोई संस्थान नहीं था; आधुनिक ईसाइयों के उदार कृत्यों से बहुत पहले ही भारत में इस प्रकार वे संस्थानों का अस्तित्व इन्हें चलानेवाले नागरिकों की उदारता और महान सम्राट् अशोक की प्रतिभा का श्रेयस्कर प्रमाण हैं, जिसकी मृत्यु के कई शताब्दी बाद भी उसकी शिक्षाएँ अत्यंत कल्याणकारी फल प्रदान करती रहीं। कहा जाता है कि योरप में पहले अस्पताल की स्थापना दसवीं शताब्दी में हुई थी।"

यद्यपि हर्ष ने स्वयं बौद्धधर्म अंगीकार कर लिया था पर वह दूसरे धर्मों के प्रति बहुत उदार था। उसे शास्त्रार्थ सुनने के प्रति बड़ी रुचि थी और वह बहुधा विविध मतों के अनुयायियों को शास्त्रार्थ के लिए निमंत्रित करता था और अपनी बहन के साथ बड़े ध्यान से उनका शास्त्रार्थ सुनता था। इस उद्देश्य से यह हर पाँचवे साल सम्मेलन करवाता था। इनमें से एक

सम्मेलन में ह्युएन सांग भी मौजूद था और उसने इसका वर्णन अत्यंत साहित्यिक भाषा में किया है। उसके कथनानुसार इस सम्मेलन के लिए एक विशाल पंडाल बनवाया गया जिसमें हज़ारों लोगों के बैठने की जगह थी; इस अधिवेशन में बौद्धों, ब्राह्मणों और जैन मत के अनुयायियों ने भाग लिया। ह्युएन सांग ने वहाँ एकत्रित पंडितों को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा पर उसकी चुनौती किसी ने स्वीकार नहीं की। ऐसा प्रतीत होता है कि चीनी अतिथि के प्राण संकट में थे इसलिए हर्ष ने उसके शुभचिंतक होने के नाते घोषणा की कि "यदि किसी ने त्रिपिटकाचार्य के हाथ लगाया या उसे किसी प्रकार को क्षति पहुँचायी तो उसका सिर तुरंत काट लिया जायेगा और जो कोई उसके विरुद्ध बोला उसकी जीभ काट ली जायेगी; परंतु जो लोग उसके उपदेश से लाभ उठाना चाहते हैं वे मेरी सद्भावना पर विश्वास रखें और उन्हें इस घोषणा से डरने की कोई ज़रूरत नहीं।" फिर इसमें आश्चर्य ही क्या है कि वहाँ एकत्रित पंडितों ने न्यायाचार्य की चुनौती को स्वीकार नहीं किया क्योंकि उन्हें अपने प्राण अपने पांडित्य से अधिक प्रिय थे।

हर पाँच वर्ष बाद हर्ष बहुत बड़ी धनराशि दान करता था। यह दान प्रयाग में दिया जाता था जहाँ विविध धर्मों के माननेवाले निर्धन तथा अभावग्रस्त लोग एकत्रित होते थे। इस अवसर पर बड़ी धूमधाम से समारोह मनाया जाता था और अनेक सामंत इस अवसर पर वहाँ आते थे। यह उत्सव ७५ दिन तक तक चलता था और इस दौरान में सभी धर्मों का समान रूप से सम्मान किया जाता था। इस प्रकार के छठे समारोह के अवसर पर ह्युएन सांग भी प्रयाग में उपस्थित था और उसने इसका अत्यंत सजीव चित्रण किया है। इस अवसर पर इतना जी खोलकर दान दिया जाता था कि उत्सव के अंत तक "पाँच वर्ष का समस्त संचित धन समाप्त हो जाता था। घोड़ों, हाथियों और सैन्य-सामग्री को छोड़कर, जो शांति तथा सुव्यवस्था स्थापित रखने और सम्राट् की संपत्ति की रक्षा के लिए आवश्यक थे, कुछ भी नही बचता था। इसके अतिरिक्त राजा अपने रत्न-आभूषण, कपड़े-लत्ते, मालाएँ, कुंडल, कंगन, मुकुट के रत्न, हार और राजमुकुट का ज्योतिर्मय रत्न तक दान में दे देता था। ये सब चीज़ें वह निःसंकोच दान में दे देता था। सब कुछ दे चुकने पर वह अपनी बहन से एक साधारण पुराना वस्त्र माँगकर पहन लेता था और "दशभूमीश्वर बुद्ध" की उपासना करता था और इस बात पर उल्लसित होता था कि उसका धनकोष धर्मक्षेत्र में व्यय हुआ।"

यह सराहनीय उत्सव समाप्त होने के तुरंत बाद ह्युएन सांग अपने देश चीन लौटा गया; वह ६४६ ई० में चीन वापस पहुँचा। त्रिपिटकाचार्य के विदा होने के बाद भारत में उसका संरक्षक सम्राट् हर्ष बहुत समय तक जीवित नहीं रहा। ६४६-६४७ ई. में हर्ष के उल्लेखनीय जीवन का अंत हो गया। वह डटकर लड़ा भी था और उसने जी खोलकर दान भी दिया था। अपने अंतकाल में हर्ष को अपने दीर्घ तथा घटनामय जीवन पर संतोष था, वह यह जानकर खुश था कि जब तक उसका जीवन रहा उसने उसे अनुचित भोग-विलास या दंभपूर्ण आत्म-प्रशंसा में व्यय नहीं किया। हाथ में राजदंड धारण करते हुए भी उसने आध्यात्मिक सदाचार के क्षेत्र को और भी उर्वर बनाने का प्रयत्न किया। अपनी युवावस्था में उसने अनेक दुःखों का सामना किया था;

जैसे-जैसे उसकी अवस्था बढ़ती गयी उसकी रुचि बौद्धिक कार्यों के प्रति बढ़ती गयी। वह ज्ञान और साहित्य का बड़ा उपासक था और कहा जाता है कि उसने नागानंद, रत्नावली, तथा प्रियदर्शिका नामक तीन नाटकों की भी रचना की थी। वह अत्यंत दक्ष सुलेखक था: बँसखेरा के पट्टलेख पर जब हम उसके हस्ताक्षर को ध्यान से देखते हैं तो हमारी कल्पना में एक ऐसे व्यक्ति का चित्र घूम जाता है जिसका भारत के इतिहास में एक गौरवान्वित स्थान है। हर्ष वीर, चतुर, उदार, विद्वान और धर्मनिष्ठ था; उसके नाम में एक जादू है; वह अशोक, कनिष्क, समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय जैसी प्रतिभाशाली विभूतियों की श्रेणी में आता है और उसका व्यक्तित्व भी उनके ही जैसा महान था; वह एक महान शासक और एक महान भारतवासी था।

हर्ष की मृत्यु होते ही भारत के रंगमंच पर अंधकार-सा छाने लगा। राष्ट्रकूट, पाल और गुर्जर-प्रतिहार नामक तीन सत्ताओं की कार्यवाहियों से यह अंधकार कुछ दूर हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि हर्ष अपना कोई उत्तराधिकारी छोड़े बिना ही मर गया; उसकी मृत्यु के बाद उसके एक मंत्री ने वर्धन साम्राज्य के राजसिंहासन पर अधिकार जमा लिया। चीनी वृत्तांतों के अनुसार इस मंत्री ने, जिसका नाम अर्जुन था, हर्ष की मृत्यु के शीघ्र ही बाद वांग ह्युएन-जे के नेतृत्व में भारत पहुँचने वाले एक चीनी मंडल को लूट लिया। अर्जुन की तिब्बत की सेना से भी लड़ाई हुई और इस युद्ध में उसकी पराजय हुई। यह कहानी सत्य हो या असत्य पर इससे पता चलता है कि घटनाएँ कितनी तेज़ी से देश को लूटमार और अराजकता की ओर ले जा रही थीं।

इस वातावरण में आठवीं शताब्दी ईसवी में कुछ समय के लिए एक और व्यक्ति की ख्याति का प्रकाश इस अंधकार में चमकता रहा। उसका नाम था यशोवर्मन; वह उन राजनीतिक अवसरवादियों की श्रेणी में था जिनका बहुत अच्छा उदाहरण हमें मंदसोर के यशोधर्मन और शशांक के जीवन में मिलता है। उसकी राजधानी कन्नौज में थी और उसमें हमें इसलिए भी दिलचस्पी है कि महावीरचरितम्, मालतीमाधव तथा उत्तररामचरितम् के रचयिता संस्कृत के महाकवि भवभूति उसी के दरबार में थे।

इसी शताब्दी के दौरान में काश्मीर के राज्य ने प्रमुख स्थान प्राप्त किया। काश्मीर का राजा ललितादित्य ७२४ ई. में गद्दी पर बैठा और उसने कन्नौज, मगध, बंगाल, कामरूप तथा कलिंग तक अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। वह बहुत महान निर्माता था और मार्तण्ड मंदिर के भग्नावशेष आज तक उसके कला-संरक्षण तथा रुचि की साक्षी देते हैं। काश्मीर का एक दूसरा प्रसिद्ध राजा ललितादित्य का बड़ा भाई चंद्रपीड था, जिसने यद्यपि केवल आठ वर्ष तक शासन किया परंतु उसका यह छोटा-सा शासनकाल भी न्याय और उदारता के उदात्त कर्मों से परिपूर्ण है। उसकी महानता के विषय में आज तक बहुत-सी कहानियाँ प्रसिद्ध हैं।

इसके बाद की दो शताब्दियों में राष्ट्रकूटों, गुर्जर-प्रतिहारों तथा बंगाल के पाल राजाओं में सत्ता के लिए त्रिमुखी संघर्ष चलता रहा। उस समय लगभग सारे भारत की राजनीतिक परिस्थिति डाँवाडोल थी; राज्यों का विस्तार घटता-बढ़ता रहता था और बहुत जल्दी-जल्दी लोगों की धन-दौलत एक के हाथ से दूसरे के हाथ में पहुँच जाती थी। किसी समय के

शक्तिशाली चालुक्य राजा अब भी दक्कन प्रदेश में शासन करते थे पर उनकी शक्ति निश्चित रूप से क्षीण हो रही थी। पूर्वी कोशल में उदयन और राजपूताना तथा मालवा में गुर्जरों का राज्य था और उनकी राजधानियाँ क्रमशः भिमर तथा उज्जयिनी में थीं। बंगाल अभी कुछ ही समय पहले अराजकता के गर्त से निकला था और गोपाल प्रथम वहाँ अपनी शक्ति को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न कर रहा था। इन परिस्थितियों में राष्ट्रकूट नामक राजवंश के संस्थापक दंतिदुर्ग की शक्ति का उदय हुआ। उसने अवसर का पूरी तरह लाभ उठाया और एक ऐसा राज्य स्थापित कर लिया जो शीघ्र ही बढ़कर साम्राज्य का रूप धारण करने की महत्वाकांक्षा प्रदर्शित करने लगा। दंतिदुर्ग कर्नाटक का रहनेवाला था और उसने कोशल तथा श्रीवर्धन के अपने पड़ोसियों पर आक्रमण करके राज्य-विस्तार के पथ पर क़दम बढ़ाया। बाद में उसने काञ्ची, कलिंग, श्रीशैल, मालवा, लाट, तँक तथा सिंध के राजाओं को परास्त किया। इसके बाद पल्लव राजा नंदिवर्धन के साथ मिलकर उसने भडौच के गुर्जरों पर आक्रमण किया और उनके राज्य का कुछ भाग अपने राज्य में मिला लिया। उस समय तक उसके राज्य में दक्षिणी गुजरात, खानदेश, बरार, तथा उत्तरी महाराष्ट्र के इलाक़े शामिल हो चुके थे। जब लगभग ७५४ ई. में उसका घटनामय शासनकाल समाप्त हुआ तो उसके बाद उसका चाचा कृष्ण प्रथम गद्दी पर बैठा और राज्य-विस्तार की उसी की नीति पर चलता रहा। कोंकन, कर्नाटक और वर्तमान हैदराबाद राज्य के बहुत बड़े भाग पर फैले हुए तत्कालीन राज्य को अपने राज्य में मिला लेने से राष्ट्रकूटों के राज्य का विस्तार बहुत बढ़ गया।

कृष्ण का उत्तराधिकारी उसका सबसे बड़ा बेटा गोविंद द्वितीय था जिसने देश-विजय की अपेक्षा भोग-विलास का जीवन बिताने में अधिक ख्याति प्राप्त की। ७८० ई. में उसके छोटे भाई ध्रुव ने उसे गद्दी से उतार दिया। ध्रुव बहुत बड़ा योद्धा था। उसने पल्लव राज्य पर विजय प्राप्त की, गुर्जर-प्रतिहारों के शासक वत्सराज को परास्त किया और ७८९ ई. में बंगाल के धर्मपाल को नीचा दिखाया। यह अत्यंत सराहनीय सफलता थी क्योंकि अपने १३ वर्ष के छोटे-से शासनकाल में उसने राष्ट्रकूटों की सत्ता को साम्राज्य के प्रतिष्ठित पद पर पहुँचा दिया।

बहुत थोड़े समय तक उत्तराधिकार के लिए झगड़ों के बाद राष्ट्रकूट एक बार फिर गोविंद तृतीय के नेतृत्व में साम्राज्य स्थापना के पथ पर अग्रसर हुए। उसने नर्मदा नदी के दक्षिण में राज्य करने वाले सभी राजाओं को पराजित करके बंगाल के राजा धर्मपाल और उसके अधीन राज्य करनेवाले चक्रायुध की ओर ध्यान दिया और उन दोनों को अपने सामने सिर झुका देने पर बाध्य किया। ८०६-८०७ ई. में उसने गुर्जर-प्रतिहारों के सरदार वत्सराज के उत्तराधिकारी नागभट्ट द्वितीय से टक्कर ली और उस पर विजय प्राप्त की; उसकी सेनाएँ हिमालय की तलहटी तक बढ़ती चली गयीं। इसके बाद उसने दक्षिण में एक अभियान का नेतृत्व किया और लगभग पूरे भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

परंतु राष्ट्रकूट अपने राज्य-विस्तार की अंतिम सीमा पर पहुँच चुके थे और उनका ह्रास आरंभ हो चुका था। उत्तराधिकार के लिए आपस के झगड़ों, फूट और लम्बी-लम्बी लड़ाइयों के कारण उनकी शक्ति बिल्कुल क्षीण हो गयी थी और ९४८ ई. में इस राजवंश की सत्ता

समाप्त हो गयी। दो शताब्दियों में उन्होंने राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दोनों ही क्षेत्रों पर अपनी छाप डाल दी थी—एल्लौरा के गुफा मंदिर उन्हीं के शासन काल में बनाये गये—और अब उनका ध्येय पूरा हो चुका था।

जिस समय पश्चिम में राष्ट्रकूटों की सत्ता साम्राज्य-पद प्राप्त करने की ओर अग्रसर थी उसी समय बंगाल में पालवंश के राजा राज्य कर रहे थे। ८वीं शताब्दी ईसवी के आरंभ में बंगाल में अराजकता फैली हुई थी। शांति और व्यवस्था स्थापित करने की आशा से वहाँ की जनता ने गोपाल नामक एक व्यक्ति को अपना प्रधान चुना। ७५० ई. में जब गोपाल गद्दी पर बैठा उस समय उसकी उम्र काफ़ी हो चुकी थी और उसने बहुत थोड़े ही दिन शासन किया। उसके उत्तराधिकारी धर्मपाल ने सारे उत्तरी भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। उसका राज्य काश्मीर तक फैला हुआ था। कुछ समय बाद राष्ट्रकूटों से उसकी टक्कर हुई और उसकी सत्ता केवल गौण महत्व की रह गयी। उसका उत्तराधिकारी देवपाल था जिसने ९वीं शताब्दी ईसवी के अधिकांश भाग में शासन किया। इस राजवंश का शासन लगभग ९३ से १०३० ई. तक महिपाल के अधीन जारी रहा, जिसके राज्य पर १०२३ ई. में राजेंद्र चोल ने आक्रमण किया था। पालवंश के राजा बौद्धधर्म के महायान पंथ के बड़े समर्थक थे। उनके संरक्षण में विक्रमशीला, ओद्दांतपुरी और जागद्दल के विश्वविद्यालयों ने नालंदा की परम्परा को जारी रखा।

लगभग ७२५ ई. में प्रतिहार जाति की नागभट्ट नामक संतान ने गुर्जर प्रदेश पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली और इस प्रकार गुर्जर-प्रतिहार राज्य का संस्थापक बना। उसका उत्तराधिकारी वत्सराज था जिसने बंगाल के राजा को पराजित किया था और बाद में स्वयं राष्ट्रकूट राजा ध्रुवसेन के हाथों पराजित हुआ था। परंतु नागभट्ट द्वितीय (८००-८२५ ई.) ने गंगा के किनारे के प्रदेश पर आक्रमण करके इस पराजय का बदला लिया; उस समय वहाँ जो राजा राज्य करता था उसे गद्दी से उतारकर उसने कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया। इस राजवंश का सबसे प्रख्यात राजा भोज हुआ है जिसने पचास वर्ष तक शासन किया। उसके शासन काल में गुर्जर-प्रतिहार एक साम्राज्यधारी शक्ति बन गयें, उनका राज्य पूर्वी पंजाब, राजपूताना, उत्तर प्रदेश तथा ग्वालियर, सौराष्ट्र तथा मालवा तक फैला हुआ था। ऐसा लगता है कि जेजाकभुक्ति के चंदेलों ने भी उसकी प्रभुसत्ता को स्वीकार कर लिया था। भोज विद्या और साहित्य का माना हुआ आश्रयदाता और विष्णु का भक्त था।

भोज के बाद प्रतिहारों को अनेक संकटमय परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। एक ओर तो उन्हें राष्ट्रकूटों से ख़तरा था और दूसरी ओर चंदेलों से, जिन्होंने ९५४ ई० तक अपना राज्य उत्तर में जमुना तक और उत्तर-पश्चिम में ग्वालियर तक फैला लिया था। कलचुरियों ने सफलतापूर्वक चंदेलों के पद-चिह्नोंका अनुसरण किया; कलचुरी प्रतिहारों के अधीन सामंत थे पर उन्होंने अब अपने आपको स्वतंत्र घोषित कर दिया था।

इस प्रकार जब कि उत्तरी तथा पश्चिमी भारत के राज्य पारस्परिक युद्ध में फँसे हुए थे, उसी समय एक नयी शक्ति का उदय हुआ और वह आक्रमण करने की तैयारी में भारत की सीमा के उस पार खड़ी थी। यह इस्लाम की शक्ति थी जिसने सबसे पहले सिंध पर अरबों के

आक्रमण के रूप में भारत के द्वार खटखटाये। सुल्तान महमूद ग़ज़नवी ने भारत पर कई आक्रमण किये जिनके कारण उत्तरी तथा पश्चिमी भारत में एक आतंक छा गया और इन आक्रमणों ने आगे चलकर दिल्ली की सल्तनत की स्थापना के लिए मार्ग प्रशस्त किया। इस्लाम के मुजाहिदों ने जब भारत में क़दम रखा उस समय भारत बहुत शक्तिहीन था और यहाँ कोई एकता नहीं थी; ये मुजाहिद दौलत की तलाश में और एक नये सप्राण धर्म का प्रचार करने निकले थे और भारतवासी अपनी उस दशा में उनके सामने नहीं टिक सकते थे। इन आक्रमणकारियों को मूर्ति-पूजा से घृणा थी; और मूर्ति-पूजा इस देश में, जो आगे चलकर उनकी नयी मातृभूमि बन गया, व्यापक रूप से प्रचलित थी। परंतु जहाँ कहीं वे ज्ञान और बुद्धिमत्ता का अस्तित्व पाते उसकी वे प्रशंसा भी करते; अलबैरूनी ने उनके इस रवैये की पुष्टि में काफ़ी प्रमाण दिये हैं। प्राचीन भारत का इतिहास समाप्त हो रहा था। अरबों और तुर्कों की विजय के बाद से इस देश के लम्बे इतिहास में एक नये अध्याय का श्रीगणेश होता है।

एक तरफ़ जहाँ उत्तरी भारत भीषण गृहयुद्ध का शिकार था और विदेशी आक्रमणों का सामना कर रहा था, वहाँ इसके साथ ही दक्षिण में चोलवंश के इतिहास में प्राचीन भारत की आत्मा अत्यंत सप्राण रूप से अभिव्यक्ति पा रही थी। चोलों की नवजात शक्ति की टक्कर राष्ट्रकूटों और कल्याणी के चालुक्यों के साथ हुई, जो निरंतर युद्ध में फँसे रहने के कारण बिल्कुल शक्तिहीन हो गये थे और उनका राज्य कई छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गया था—उत्तर में यादवों और काकतेयों ने अपना राज्य स्थापित कर लिया था और दक्षिण में हायसलों तथा पांड्यों ने।

साम्राज्यधारी चोल किसी समय में पल्लवों के अधीन सामंत थे। परंतु ८५० ई० के लगभग विजयालय ने तंजौर शहर पर अधिकार करके उसे अपनी राजधानी बना लिया और इस प्रकार एक स्वतंत्र राज्य निर्माण की नींव डाली। पांड्यों ने चोलों का विरोध किया पर ८८० ई० में उन्हें कुचल दिया गया। फलस्वरूप आदित्य की शक्ति बढ़ती गयी और बाद में चलकर वह अपने पल्लव स्वामी की अधीनता से प्रायः स्वतंत्र हो गया। उसकी दिग्विजय की नीति के अत्यंत लाभदायक परिणाम हुए : उसके राज्य में बड़े-बड़े विस्तृत क्षेत्र शामिल हो गये और राष्ट्रकूट राजा कृष्ण द्वितीय ने अपनी एक बेटी का विवाह उसके साथ करके और चेर शासक ने उसके बेटे परांतक के साथ अपनी बेटी का विवाह करके उसके महत्व को उचित रूप से स्वीकार किया। परांतक ने ४८ वर्ष तक शासन किया। १०वीं शताब्दी ईसवी के अंतिम वर्षों में राजराजा प्रथम के गद्दी पर बैठने के बाद चोलों की सत्ता ने उन्नति करके साम्राज्य का गौरवान्वित पद प्राप्त कर लिया। कल्याणी के चालुक्य वस्तुतः उसके सामंत हो गये और चोल सेनाओं ने पश्चिम के चालुक्यों पर ज़बर्दस्त हमले किये। इसके बाद श्रीलंका की विजय आरंभ हुई। राजेंद्र प्रथम के शासनकाल में यह विजय पूर्णतः सम्पन्न हुई; उसके शासनकाल में चोल एक बहुत बड़ी समुद्री शक्ति बन गये और १०२५ ई० में उन्होंने हिंदेशिया में श्रीविजय राज्य को सफलतापूर्वक परास्त किया। दक्षिणी भारत के राजनीतिक रंगमंच पर चोल दो शताब्दियों तक छाये रहे, परंतु १२७९ ई० में हायसलों की शक्ति के उदय के साथ उनका अंत हो गया।

## परिशिष्ट

# चीनी यात्री

भारत में जैसे-जैसे बौद्धमत का प्रसार हुआ और उसने भारत की सीमाओं से बाहर के देशों में प्रवेश किया वैसे-वैसे इस देश के साथ विदेशों के सम्पर्क भी बढ़ते गये। नालंदा और बाद में विक्रमशीला, ओद्दांतपुरी तथा जागद्दल के विश्वविद्यालयों की स्थापना के फल-स्वरूप मध्य एशिया, तिब्बत, चीन, कोरिया तथा जावा के विद्यार्थी भारत की ओर आकर्षित हुए। चीन में बौद्धमत की स्थापना के बाद चीन के बौद्ध भिक्षुओं का भारत की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक ही था केवल इसलिए नहीं कि वह उनके धर्म के संस्थापक की जन्मभूमि थी बल्कि इसलिए भी कि यहाँ धर्मग्रंथों का अगाध ज्ञान-भंडार था। बौद्ध विनय (अनुशासन) तथा दर्शन के बारे में अधिकृत ग्रंथों का अभाव बहुत अखरता था इसलिए उस युग की कुछ महानतम विभूतियाँ मध्य एशिया के तपते हुए मरुस्थलों तथा हिमाच्छादित पर्वतमालाओं के पार संकटमय यात्राएँ करके भारत पहुँचने के लिए उत्प्रेरित हुईं। इनमें से प्रत्येक यात्रा, भक्ति तथा सहनशीलता की अमर स्मारक है। जिन लोगों ने इस प्रकार की यात्राएँ कीं उनमें तीन साहसी विद्वान फ़ाह्यान, ह्युएन सांग और ईत्सिंग भी थे।

इन तीनों में फ़ाह्यान सबसे पहले, चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के शासनकाल में भारत आया। वह हुइ-किंग, हुइ-यिंग, ताओ-किंग और हुइ-वेई नामक चार अन्य चीनी भिक्षुओं को साथ लेकर ३९९ ई. में चीन से रवाना हुआ; मरुस्थलों और पहाड़ों से होते हुए उसने मध्य एशिया को पार किया। रास्ते में अनेक कठिनाइयों का सामना करने के बाद आख़िरकार वह काश्मीर पहुँचा और वहाँ से उसने पूरे उत्तरी भारत का भ्रमण किया। वह स्वात, पेशावर, तक्षशिला, जलालाबाद, मथुरा, कन्नौज तथा अवध, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, वैशाली तथा मगध गया। वह पाटलिपुत्र, राजगढ़, गया तथा वाराणसी भी गया। अपनी यात्रा के दौरान में उसने बौद्ध विनय के बारे में ज्ञान प्राप्त किया तथा बौद्ध धर्म की जन्मभूमि में उसकी दशा का स्वयं अध्ययन किया। वह बौद्धमत के अध्ययन में इतना संलग्न था कि वह इस बात का उल्लेख करना भी भूल गया कि उस समय भारत पर कौन शासन करता था। वह दो वर्ष तक ताम्रलिप्ति में रहा और वहाँ से जहाज़ पर लंका चला गया और वहाँ भी उसने दो वर्ष व्यतीत किये। फिर बंगाल की खाड़ी पार करके जावा होता हुआ वह ४१४ ई. में चीन पहुँचा; रास्ते में अनेक बार उसे संकटमय परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। यह सचमुच एक अत्यंत दुःसाध्य कार्य था और इस चीनी बौद्ध भिक्षु का यह कहना सर्वथा न्यायोचित है कि, "जब मैं उन पिछली घटनाओं पर दृष्टि डालता हूँ जिनका मुझे सामना करना पड़ा तो अनायास ही मेरा हृदय भावातिरेक से भर उठता है और पसीना आ जाता है। अपने सुख की चिंता किये बिना या किसी कठिनाई से

भागने का प्रयत्न किये बिना मैंने जिन संकटों का सामना किया और अत्यंत दुर्गम स्थानों में गया तो उसका कारण केवल यह था कि मेरे सामने एक निश्चित लक्ष्य था और अपने सीधे-पन और ईमानदारी के कारण मुझे यथाशक्ति अपने लक्ष्य को प्राप्त करने की चेष्टा करने के अतिरिक्त किसी दूसरी बात की चिंता ही नहीं थी। इसी कारण मैं अपनी जान हथेली पर रखकर ऐसे स्थानों में गया जहाँ मृत्यु अवश्यम्भावी प्रतीत होती थी, केवल इसलिए कि यदि मैं अपनी कल्पना का हजारवाँ भाग भी प्राप्त करने में सफल हुआ तो अपने को कृतार्थ समझूँगा।" वह अपने साथ बहुमूल्य धर्मग्रंथ लेकर अपने देश वापस लौटा और उसका ध्येय सफलतापूर्वक पूरा हुआ। वह संस्कृत जानता था और उसने बुद्ध की जन्मभूमि के निवासियों के बारे में यथासंभव अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न किया। वह आनेवाली पीढ़ियों के लिए अपने अनुभवों तथा अवलोकनों का एक अत्यंत रोचक तथा बहुमूल्य वृत्तांत छोड़ गया है।

ह्युएन सांग चीन के महान तआंग राजवंश के समय हुआ था। वह कनफ्यूशियस के एक कट्टर अनुयायी के चार बेटों में सबसे छोटा था। अपने भाइयों की तरह ही वह भी बौद्ध संघ में शामिल हो गया। जैसे-जैसे वह बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन करता रहा वैसे-वैसे उसका भारत जाने का संकल्प दृढ़ होता गया। फ़ाह्यान की तरह वह भी धर्मग्रंथों के अधिकृत पाठ्यों की खोज में ६२९ ई. में भारत के लिए रवाना हुआ और अपनी यात्रा के लिए उसने अपने पूर्वगामी प्रख्यात यात्री का ही मार्ग ग्रहण किया। उसने बहुत दूर-दूर तक भ्रमण किया और १६ वर्ष तक वह भारत में रहा। वह उत्तर तथा दक्षिण के प्रायः सभी राज्यों में गया और सम्राट् हर्ष तथा कामरूप के भास्करवर्मन का अतिथि रहा। उसने पाँच वर्ष नालंदा के विश्वविद्यालय में व्यतीत किये, उसने इस विश्वविद्यालय का अत्यंत सजीव चित्रण किया है। उसकी अवलोकन-शक्ति फ़ाह्यान से अधिक थी और उसके वृत्तांतों में फ़ाह्यान की अपेक्षा भारत की सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थिति के विषय में अधिक सामग्री मिलती है। उसने लिखा है कि जीवन कुछ असुरक्षित हो गया था और यात्रा करना तो और भी ख़तरनाक हो गया था। देश का भ्रमण करते समय उस पर आक्रमण हुए और उसके साथ दुर्व्यवहार किया गया। मध्य एशिया के दक्षिणी मार्ग से होकर वह ६४५ ई. में चीन वापस पहुँचा। चूँकि वह अपनी मातृभूमि से बिना अनुमति के बाहर निकल आया था इस लिए उसने यही उचित समझा कि वह चीन के सम्राट् को एक पत्र लिखकर अपने इस व्यवहार की सफ़ाई पेश करे और इस बात पर ज़ोर दे कि उसने यह यात्रा ज्ञानोपार्जन तथा पुण्यलाभ की दृष्टि से की थी। उसने लिखा : "मैंने उड़ती हुई रेत के विस्तृत मैदानों में यात्रा की है, मैं हिमाच्छादित पर्वतों की ऊबड़-खाबड़ चढ़ाइयों पर चढ़ा हूँ, लौह द्वारोंवाले ढलवान दर्रे मैंने पार किये हैं, तप्त समुद्र की उद्दाम लहरों से होकर गुज़रा हूँ।... इस प्रकार मैंने ५०,००० ली की यात्रा पूरी की है; इस यात्रा के दौरान में यद्यपि मैंने विभिन्न जातियों के रीति-रिवाजों तथा आचार-व्यवहार में हज़ारों प्रकार के अंतर देखे हैं और मुझे असंख्य संकटों का सामना करना पड़ा है फिर भी ईश्वर की कृपा से मैं सकुशल लौट आया हूँ और अपने अक्षत शरीर से तथा

अपने मस्तिष्क में यह संतोष लेकर कि मेरा वचन पूरा हुआ, मैं आपको श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ। मैंने गृध्रकूट पर्वत के दर्शन किये हैं और बोधिवृक्ष के सामने शीश नवाया है। मैंने वे चिह्न देखे हैं जो पहले कभी नहीं देखे गये थे, मैंने वे पुनीत शब्द सुने हैं जो पहले किसीने नहीं सुने थे, ऐसी अनन्य आत्मिक शक्ति रखनेवालों को देखा है जिनके सामने प्रकृति के सभी चमत्कार तुच्छ प्रतीत होते हैं, मैंने अपने गौरवशाली सम्राट् के सद्गुणों की साक्षी दी है और उसके प्रति लोगों में सम्मान तथा प्रशंसा की भावना जागृत की है।" यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सम्राट् ने इस बौद्ध भिक्षु की इस धृष्टता के लिए क्षमा कर दिया कि वह सम्राट् का अनुमति-पत्र लिए बिना ही देश के बाहर चला गया था और साथ ही यह आज्ञा दी कि उसे हर आवश्यक सहायता दी जाये। उसका भव्य स्वागत किया गया और उसने अपना शेष जीवन उन बौद्धधर्मग्रंथों का अध्ययन तथा अनुवाद करने में व्यतीत किया जिन्हें वह अपने साथ लाया था।

यह ह्युएन सांग का सौभाग्य था कि इस देश में आने पर हर्ष के साथ उसका सम्पर्क हो गया। नालंदा में उसका बड़ा सम्मान हुआ। चीन वापस पहुँच कर भी उसने नालंदा के शिक्षकों के साथ अपने सुखद संबंधों को बनाये रखा। उसने ज्ञानप्रभ को जो पत्र लिखा था और जो अब तक सुरक्षित है वह एक ऐसा संदेश है जिनमें सबको बड़ी दिलचस्पी होना चाहिये। इस पत्र को उसने अपने विशिष्ट ढंग से इस प्रकार समाप्त किया है : "मैं कुछ तुच्छ वस्तुएँ उपहार में भेज रहा हूँ। कृपया इसे स्वीकार कीजिये। मार्ग बहुत लम्बा है इस लिए अधिक कुछ भेजना संभव नहीं है। इस तुच्छ भेंट को ठुकराइयेगा नहीं।" ह्युएन सांग के वृत्तांत के हर पृष्ठ में यह बात प्रतिबिंबित होती है कि उसने भारत में चीज़ों को कितनी गहरी दिलचस्पी से देखा। उसके वृत्तांत ७वीं शताब्दी ईसवी के हमारे सांस्कृतिक इतिहास को समझने के लिए कदाचित सबसे महान स्रोत हैं।

ई सिंग अंतिम महान चीनी यात्री था। वह १५ वर्ष की अवस्था में बौद्ध संघ में सम्मिलित हुआ और उसे विनय के नियमों के प्रति बड़ी रुचि थी। ६०१ ई० में ३० वर्ष की आयु में वह भारत के लिए रवाना हुआ और समुद्र के रास्ते इंडोनेशिया होता हुआ यहाँ पहुँचा। भारत में वह ताम्रलिप्ति, राजगढ़, कुशिनारा, सारनाथ और नालंदा गया; नालंदा में उसने १० वर्ष तक विद्योपार्जन किया। ६९५ ई० में वह संस्कृत की ४०० पाण्डुलिपियाँ लेकर चीन वापस पहुँचा। फ़ाह्यान की तरह ई सिंग को भी भारत के जीवन की अपेक्षा बौद्धधर्म में अधिक दिलचस्पी थी और उसके वृत्तांतों में देश की सामाजिक-आर्थिक परिस्थिति पर प्रत्यक्ष रूप से प्रकाश डालनेवाली बहुत कम सामग्री मिलती है।

इन तीन चीनी यात्रियों के वृत्तांतों से हमें ५वीं, ७वीं और ८वीं शताब्दियों के दौरान में भारत में बौद्धमत के इतिहास के बारे में बहुत सी जानकारी प्राप्त होती है। इन्हीं वृत्तांतों में हमें हर्ष जैसी महान विभूतियों की झलक मिलती है और नालंदा के विश्वविद्यालय के बारे में बहुत-सी बातें मालूम होती हैं। इन तीनों वृत्तांतों की तुलना करने से हमें ज्ञात होता है कि इस देश की सामाजिक तथा आर्थिक दशा किस प्रकार धीरे-धीरे परन्तु निश्चित रूप से बदल

रही थी और किस प्रकार वर्ण-व्यवस्था और उसके फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाली अस्पृश्यता ने भारतीय समाज को अलग-अलग खंडों में विभाजित करना आरंभ कर दिया था। गुप्तवंश के पराभव के बाद देश में जो अराजकता फैली हुई थी उसका प्रतिबिंब यात्रा की संकटमय परि-स्थितियों में मिलता है; जीवन में अरक्षा का भाव आम तौर पर बढ़ता जा रहा था और चारों ओर लोग चिंतित थे। इन वृत्तांतों से इसका भी कुछ पता चलता है कि प्राचीन भारत में लोगों में ज्ञान और विद्वत्ता प्राप्त करने की कितनी प्रबल प्रेरणा थी। इस दृष्टि से वे प्राचीन भारत के बारे में जानकारी का एक अगाध भंडार हैं।

भाग दूसरा

# संस्कृति

## – १ –

# राज्य और शासन

पिछले पृष्ठों में हमने भारत के प्राचीन इतिहास के दीर्घ अभियान पर एक विहंगम दृष्टि डाली थी। इस सिंहावलोकन में जो विभूतियाँ हमारे सामने उभरकर आती हैं वे हैं चंद्रगुप्त और अशोक, कनिष्क, समुद्रगुप्त और विक्रमादित्य, हर्ष और पुलकेशिन। महान शासकों की दिव्य पंक्ति में से ये केवल कुछ ही नाम हैं। ये लोग जन-साधारण के नेता थे और कुछ विचार इनके व्यक्तित्व में मूर्त हो गये थे। जिस रंगमंच पर नियति के इन अभिनेताओं ने अपनी भूमिका का निर्वाह किया वह तक्षशिला से धनुष्कोटि तक और सौराष्ट्र से कामरूप तक फैला हुआ अत्यंत विस्तृत रंगमंच था। यद्यपि ये पात्र विभिन्न परिस्थितियों में इतिहास के रंगमंच पर आये पर उन सभी ने अपनी जीवन-पद्धति में और अपने कृत्यों द्वारा भारतीय जनता के कुछ सामान्य आदर्शों को व्यावहारिक रूप देने का प्रयत्न किया। ये आदर्श ही उनकी प्रेरणा थे, इन्हीं आदर्शों ने उन्हें अपनी समस्त कार्यवाहियों में उत्प्रेरित किया। इसलिए पुस्तक के इस खंड में हम जीवन के इन आदर्शों पर विचार करेंगे और देखेंगे कि शासन, समाज संगठन, आर्थिक कार्यवाहियों तथा संस्कृति के क्षेत्रों में इन आदर्शों ने क्या रूप धारण किया।

मानव संगठन के सभी रूपों में से राज्य का संगठन निःसंदेह सबसे अधिक महत्व रखता है। हम कह सकते हैं कि यह सामाजिक जीवन की भव्य इमारत की आधारशिला होती है। प्राचीन भारत की किसी दूसरी संस्था के विषय में कदाचित इतनी सैद्धांतिक परिकल्पना नहीं की गयी है जितनी राज्य के बारे में और किसी दूसरी संस्था का विकास भी इतना वैविध्यपूर्ण नहीं रहा है। ऋग्वेद से लेकर शुक्रनीति के काल तक प्राचीन इतिहास के हर युग में राज्य की संस्था ने, जो सत्ता के एक सर्वव्यापक संगठन पर अपना नियंत्रण रखती थी और जिसमें समाज की इच्छा की चिरंतन अभिव्यक्ति होती थी, प्राचीन भारत के विचारकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। एक बार युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा था कि "इसका क्या कारण है कि जनता, जो बहुसंख्यक है, उस राजा की आज्ञा का पालन करती है जो एक है ?" यह प्रश्न और इसका उत्तर महाभारत में मिलता है। इस साधारण से प्रश्न से लेकर उन विस्तृत वृत्तांतों तक जिनमें कहा गया है कि देवताओं ने राज्य की रचना की, हमें इस समस्या के सभी पहलुओं को अपनी लपेट में ले लेनेवाली अनेक परिकल्पनाएँ मिलती हैं।

राज्य क्या है ? एक आधुनिक समाजशास्त्रवेत्ता ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है कि राज्य "संगठनों का संगठन है," जो "विभिन्न क्षेत्रों में विभाजित समाज में सामाजिक व्यवस्था की सर्वव्यापी बाह्य परिस्थितियाँ बनाये रखता है," और इसके लिए वह "उस सरकार द्वारा बनाये गये क़ानून का सहारा लेता है जिसे उपरोक्त लक्ष्य की प्राप्ति के उद्देश्य से ऐसे अधिकार

दे दिये जाते हैं कि वह अपने क़ानूनों का पालन करवाने के लिए बल का प्रयोग कर सके।" प्राचीन भारतीय विचारधारा में राज्य की परिभाषा यह दी गयी है कि वह मत्स्यन्याय का, अर्थात् इस नियम का कि बड़ी मछली छोटी मछली को खा ले, खंडन है। राज्य-व्यवस्था, नियमपालन, न्याय, सुरक्षा और कल्याण की परिस्थितियों का प्रतीक है। राज्य की उत्पत्ति के विषय में जो अनेक सिद्धांत है उनमें हमें उसके स्वरूप का संकेत मिलता है। इसलिए हम संक्षेप में इन सिद्धांतों पर विचार करेंगे।

महाभारत से हमें मालूम होता है कि किसी समय में मनुष्य सर्वथा सदाचारी होता था; हर व्यक्ति दूसरे के अधिकारों का सम्मान करता था और अपने कर्तव्यों का विधिवत् पालन करता था; राज्य की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। परंतु समय की गति के साथ परिस्थितियाँ बदलती गयीं और मनुष्य में दुष्टता आती गयी; चोरियाँ और झगड़े होने लगे और सुरक्षा का अभाव होता गया। मनुष्यों का व्यवहार वन्य पशुओं जैसा हो गया। यह दशा देखकर देवता चिंतित हो उठे और जब मनुष्य ने उनसे रक्षा की याचना की तो ब्रह्मा ने एक संहिता की रचना की और उसे अपने पुत्र विराजस द्वारा उसे लागू करवाया। इस प्रकार राज्य की और प्रथम राजा की उत्पत्ति हुई। इस कहानी में यह आशय भी निहित है कि राज्य एक दैवी रचना है जिसे मनुष्य ने ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है और जिससे उसे सदाचारी रहने में सहायता मिलती है।

बौद्धों ने इससे कुछ भिन्न सिद्धांत का प्रतिपादन किया। पाली के एक धर्मग्रंथ दीघ निकाय में एक सुत्त (सूत्र) है जिसमें राज्य की उत्पत्ति की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। इसमें भी इस बात को मानकर चला गया है कि एक स्वर्ण-युग ऐसा था जब मनुष्य स्वभावतः सदाचारी था और राज्य की कोई आवश्यकता नहीं थी। कुछ समय बाद मनुष्य के स्वभाव में परिवर्तन आया; सद्भावना के स्थान पर कुत्सा और शांति के स्थान पर भय तथा वैमनस्य का विकास हुआ। इन उत्पीड़क परिस्थितियों से तंग आकर जनता ने एक राजा का निर्वाचन किया—जिसे महासम्मत अर्थात् "बहुत-से लोगों द्वारा स्वीकृत" कहते थे—और उससे मनुष्यों के बीच शांति तथा व्यवस्था स्थापित करने की प्रार्थना की और इसके बदले में अपनी कृषि की उपज का कुछ भाग उसे देना स्वीकार किया। इस वृत्तांत में दैवी हस्तक्षेप का आशय कहीं निहित नहीं है और यह बात स्पष्ट कर दी गयी है कि कर वसूल करने का अधिकार प्राप्त करने के लिए राजा को कुछ सुनिश्चित कर्तव्यों का पालन करना पड़ता था।

इस प्रकार अराजकता का अंत करने के लिए राज्य की उत्पत्ति हुई और इसलिए वह शांति, सुव्यवस्था, न्याय तथा सुरक्षा का प्रतीक बन गया। जीवन के तीन आदर्श, धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति उसका मूल उद्देश्य था। इनमें से प्रथम आदर्श का संबंध वैयक्तिक तथा सामाजिक नैतिकता से था, दूसरे का आर्थिक कल्याण से और अंतिम आदर्श सामाजिक सुव्यवस्था तथा जीवन के सुखभोग के सुनिश्चित बनाने का द्योतक था। राज्य के पास 'दंड' अर्थात् बल का सहारा था जिसका प्रयोग केवल 'धर्म' अर्थात् शांति, न्याय तथा कर्तव्य, 'अर्थ' अर्थात् आर्थिक कल्याण और 'काम' अर्थात् सामाजिक कल्याण तथा सौन्दर्य के प्रति मनुष्य की रुचि को उन्नत बनाने के आदर्शों की प्राप्ति के लिए किया जाता था।

'धर्म' के विषय में कुछ विस्तार के साथ बताना आवश्यक है। आम बोलचाल में इसका अर्थ संस्कार तथा पूजा-उपासना आदि समझा जाता है; परंतु इसके अतिरिक्त भी इसमें बहुत-सी चीज़ें शामिल हैं। धर्म का अभिप्राय किसी धर्म विशेष या किसी धार्मिक पंथ विशेष से ही नहीं होता, बल्कि इससे भी बढ़कर इसका अभिप्राय समाज द्वारा स्वीकृत सदाचार के मानदंडों से होता है। पिछले खंड में इतिहास का सिंहावलोकन करते समय हमने देखा था कि प्राचीन भारत के राजा दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णुता का व्यवहार करते थे, धार्मिक संस्थानों को सहायता देने तथा उन पर कृपादृष्टि रखने में वे किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करते थे। उदाहरण के लिए, अशोक स्वयं बौद्ध था पर वह ब्राह्मणों, आजीवकों तथा जैनों को पूर्ण निष्पक्षता के साथ दान देते थे। जब वर्णाश्रम धर्म का प्रचलन हुआ तो राज्य ने स्वाभाविक रूप से उसका समर्थन किया और उसे लागू करने का प्रयत्न किया। ब्राह्मणों अर्थात् पुरोहित वर्ग के उत्थान के साथ राज्य पर धार्मिकता की कुछ छाप पड़ी और पुरोहित, जो राजगुरु होता था, राज-दरबार में अत्यंत शक्तिवान तथा प्रभावशाली व्यक्ति माना जाने लगा। ब्राह्मणों के साहित्य में पुरोहितों की तरफ़ से बहुत लम्बे-चौड़े दावे किये हैं परंतु ये दावे वास्तविक परिस्थितियों का प्रतिबिंब न होकर उनकी माँगों का ब्यौरा हैं। परंतु पूरे चित्र को देखते हुए यह कहना उचित न होगा कि प्राचीन भारतीय राज्य धार्मिक राज्य था। राजा किसी धार्मिक मत विशेष का ध्वजावाहक न होकर 'धर्म' का रक्षक होता था; और इस बात पर हमेशा ज़ोर दिया जाता था कि पुरोहित आत्मा का रक्षक होता था। राज्य दंड का, अर्थात् उस बल का साकार रूप होता था जिसके द्वारा क़ानूनों का प्रतिपालन कराया जाता था।

आजकल हम राज्य के कर्तव्यों को दो श्रेणियों में विभाजित करने लगे हैं—एक संविधायक तथा दूसरे प्रशासनात्मक। संविधायक कृत्यों का अर्थ होता है शांति तथा व्यवस्था की स्थापना, व्यक्ति तथा सम्पत्ति की रक्षा और बाहरी आक्रमण से प्रतिरक्षा। प्रशासनात्मक कृत्यों में जन-कल्याण से संबंधित कृत्य आते हैं, जैसे निर्धनों को सहायता, शिक्षा, सफ़ाई तथा संचार। जैसा कि हमें महाभारत और अर्थशास्त्र से पता चलता है, प्राचीन भारत में राज्य के विविध कर्तव्य थे और उसके कार्य-कलाप में जीवन के सभी क्षेत्रों का समावेश था। मौर्य या गुप्त काल के प्रशासन के कार्य-कलापों का संबंध अपराधों को रोकने से लेकर कलाओं को प्रोत्साहन देने तक जीवन के सभी क्षेत्रों से था। परंतु इससे हमें यह निष्कर्ष न निकाल लेना चाहिये कि उस शासन के अधीन व्यक्ति को कोई स्वतंत्रता थी ही नहीं और वह निरंकुश राज्य के बोझ से नीचे दबा हुआ कराह रहा था। राज्य के अधिकारों का आधार क़ानून पर था और क़ानून का आधार स्पष्ट रूप से निर्धारित कर दिया गया था; उसमें सम्राट् की इच्छा को प्रायः नगण्य स्थान प्राप्त था। राजा जनता को अराजकता से बचाता था इसलिए उसकी आज्ञा का पालन शिरोधार्य था। परंतु यदि वह शांति और सुव्यवस्था स्थापित रखने के अपने कर्तव्य को पूरा करने में असफल रहता था तो वह राजा नहीं रह जाता था; उसके व्यक्तित्व को नहीं बल्कि उसके पद और उसके दायित्व को दैवी माना जाता था।

ऊपर से देखने में तो ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारतीय राज्य के हाथों में सत्ता का भंडार था और उसे प्रजा के जीवन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त था; उसके अत्याचार के सामने प्रजा बिल्कुल निस्सहाय थी। परंतु उपलब्ध प्रमाणों से यह निष्कर्ष निकालना उचित न होगा। शास्त्र, विधि-संहिता, स्थानीय रीति-रिवाज ही क़ानून के स्रोत थे और क़ानून बनाने के संबंध में राज्य को बहुत थोड़े अधिकार थे। राजा प्रशासनसंबंधी आज्ञाएँ तो जारी कर सकता था पर वह क़ानून बनाने के अधिकारों का दावा नहीं करता था और इस प्रकार वह इन नियमों का पालन करने के लिए उतना ही बाध्य था जितना कि दूसरे लोग : बल्कि वह इन नियमों का पालन करने के लिए दूसरों की अपेक्षा अधिक बाध्य था क्योंकि ऐसा राज्य जिसमें क़ानून न हो अराजकता से भी ख़तरनाक था। इसमें तो संदेह नहीं कि राजा को कुछ विशेषाधिकार प्राप्त थे परंतु ये विशेषाधिकार राजधर्म अर्थात् राजाओं के कर्तव्य की मूल भावना के विरुद्ध नहीं जा सकते थे।

प्राचीन भारतीय युग का अभिप्राय बहुत लम्बे काल से होता है, कम से कम ३,००० वर्ष; इस लम्बे युग में राज्य-शासन की कला के सिद्धांत तथा व्यवहार का स्वाभाविक विकास हुआ। इसलिए यदि हम यहाँ पर इतिहास की दृष्टि से प्रशासन की संस्था का एक संक्षिप्त सिंहावलोकन कर लें तो हमें प्राचीन भारत में राज्य की कार्य-पद्धति को समझने में सुविधा हो जायेगी। स्वाभाविक ही है कि हम अपना सिंहावलोकन सिंधु घाटी की सभ्यता के समय से आरंभ करें, परंतु इस संस्कृति के स्वरूप और प्राचीन भारत की परागामी संस्कृतियों के साथ इसके संबंध के विषय में कुछ तथ्य ऐसे हैं जिनके बारे में स्पष्ट रूप से कुछ ज्ञात नहीं हो सका है। ऐसा प्रतीत होता है कि सिंधु घाटी की सभ्यता के समय राज्य-व्यवस्था अत्यंत सुसंगठित थी और एक धार्मिक पुट लिये हुए थी। हरप्पा में जो खोज हुई है उससे जो प्रमाण मिलते हैं उनसे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि, "इस प्रशासन-व्यवस्था का जो चित्र हमारे सामने आता है वह यह है कि यह एक अत्यंत अनमनीय और सुविकसित अधिकारि-तंत्र था, जो अतिरिक्त संपदा का वितरण तथा उसकी रक्षा करने की क्षमता रखता था। पर इसमें व्यक्तिगत राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए अधिक गुंजाइश नहीं थी।" यह एक ऐसा राज्य था "जिसका शासन धर्माधीश राजाओं के हाथ में था जो दो मुख्य शासन केंद्रों से एकतांत्रिक तथा निरंकुश शासन चलाते थे; इन दोनों राजधानियों के बीच संचार का मुख्य माध्यम एक विशाल नदी थी जिसमें नावें चल सकती थीं।" परंतु ये तो अनुमान पर आधारित निष्कर्ष हैं और यह पता लगाना कि उत्खनन में जो प्रमाण मिले हैं उनसे इनकी पूरी तरह पुष्टि होती भी है कि नहीं, इस पुस्तक के क्षेत्र से बाहर है।

जिस समय आर्य भारत में आये वे अपने साथ एक इस प्रकार का राजनीतिक संगठन लाये जो मूलतः क़बायली था। ग्राम्य, कृषिप्रधान तथा पशुपालन पर आधारित वातावरण में रहते हुए आर्यों में बड़ी तेज़ी से एक परिवर्तन हो रहा था, जिसके फलस्वरूप क़बायली समाज अनेक क़बीलों अर्थात् 'जन' की समष्टि का रूप धारण करता जा रहा था। समाज का संगठन 'जन' अर्थात् जनता के आधार पर किया जा रहा था; इस संगठन का आधार 'विश' अर्थात्

छोटा सा क़स्बा होता था जिसमें कई परिवार होते थे। राजत्व का धीरे-धीरे एक दैवी संस्था के रूप में उदय हो रहा था और इंद्र, वरुण, प्रजापति आदि देवताओं के कुछ गुण राजा में भी देखे जाने लगे थे।

इस युग में दो संस्थाएँ ऐसी थीं, जो राजा की शक्ति पर प्रभावक ढंग से नियंत्रण रखतीं थीं—एक थी 'सभा' और दूसरी 'समिति'। इनमें से सभा मूलतः गाँव की एक सामाजिक गोष्ठी होती थी; वह उस गाँव या बस्ती के प्रशासन से संबंधित समस्याओं पर भी विचार करती थी। परंतु यह भी संभव है कि कुछ उदाहरणों में उसका संबंध राजा से भी रहा हो और अपने काम के स्वरूप के कारण वह सामाजिक की अपेक्षा राजनीतिक संस्था अधिक रही हो। 'समिति' का अभिप्राय बहुधा एक ऐसी राजनीतिक परिषद् से होता था जो प्रशासनात्मक कामों में राजा का पथ-प्रदर्शन करती थी और उसके कामों को अपनी स्वीकृति देती थी। इसके सदस्य उस क्षेत्र विशेष के प्रतिष्ठित व्यक्ति होते थे और उनके अनुमोदन का अर्थ होता था सर्वसाधारण की स्वीकृति। परंतु इन प्रतिनिधित्वपूर्ण संस्थाओं का शीघ्र ही लोप हो गया। बाद में चलकर समिति केवल विद्वानों की परिषद् मात्र रह गयी और सभा राजा के दरबार में परिवर्तित हो गयी।

समय की गति के साथ जैसे-जैसे राज्य साम्राज्य का रूप धारण करने की दिशा में अग्रसर होता गया वैसे-वैसे प्रशासन के स्वरूप में भी एक आमूल परिवर्तन आता गया। एक विशाल स्थायी सेना और राजकर्मचारियों का एक जटिल संगठन इस युग की मुख्य विशिष्टताएँ थीं। इनके लिए लोगों के चुनने में और इसकी संरचना में वंशप्रतिष्ठा या पारिवारिक संबंधों की अपेक्षा व्यक्ति की योग्यता को अधिक महत्व दिया जाता था। राजा समस्त शक्ति और सत्ता का स्रोत बन गया और वह अध्यादेश जारी करने के अपने अधिकार का व्यापक रूप से प्रयोग करने लगा। इसी समय नियमित रूप से काम करनेवाली मंत्रिपरिषदों की स्थापना हुई और वे राज्य के लिए शक्ति का स्रोत बन गयीं। राज्य का कार्यक्षेत्र धीरे-धीरे व्यापक होता गया और अंततः उसने सामाजिक जीवन के भौतिक, आत्मिक तथा कला-संबंधी सभी क्षेत्रों को अपने प्रांगण में समेट लिया। राज्य के न्याय-संबंधी कृत्य बिल्कुल अलग कर दिये गये और प्रशासित क्षेत्र के भौगोलिक विस्तार में वृद्धि होने के कारण प्रांतों, ज़िलों और शहरों के स्तर पर छोटे-बड़े पदाधिकारियों के एक सोपान की रचना हुई।

इसके बाद के युगों में भी प्रशासन की इस पद्धति को आदर्श माना गया और साम्राज्य के इस ढाँचे में केवल बहुत छोटे-छोटे परिवर्तन हुए। शकों और कुषाणों ने क्षत्रपीय पद्धति को व्यापक रूप से अपनाया और गुप्तकाल में राजपद के प्रति श्रद्धा की भावना बढ़ने लगी। पिछली शताब्दियों में जो सीधी-सादी उपाधियाँ प्रचलित थीं उनके स्थान पर अब 'महाराजाधिराज' जैसी लम्बी-चौड़ी उपाधियों का प्रयोग होने लगा और 'विक्रमादित्य' तथा 'महेंद्र' आदि बिरुदों का भी काफ़ी प्रचलन हो गया। नैतिक आचरण के प्रशासन की ओर सबसे अधिक ध्यान देना अशोक-युग की एक विशिष्टता थी; यह विशिष्टता गुप्तकाल में भी देखने को मिलती है। अशोक के धर्ममहामात्र अब विनयस्थितिस्थापक कहलाने लगे थे। यद्यपि

साम्राज्य के ध्येय अब भी वही थे पर उसके प्रत्यक्ष शासन के अधीन जो क्षेत्र था उसका विस्तार बहुत कम हो गया था और अलग-अलग अपने प्रभाव-क्षेत्र बनाने और शक्ति-संतुलन की स्थापना करने की प्रवृत्ति अब पहले की अपेक्षा बढ़ गयी थी। इसके फलस्वरूप राज्यों के पारस्परिक संबंधों में एक अभूतपूर्व जटिलता उत्पन्न हो गयी।

संक्षेप में प्राचीन भारत में कई युगों के दौरान में राज्य-व्यवस्था के विकास की यही रूपरेखा है। मूल संक्रमण एक क़बायली राष्ट्र से एक सुनिश्चित भौगोलिक सीमाओंवाले राज्य और फिर इस राज्य से साम्राज्य की दिशा में हुआ। मौर्यों और गुप्तवंश के सम्राटों के साम्राज्यों के बीच जो अवधि बीती उसमें शकों और कुषाणों के क़बीलों ने भारत पर आक्रमण किये और साम्राज्य की एकता भंग होकर उसकी भौगोलिक सीमाओं के भीतर अनेक छोटे-छोटे राज्य बन गये। गुप्त-शासन के अंत के निकट हूणों ने भारत पर आक्रमण किया और इसके बाद अकबर के शासनकाल में जाकर ही इस देश में एक दूसरे साम्राज्य की स्थापना हुई।

अब प्राचीन भारत में राज्य-व्यवस्था के विभिन्न रूपों पर सामान्य रूप से विचार कर लेने के बाद आइये हम राज्य के विभिन्न अंगों पर विचार करें। इस विषय पर विधिवत् लिखी गयी जो एकमात्र पुस्तक मिलती है वह कौटिल्य का अर्थशास्त्र है; यह अपने ढंग की निराली पुस्तक है और कुछ विस्तार के साथ विचार करने योग्य है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजनीतिक परिकल्पना और सिद्धांत-निर्धारण की एक लम्बी परंपरा का सार-तत्व मिलता है। कहा जाता है कि यह पुस्तक मौर्यकाल में लिखी गयी थी पर इसकी रचना की निश्चित तिथि के बारे में मतैक्य नहीं है। इस पुस्तक में राज्य-शासन की कला के विविध पहलुओं पर जितनी गहराई और विस्तार के साथ विचार किया गया है वह प्रशंसनीय है। इस पुस्तक में १५ मुख्य अध्याय तथा १८० छोटे-छोटे खंड हैं। शासन के भारी उत्तरदायित्वों को सँभालने के लिए राजकुमारों को किस प्रकार की शिक्षा दी जानी चाहिये, इसकी आम दिशाएँ निर्धारित करने के बाद इस पुस्तक में शासन-व्यवस्था के संगठन का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। सैन्य-संगठन तथा रणनीति को पुस्तक में एक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है और सभी संभव स्रोतों से राजस्व संग्रह करने तथा उसके वितरण पर प्रकाश डालते समय इस समस्या की छोटी-से-छोटी बात को भी ध्यान में रखा गया है। प्राचीन साम्राज्यों की राज्य-व्यवस्था में जो एक अंतर्विरोध निहित था, अर्थात् एक विस्तृत साम्राज्य का अस्तित्व जिसमें संचार के साधान अत्यंत आदिम ढंग के थे, उसे दूर करने के लिए यह सुझाव रखा गया है कि साम्राज्य के पूरे ढाँचे का निर्माण इस प्रकार हो कि सबसे ऊपर सम्राट् से आरंभ होकर धीरे-धीरे फैलता हुआ वह नीचे जन-साधारण तक पहुँचे और इस ढाँचे का आधार गुप्तचरों के एक व्यापक जाल द्वारा निरीक्षण तथा प्रति-निरीक्षण की एक जटिल व्यवस्था पर हो।

कौटिल्य की इस रचना को राजनीतिक दर्शनशास्त्र की पाठ्य-पुस्तक की अपेक्षा प्रशासन-संहिता कहना अधिक उचित है। कौटिल्य पर बहुधा यह आरोप लगाया जाता है कि वह "अवसरवादिता की राजनीति" का पक्षधर था और उसे प्राचीनकाल का मैकायवेली कहा गया

है जो "पुलिस राज्य" की स्थापना करना चाहता था। पर इस प्रकार की आलोचना में तीखे शब्दों का प्रयोग भले ही उल्लेखनीय हो, उसमें सत्य का अंश बिल्कुल नहीं है। कौटिल्य राज्य के आदर्शों और कृत्यों की ओर से कभी विमुख नहीं हुआ और उसने इस पुस्तक में राजनीतिक दर्शनशास्त्र का समस्त ज्ञान भरने का प्रयत्न नहीं किया है; उसने तो इसे केवल राजकुमार के मार्गदर्शन के लिए लिखा था।

कौटिल्य की कल्पना के अनुसार राज्य के सात अंग अर्थात् 'सप्तांग' होते हैं। ये अंग हैं: राजा, मंत्री, राज्य-विस्तार, दुर्ग, धनकोश, सेना और मित्र। इन अंगों को फिर इन मुख्य विभागों में बाँट दिया गया है: राजपद; मंत्रिमंडल तथा प्रशासन-व्यवस्था—केंद्र, प्रांत, ज़िले तथा गाँव की; राजस्व के स्रोत तथा उनका वितरण; न्याय; और अन्तर-राज्यीय संबंध। अब हम इन पर कुछ विस्तार के साथ विचार करेंगे।

कौटिल्य ने राज्य का जो चित्र प्रस्तुत किया था वह पूर्णतः राजतांत्रिक था और प्राचीन भारत में राजा द्वारा शासन का ही प्रचलन था, यद्यपि हमारे इतिहास में कुछ युग ऐसे भी आये हैं जब इस देश में गणतंत्रों का अस्तित्व था। वेदों में राजपद की उत्पत्ति के बारे में जो परिकल्पनाएँ की गयी हैं उनमें यह आशय निहित है कि राजा की उत्पत्ति सैनिक आवश्यकताओं के कारण हुई। आरंभ में राजा प्रशासक भी होता था और सेनानायक भी। और राजसूय यज्ञ के समय अर्थात् राज्याभिषेक के अवसर पर उसे इस उत्सव के दौरान में कभी अपने रणकौशल तथा शक्ति का प्रदर्शन भी करना पड़ता था। एक कहानी इस प्रकार प्रचलित है कि किसी समय की बात है कि देवताओं और राक्षसों में युद्ध छिड़ गया। राक्षस अपने नेता के अधीन लड़ रहे थे और देवताओं का कोई नेता नहीं था। इस युद्ध में देवताओं की पराजय हुई। जब उन्होंने रणक्षेत्र में अपना नेतृत्व करने के लिए एक नेता चुन लिया तब जाकर उन्हें विजय प्राप्त हुई। एक योग्य सेनापति जो युद्ध की ज्वाला में अपने क़बीले का सफलतापूर्वक नेतृत्व करता है वह शांति के समय भी उनका नेता बना रहता है और अधिपति तथा प्रशासक बन जाता है। आर्यों के समाज के प्रारंभिक काल में परिवार के पितृसत्तात्मक संगठन के कारण इस प्रक्रिया में सफलता मिली; परिवार-संगठन की इस पद्धति ने जन-साधारण के मस्तिष्क में राजपद की संस्था की जड़ें गहराई तक जमाकर उसे सुदृढ़ बनाया। यह बात उल्लेखनीय है कि प्राचीन काल में भारत में राजपद के साथ पुरोहितों के कोई कृत्य जुड़े हुए नहीं थे और राजा को हमेशा सर्वश्रेष्ठ प्रकार का क्षत्रिय ही माना गया है। संभव है प्राचीनतम काल में राजा का निर्वाचन होता रहा हो पर शीघ्र ही वंशगत उत्तराधिकार एक नियम-सा बन गया। सबसे बड़ा बेटा उत्तराधिकारी होता था पर ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जब राजा किसी दूसरे को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर देता था, जैसे समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय। राजकुमार की शिक्षा की ओर बहुत ध्यान दिया जाता था और यह शिक्षा पूरी हो जाने पर ही उसे राज्य का उत्तराधिकारी होने के योग्य समझा जाता था। वास्तव में उत्तराधिकार राजसूय यज्ञ अथवा राज्याभिषेक समारोह सम्पन्न हो जाने पर ही आरंभ होता था। इस समारोह के तीन भाग होते थे। पहले भाग के दौरान में राजा रत्निनों अर्थात् अपने मंत्रियों के प्रति श्रद्धा अर्पित करता था और इस

प्रकार वह शासक वर्ग की मान्यता प्राप्त करता था। दूसरे दिन राजा सिंहासन पर व्याघ्राम्बर बिछाकर बैठता था और उस पर पवित्र जल छिड़का जाता था और सवितृ, इंद्र, बृहस्पति, मित्र, तथा वरुण आदि देवताओं की वंदना में मंत्र पढ़े जाते थे कि वे राजा को शक्ति, बल, वाक्-चातुर्य, सत्यवादिता और न्यायपरायणता आदि गुणों से सम्पन्न करें। इस समारोह का एक महत्वपूर्ण भाग राज्याभिषेक की शपथ होती थी जिसमें राजा यह वचन देता था कि वह धर्म के नियमों का उल्लंघन नहीं करेगा। अंत में राजा रथयात्रा पर निकलता था और राज-दरबार सजाया जाता था औरं फिर आमोद-प्रमोद का कार्यक्रम होता था जिसमें पाँसे का खेल और रथों की दौड़ शामिल थी।

राज्याभिषेक के बाद राजा अत्यंत व्यस्त जीवन में प्रवेश करता था। ऋग्वैदिक काल के "मंत्रि-परिषद् के सर्वोच्च सदस्य" के पद से ऊंचा उठाकर राजा को धीरे-धीरे देवत्व के पद पर पहुँचा दिया गया और इस प्रकार वह अपनी प्रजा का रक्षक और न्यायकर्त्ता बन गया। राजपद को एक पारोहर समझा जाता था और राजा को प्रजा के सर्वश्रेष्ठ तथा सबसे कर्तव्यपरायण सेवक के रूप में देखा जाता था। यद्यपि उसे अपनी प्रजा के जीवन और मृत्यु पर पूरा अधिकार होता था पर साधारणतया वह स्वेच्छाचारी नहीं होता था क्योंकि उसके अधिकारों पर बहुत से नियंत्रण थे, जैसे धार्मिक तथा आध्यात्मिक बंधन, और रीति-रिवाजों तथा परम्पराओं के बंधन, राजपद फूलों की सेज नहीं था; कौटिल्य ने राजा के लिए जो विस्तृत दिनचर्या निर्धारित की है उसमें इसका काफ़ी प्रमाण मिलता है। कौटिल्य ने राजा की दिनचर्या को आठ भागों में विभाजित किया है, जिनके दौरान में आय-व्यय संबंधी समस्याओं पर विचार करना, प्रजा के हित से संबंध रखनेवाले विषयों की देखभाल करना और सैन्य तथा न्याय-संबंधी प्रशासन का अध्ययन तथा निरीक्षण करना राजा का कर्तव्य था। लाखों लोगों पर उसका अधिकार होता था पर दूसरों के दुःख को अपना दुःख समझना उसका कर्तव्य था और वह एक ही समय में प्रजा का पिता, न्यायाधीश, सेनानायक तथा दंडनायक सभी कुछ होता था।

प्रशासन के काम में राजा की सहायता करने के लिए एक मंत्रिमंडल होता था। वैदिककाल में 'रत्निन' होते थे जिनमें पुरोहित, राजगुरु, रानी, सेनापति, राजस्व संग्रहकर्त्ता और जुआ खेलने के साथी को प्रमुख स्थान प्राप्त था। उनमें से कुछ राजा के संबंधी होते थे, कुछ उसके मित्र होते थे और बाक़ी राज्य के प्रतिष्ठित लोग होते थे। शीघ्र ही 'रत्निन' की संस्था का लोप हो गया और उनका स्थान मंत्रिपरिषद् ने ले लिया। इस परिषद् में समय की आवश्यकता के अनुसार मंत्रियों की संख्या ७ से २० तक होती थी परंतु साधारणतया छोटी मंत्रिपरिषदें ही पसंद की जाती थीं। तीन या चार मंत्रियों की एक 'अंतरंग' सभा भी होती थी जिनसे राजा राज्य की नीति से संबंधित प्रश्नों पर बहुधा परामर्श करता था। मंत्रियों के लिए तीन शब्दों का प्रयोग किया गया है: सचिव, मंत्रिन् तथा अमात्य। सचिव बहुधा राज्यसभा के सदस्य होते थे। पश्चिमी भारत में शकों के शासन में दो प्रकार के सचिव होते थे: एक मतिसचिव अर्थात् राज्य-सभा के सदस्य और दूसरे कर्म-सचिव अर्थात् प्रशासन अधिकारी।

'मंत्रिन' वास्तविक मंत्री होते थे और सबसे महत्त्वपूर्ण मंत्रियों में ये लोग होते थे; 'पुरोहित', जो राजगुरु होता था; 'प्रधान', जो प्रधान मंत्री होता था; 'सचिव' अर्थात् सेनानायक, जिसे 'सेनापति' या 'महाबलाधिकृत' भी कहते थे, वही युद्धमंत्री भी होता था; 'मंत्रिन' विदेश मंत्री को कहते थे, उसकी असली उपाधि 'महासंधिविग्राहिक' थी, और वह युद्ध तथा शांति का मंत्री होता था; 'प्राड्विवाक' न्याय-मंत्री होता था और वही मुख्य न्यायाधीश भी होता था; 'पंडित' नैतिकता तथा धर्म का मंत्री होता था; और 'सुमंत्र' राजास्व-मंत्री होता था, मौर्यकाल में उसी को 'समाहर्ता' कहते थे। मंत्री में जिन गुणों को सबसे बहुमूल्य समझा जाता था वे थे: स्वामिभक्ति, योग्यता, जानकारी, बुद्धिमत्ता, साहस, वाक्-चातुर्य, शालीनता, प्रभाव, प्रतिष्ठा तथा सच्चरित्रता। मंत्रियों को राजा नियुक्त करता था और वे राजप्रसाद-पर्यन्त अपने पद पर रहते थे और यद्यपि उनसे हर विषय पर परामर्श लिया जाता था पर राजा उनके परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं था। परंतु बहुत कम ऐसा होता था कि राजा अपने मंत्रियों के परामर्श को ठुकरा दे, क्योंकि बुद्धिमान और अनुभवी होने के अतिरिक्त वे बहुत बड़ी हद तक जन-साधारण की इच्छा को व्यक्त करते थे। यद्यपि हर मंत्री पर वैयक्तिक रूप से किसी विभाग विशेष का उत्तरदायित्व होता था, परंतु मंत्रिमंडल बहुधा आपस में सलाह-मशविरे से काम करता था और राजा को यह परामर्श दिया जाता था कि वह अपनी मंत्रिपरिषद् के सर्वसम्मत निर्णयों की अवहेलना न करे।

केंद्रीय प्रशासन विविध विभागों का एक व्यापक समूह था जिसमें शायद सबसे रोचक अभिलेख विभाग है। इस विभाग का सर्वोच्च पदाधिकारी महाअक्षपटलिक होता था जिस पर भूमिअनुदानों से संबंधित सभी राज-आदेशों और पट्टों तथा राजस्व संग्रह करने से संबंधित सभी अभिलेखों का उत्तरदायित्व होता था। इसके बाद लेखा, वाणिज्य, सेना तथा राजस्व के विभाग थे जिनमें न जाने कितने अधीक्षक तथा पर्यवेक्षक काम करते थे।

प्रांतीय प्रशासन उपराजों (वाइसरायों) के हाथ में था जो बहुधा राज-परिवार के लोग होते थे। इनके अपने अलग मंत्री होते थे और प्रशासन के मामलों में इन उपराजों को काफ़ी स्वायत्त अधिकार प्राप्त थे। वे शांति तथा सुव्यवस्था क़ायम रखते थे, कर वसूल कराते थे और आय-व्यय का हिसाब रखते थे। वे अपने देश (प्रांत) की भुक्तियों (डिवीज़न) तथा विषयों (ज़िलों) के प्रशासन पर भी निगरानी रखते थे। सबसे अंत में गाँव होता था जो प्राचीन, भारत में जीवन का आधारबिंदु था। गाँव का प्रशासन गाँव के मुखिया के हाथ में होता था जिसे 'ग्रामणि' कहते थे। इसका पद साधारणतया वंशगत होता था और कोई ब्राह्मण गाँव का मुखिया नहीं हो सकता था। उसके कर्तव्य थे डाकुओं के हमलों से गाँव की रक्षा करना, राजा की तरफ़ से राजस्व वसूल करना, और लेखपाल के अभिलेखों पर देखरेख रखना। परंतु गाँवों की पंचायतें अनंतकाल से ही चली आती थीं और गाँव के मुखिया को पंचायत से मेल-मिलाप रखना पड़ता था। सभी प्रतिष्ठित गृहस्थ इस पंचायत के सदस्य होते थे और हर महत्वपूर्ण अवसर पर डुग्गी पिटवाकर इसकी सभा बुलायी जाती थी। इन पंचायतों को उस समय 'पंचमंडली' अथवा 'ग्रामजनपद' कहते थे; वे गाँव के लोकमत का प्रतिनिधित्व

करती थीं और कुछ प्रश्नों के संबंध में उन्हें कार्यांग तथा न्यायांग के अधिकार भी प्राप्त थे। उनका कार्य सोने की शुद्धता को परखने, गाँव के उद्यानो तथा उपवनों की देखभाल करने, पानी की व्यवस्था करने, और झगड़ों का निबटारा करने आदि अलग-अलग कामों के लिए, संगठित विभिन्न समितियों द्वारा सम्पन्न होता था; इन समितियों को 'सभाएँ' कहते थे। कहीं-कहीं ये ग्राम-मंडलियाँ महाजनों का भी काम करती थीं; जिन लोगों को आवश्यकता होती थी उन्हें वे ब्याज की उचित दर पर ऋण देती थीं, बहुत-कुछ उसी प्रकार जैसे आजकल की ग्राम्यऋण समितियाँ करती हैं। इनका खर्च चलाने के लिए इनके द्वारा संग्रह किये गये राजस्व का कुछ भाग और अपराधियों से वसूल किया गया जुर्माना इन्हें राज्य की ओर से दे दिया जाता था और बाक़ी धन जुटाने के लिए वे अतिरिक्त कर लगाने तथा निश्चित योजनाओं के लिए कुछ कर वसूल करने के अपने अधिकार का प्रयोग करती थीं। इस प्रकार उन्हें ग्रामवासियों के जीवन पर पूरा अधिकार था और यदि राज्य की तरफ़ से किसी ग्रामवासी के प्राणों को खतरा होता था तो वे अत्याचारी राज्य से उसकी रक्षा करती थीं। केंद्रीय शासन गाँव के काम पर आम तौर पर निगरानी रखता था पर उसमें हस्तक्षेप बहुत कम ही करता था। न्यायालयों के रूप में वे गाँव के झगड़ों का निबटारा बड़ी सफलतापूर्वक करती थीं और अपनी क्षमता भर विद्या, कला तथा धर्म को प्रोत्साहन देती थीं। इसलिए ये स्थानीय संस्थाएँ गाँव के लिए स्थायित्व का सबसे दृढ़ आधार थीं और हमारी सांस्कृतिक परम्परा में जो एक क्रम बाक़ी रहा है उसका बहुत-कुछ श्रेय उन्हीं को है। युद्ध के समय भी और शान्तिकाल में भी वे ग्रामवासियों की सामूहिक इच्छा का प्रतिनिधित्व करती थीं। वे गाँव के जीवन का एक अभिन्न अंग थीं।

राजस्व संग्रह करने और उसके उपयोग की ओर बहुत ध्यान दिया जाता था क्योंकि वही सुव्यवस्थित प्रशासन का मेरुदंड होता है। कृषिकर राजस्व का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत था। साधारणतया भूमिकर उपज के छठे भाग के बराबर लिया जाता था, जो नक़द पैसों की शक्ल में या अनाज की शक्ल में अदा किया जा सकता था। परंतु कर की इससे ऊँची दर, १० से ३० प्रतिशत तक के उदाहरण भी मिलते हैं। प्राचीन विधि-शास्त्रों तथा महाकाव्यों में हमें कर-व्यवस्था के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त होती है। उनमें इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि कर-व्यवस्था न्यायसंगत तथा समता पर आधारित होनी चाहिये और राज्य तथा कर देनेवाले दोनों ही को यह संतोष होना चाहिये कि कर न तो बहुत कम है और न बहुत असह्य। व्यापार तथा उद्योगों में कुल लाभ पर कर वसूल किया जाता था और यदि उसकी दर में कोई वृद्धि करनी होती थी तो वह बहुत धीरे-धीरे की जाती थी अचानक नहीं। किसी से भी बहुत जल्दी-जल्दी कई बार कर नहीं वसूल किया जा सकता था और यदि अतिरिक्त धन की आवश्यकता होती थी तो अतिरिक्त कर जनता की अनुमति से ही लगाया जा सकता था। कुछ श्रेणियों के लोग, जैसे विद्वान और सैनिक कर्मचारी, कर से उन्मुक्त थे। अक्षम तथा जीर्णशीर्ण लोगों से भी कर नहीं लिया जाता था।

भूमि पर जो कर लगाया जाता था उसका स्वरूप क्या था? वह कर होता था या लगान? इस विषय में जो प्रमाण मिलते हैं वे कुछ अस्पष्ट हैं और दोनों ही निष्कर्षों के पक्ष में तर्क

दिये गये है। काफ़ी ज़ोर देकर यह तर्क दिया जाता है कि प्राचीन भारत में भूमि का स्वामित्व राज्य के हाथों में था और इसलिए कृषक राज्य के राजस्व अधिकारी को लगान देता था। मेगास्थनीज़ ने लिखा है कि "समस्त भारत राज्य की संपत्ति है और किसी व्यक्ति को भूमि का मालिक होने का भी अधिकार नहीं है।" और कौटिल्य का भी यही मत था कि राजा जल और थल दोनों का स्वामी है। परंतु इसके विपरीत हमें इस बात के भी काफ़ी प्रमाण मिलते हैं कि भूमि लोगों की निजी संपत्ति होती थी, वह उत्तराधिकार में पिता से पुत्र को मिलती थी और निजी संपत्ति के रूप में उसे गिरवीं रखा जा सकता या दान दिया जा सकता था। भूमि पर पूर्ण स्वामित्व के अधिकार को स्वीकार किया जाता था और किसी कृषक को उसकी संपत्ति से केवल उसी दशा में वंचित किया जा सकता था जब वह राजा का कर न चुकाये। यह तो सच है कि आपातकाल में राजा को यह अधिकार होता था कि वह कृषकों को साधारण वर्षों की अपेक्षा अधिक फ़सल उगाने पर बाध्य कर सके और ऐसे समय पर वैयक्तिक सुविधा की ओर ध्यान न देकर सामाजिक हित को ही सर्वोपरि महत्व दिया जाता था। कम से कम बौद्धकाल के बाद से तो भूमि पर वैयक्तिक स्वामित्व होता था, इस बात का विपुल प्रमाण शिलालेखों में और उस समय के साहित्य में भी मिलता है। इसलिए हमें यह मानना पड़ेगा कि कृषक राज्य को जो अदायगी करता था वह लगान नहीं बल्कि कर होता था।

प्राचीन भारत की कृषि-व्यवस्था की तीन सबसे प्रमुख लाक्षणिकताएँ थीं। पहली यह कि राज्य का कृषक के साथ सीधा संबंध था, उनके बीच में कोई मध्यस्थ नहीं होता था। दूसरे, भूमि-कर की दर बहुत कम होती थी; साधारणतया वह पैदावार के छठे भाग से अधिक नहीं होती थी। तीसरे, चूँकि भूमि को निजी संपत्ति समझा जाता था और वह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को उत्तराधिकार में मिलती रहती थी इसलिए नियमित रूप से कर चुकाते रहने पर भूमि का स्वामित्व छिनने का कोई भय नहीं रहता था।

भारतीय इतिहास के अनेक युगों के दौरान में भूमि-कर की व्यवस्था का विकास अत्यंत रोचक रहा है। इस कर के अस्तित्व का प्रथम संकेत ऋग्वेद के 'बलि' शब्द में मिलता है। 'बलि' आरंभ में प्रजा द्वारा राजा को अपनी इच्छा से उपहारस्वरूप दी गयी किसी भी वस्तु को कहते थे; बाद में चलकर इसने एक नियमित तथा अनिवार्य अदायगी का रूप धारण कर लिया और यह राजा तथा उसकी प्रजा के पारस्परिक संबंध की लाक्षणिक विशिष्टता बन गयी। कृषि की उपज में यह राजा का हिस्सा होता था और इसलिए न्यूनाधिक रूप मे इसके परिमाण का निर्धारण हर ग्रामवासी के लिए अलग-अलग किया जाता था। अलग-अलग हर व्यक्ति के लिए कर की मात्रा का निर्धारण करने का तरीक़ा इससे बाद के युगों में भी कर-व्यवस्था की सामान्य लाक्षणिकता रही; फिर भी कहीं-कहीं कर की मात्रा का निर्धारण सामूहिक रूप से भी किया जाता था। इसके बाद स्मृतियों तथा अर्थशास्त्र की श्रेणी के साहित्य में एक नये शब्द 'हिरण्य' (सोना) का उल्लेख मिलता है, जिसका अर्थ है कि राजस्व नक़द अदा किया जाने लगा था। ऐसा प्रतीत होता हैं कि यह कर पहलेवाले कर के बदले लगाया जाता था और कुछ विशेष प्रकार की फ़सलों पर ही लागू होता था। कर की मात्रा निर्धारित करने की विधि

अत्यंत सुव्यवस्थित थी। भूमि के वर्गीकरण की पद्धति अत्यंत प्राचीन काल से ही व्यापक रूप से प्रचलित थी, इसका उल्लेख बौद्ध जातक कथाओं में मिलता है; फ़सल का बँटवारा खलिहान में एक राजस्व अधिकारी करता था जिसे द्रोणमापक कहते थे। उत्पादन क्षमता के अनुसार भूमि के वर्गीकरण के अतिरिक्त 'रज्जुग्गाहक अमच्च' (जिसका शाब्दिक अर्थ है 'नापने का फ़ीता ग्रहण करनेवाला मंत्री') भूमि को नापता भी था और कर की मात्रा निर्धारित करते समय इस बात को भली भाँति ध्यान में रखा जाता था। इतिहास के जिस युग का हम अध्ययन कर रहे हैं, स्मृति-साहित्य तथा अर्थशास्त्र के काल से लेकर गुप्तकाल तक, उसके विभिन्न कालों में कृषि-कर मुख्यतः तीन प्रकार का था : 'बलि', 'हिरण्य' तथा 'कर'।

कर का अनुपात, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, १/६ से लेकर १/१२ तक होता था। नक़द कर बहुत ही कम, अर्थात् पचासवें भाग के बराबर, लिया जाता था। अर्थशास्त्र में कृषि-कर के प्रश्न पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है और यह स्वाभाविक भी है। इस पुस्तक में भूमि के स्वामित्व के दो मुख्य रूप बताये गये हैं : वह एक भूमि जो निजी सम्पत्ति थी और दूसरे वह भूमि जो राजा की सम्पत्ति थी। राजा की भूमि कुल भूमि की लगभग आधी आँकी गयी है। इसमें कर के लिए 'भाग' शब्द का प्रयोग किया गया है और यह प्राचीन साहित्य में प्रयुक्त 'बलि' शब्द का पर्यायवाची है। समाहर्ता का यह कर्तव्य था कि वह विभिन्न प्रकार की ज़मीनों, उनकी नाप तथा उन पर कर की निर्धारित मात्रा का हिसाब रखे। समाहर्ता के अधीन 'गोप' तथा 'स्थानीय' काम करते थे; 'गोप' स्थानिक अधिकारी होता था और जिसे 'स्थानीय' कहते थे इसे हम मंडल का अधिकारी मान सकते हैं। अर्थशास्त्र में 'पिण्डकर' शब्द का भी प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ है पूरे गाँव के लिए सामूहिक रूप से निर्धारित किया गया कर। परंतु अलग-अलग हर व्यक्ति के लिए कर की मात्रा अलग-अलग निर्धारित करने की पद्धति को हमेशा अच्छा समझा जाता था।

मौर्य तथा गुप्त सम्राटों के साम्राज्यों जैसे विस्तृत राज्य के लिए कृषि-कर से प्राप्त होनेवाली धनराशि से प्रशासन का पूरा खर्च नहीं चल सकता था। कौटिल्य ने अनन्य प्रखर बुद्धि का प्रमाण देते हुए ऐसी आर्थिक कार्यवाहियों के विभिन्न रूपों की एक विस्तृत सूची दी है जिससे राजकोष को पर्याप्त धन प्राप्त हो सकता था। जो माल नगर में आता था उस पर व्यापारी चुंगी देते थे। इसके अतिरिक्त माल की कीमत के अनुसार ५ से १६ प्रतिशत तक सीमा-शुल्क लिया जाता था। जलमार्गों द्वारा परिवहन के लिए घाट-कर देना पड़ता था। माप-तोल के मानदंडों पर उचित मुहर लगी होना आवश्यक था और यह कर वसूल करने का एक और स्रोत बन गया। उद्योग की विविध शाखाएँ जैसे बुनाई, मदिरा का व्यापार, खानें, नमक, पशुपालन, बाग-बागीचे, चरागाह—ये सब राज्य के लिए आय का उपयोगी स्रोत समझे जाते थे। जो लोग कर अदा करने में असमर्थ हों उनके लिए इसके बदले बेगार करने की व्यवस्था रखी गयी थी, परंतु कर किसी न किसी रूप में सबको चुकाना पड़ता था। समाजोपयोगी कामों के लिए राज्य को अपनी प्रजा से काम लेने का अधिकार था पर इस बात का काफ़ी ध्यान रखा जाता था कि यह प्रथा पतित होकर दास-प्रथा का घृणित रूप न धारण

कर ले। दासता का अस्तित्व था अवश्य पर इतने छोटे पैमाने पर कि मेगास्थनीज़ जैसी तीक्ष्ण दृष्टिवाला आदमी भी उसे देखने में असमर्थ रहा। ऋण चुकाने में असमर्थता दासता का सबसे महत्वपूर्ण कारण था और ज्यों ही ऋण चुका दिया जाता था त्यों ही दास को स्वतंत्र घोषित कर दिया जाता था।

कर और जुर्मानों के अतिरिक्त नज़रानों से भी सम्राट् के कोष में धन आता था। युद्ध में विजय प्राप्त करने पर विजेता पराजित पक्ष से नज़राना वसूल करता था, जो बहुत बड़े परिमाण में होता था। चूँकि कई छोटे-छोटे अपराध ऐसे थे जिन के दंड में जुर्माना लिया जाता था इसलिए यह आय का बहुत बड़ा स्रोत था। जिस संपत्ति का कोई मालिक या उत्तराधिकारी नहीं होता था वह राज्य के कब्ज़े में चली जाती थी और जब कोई व्यक्ति बिना संतान छोड़े मर जाता था तो उसकी विधवा पत्नी को उसकी संपत्ति का उत्तराधिकारी नहीं माना जाता था, इस प्रकार न जाने कितनी जायदादों पर राज्य का धन-कोष बढ़ाने के लिए कब्ज़ा कर लिया गया होगा। क़ानून बनानेवालों को इस बात का श्रेय देना होगा कि वे इस प्रथा में निहित अन्याय की आलोचना करते थे परंतु राज्य उनकी बातों की ओर बहुधा कोई ध्यान नहीं देता था।

तो क्या इसका अर्थ यह है कि प्राचीन भारत में राज्य अपनी कर-व्यवस्था द्वारा लोगों को लूटता था। भूमि-कर बहुत अधिक नहीं था और दूसरे कर भी असह्य नहीं थे। यदि उन पर कोई अन्यायपूर्ण कर लगाया जाता था तो लोग उनके विरुद्ध विद्रोह करते थे और हर राजा जनता के क्रोध से बहुत डरता था। यह तो सच है कि करों की संख्या बहुत थी परंतु व्यय की मदों की संख्या भी कम नहीं थी। बड़ी-बड़ी सेनाओं पर राज्य की कुल आय का लगभग आधा भाग व्यय हो जाता था। लगभग १७ प्रतिशत आय अलग सुरक्षित रख दी जाती थी, जिसमें से ८$\frac{1}{3}$ प्रतिशत राज्य के कर्मचारियों के वेतन में निकल जाती थी; इतनी ही राजा को उसके निजी व्यय के लिए दे दी जाती थी। शेष, अर्थात् लगभग १७ प्रतिशत समाजोपयोगी तथा राष्ट्र-निर्माण के कामों पर व्यय की जाती थीं; यदि इसमें सार्व-जनिक दान और चन्दे की धन-राशि और जोड़ दी जाये तो पता चलेगा कि जनता के प्रत्यक्ष हितों पर बहुत बड़ी धन-राशि व्यय की जाती थी। सेना पर बहुत अधिक धन व्यय होता था पर इसका कारण यह था कि भारत को समीपवर्ती देशों से युद्ध का निरंतर खतरा रहता था। आज भी अधिकांश राष्ट्र अपनी आय का बहुत काफ़ी भाग बड़ी-बड़ी सेनाएं रखने पर ख़र्च कर देते हैं फिर ऐसे समय में जब सुरक्षा को ख़तरा था और हमेशा देश पर संकट मंडराता रहता था यदि इतनी बड़ी धन-राशि सेना पर व्यय कर दी जाती थी तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? हमेशा से यह होता आया है कि राष्ट्र की सेना पर शिक्षा की अपेक्षा अधिक धन व्यय किया जाता रहा है इसलिए हमें प्राचीन भारत की राज्य-व्यवस्था की बहुत कटु आलोचना नहीं करनी चाहिये।

हम अब तक राजतांत्रिक राज्य की प्रशासन संबंधी बातों पर विचार कर रहे थे। यद्यपि राजतांत्रिक राज्य राजनीतिक संगटन का सबसे व्यापक रूप था पर यह शासन का एकमात्र रूप

नहीं था। बहुत पहले ही बुद्ध के समय में यहाँ ऐसे गणतंत्र थे जो जनता के प्रतिनिधियों द्वारा अपने आधिपत्य के क्षेत्र का प्रशासन चलाते थे। इन्हें 'गण' कहते थे और हमारे प्राचीन साहित्य तथा सिक्कों में ऐसे अनेक 'गणों' का विवरण मिलता है, जैसे लिच्छवि, मल्ल, मालव, यौधेय तथा आर्जुनायन। यह तर्क दिया जाता है कि इस शब्द का अर्थ गणतंत्र नहीं बल्कि क़बीला है, परंतु नवीनतम खोजों के प्रकाश में यह मत तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। 'गण' शब्द से अभिप्राय एक ऐसे क़बायली राज्य से था जिसका संगठन गणतांत्रिक था।

ये राज्य गणतंत्र तो थे पर वे उस ढंग के लोकतांत्रिक राज्य नहीं थे जैसे लोकतांत्रिक राज्यों से हम आज परिचित हैं। इनमें एक सभा सर्वोच्च सत्ता की अधिकारी होती थी; इस सभा की सदस्यता एक छोटे अभिजात वर्ग तक सीमित थी; इसलिए हम इन्हें स्वल्पतांत्रिक गणतंत्र कह सकते हैं। जन-साधारण की, किसानों और श्रमिकों की, शासन में कोई आवाज़ नहीं होती थी और उन्हें केवल इस सभा के अभिजातवर्गीय सदस्यों के निर्णयों का पालन करना पड़ता था।

यद्यपि इस सभा का संगठन सीमित मताधिकारी के आधार पर होता था पर वह पूरे गणतंत्र की सर्वोच्च शासन-संस्था होती थी। इसकी बैठक एक विशेष रूप से बनवाये गये भवन में होती थी और यह अपना अध्यक्ष स्वयं चुनती थी जिसे 'संघमुख्य' कहते थे; उसके निर्देशन में सभा प्रजा के जीवन से संबंध रखनेवाले सभी प्रश्नों पर विचार-विमर्श करती थी। इस सभा के कुछ लिपिक होते थे और सदस्यों के बैठने की व्यवस्था करने के लिए कुछ विशेष अधिकारी होते थे। गणपूरक संख्या का सख्ती से पालन किया जाता था और प्रस्ताव औपचारिक ढंग से प्रस्तुत किये जाते थे, उन पर खूब बहस होती थी और वे बहुमत से स्वीकार किये जाते थे। जब दो पक्षों में किसी विचाराधीन विषय पर गहरा मतभेद होता था तो इस सभा की कार्यवाहियाँ बहुधा बहुत देर तक चलती थीं और बहुत गरमागरम बहस होती थी। ऐसी दशा में सभा पर नियंत्रण रखने के लिए संघमुख्य को उन्हें समझाने-बुझाने के लिए अपनी पूरी शक्ति का प्रयोग करना पड़ता था। उसे पूर्णतः निष्पक्ष रहना पड़ता था; और यदि उस पर पक्षपात का लेशमात्र भी संदेह हो जाता था तो उसकी तीव्र भर्त्सना की जाती थी।

गणतंत्र में सत्ता की सर्वोच्च संस्था होने के नाते यह सभा वैदेशिक समस्याओं पर अपना नियंत्रण रखती थी, युद्ध की घोषणा करती थी, शांति-संधियों पर हस्ताक्षर करती थी, राजदूतों से भेंट करती थी और गणतंत्र के प्रशासन पर विचार-विमर्श करती थी। उद्घोषणाएँ जारी करना और सिक्के ढालना इसका एकाधिकार था और इस सभा द्वारा प्रसारित मुद्रा पर गणतंत्र का नाम अंकित रहता था।

चूँकि इन सभाओं के सदस्यों की संख्या बहुत बड़ी होती थी इसलिए गणतंत्र के प्रशासन के प्रतिदिन के कामों को चलाने के लिए कोई व्यवस्था करना आवश्यक था। इस उद्देश्य से वे कार्यकारिणी समितियाँ चुन लेती थीं जिनका अध्यक्ष साधारणतया संघमुख्य होता था। कार्यकारिणी में कम से कम पाँच या छः सदस्य होते होंगे जिसको वैदेशिक मामले, न्याय, पुलिस

और राजस्व आदि के विभिन्न विभाग सौंप दिये जाते होंगे। कार्यकारिणी पूर्णतः सभा के नियंत्रण में रहती थी; एक बार तो अंधक-वृष्णि गणतंत्र के प्रधान श्रीकृष्ण भी नारद से इस बात का रोना रोये कि उन्हें सभा के बक्की सदस्यों की आज्ञा का पालन करना पड़ता था। गणतंत्र के सभी प्रमुख पदाधिकारियों को, जैसे प्रान्तों के उपराजों तथा सैनिक अधिकारियों को, यह सभा ही नियुक्त करती थी। इन गणतंत्रों के प्रारंभिक काल में हर लड़ाई में सेना का नेतृत्व करने के लिए सेनापतियों का निर्वाचन भी यह सभा ही करती थी।

ये 'संघ' और 'गण', जिनकी कार्य-विधि के नमूने पर बौद्धसंघ ने अपने विनय के नियम बनाये, ७वीं शताब्दी ईसा-पूर्व से तीसरी शताब्दी ईसा-पूर्व तक भारत के उत्तरी-पश्चिमी तथा उत्तरी-पूर्वी भागों में समृद्धिशाली रहे। मौर्य साम्राज्य के उत्थान के साथ संभव है कुछ समय के लिए उनका लोप हो गया हो पर दूसरी शताब्दी ईसा-पूर्व में हम उन्हें फिर क्रियाशील पाते हैं। कुछ प्रमुखतम गणतंत्र ये थे : मालव, यौधेय, आर्जुनायन, प्रार्जुन, मद्रक तथा सनकानीक। ये गणतंत्र पूरे पंजाब, राजस्थान और मालवा में फैले हुए थे; इनका विस्तार एक-दो ज़िलों से लेकर वर्तमान कमिश्नरियों के विस्तार के बराबर था। उदाहरण के लिए यौधेय गणतंत्र पूरब में सहारनपुर से लेकर पश्चिम में भावलपुर तक और उत्तर-पूर्व में लुधियाना से लेकर दक्षिण-पूर्व में दिल्ली तक फैला हुआ था। २०० ई. पू. से ४०० ई. तक आर्जुनायन गणतंत्र का राज्य आगरा-जयपुर के इलाक़े में था। इनमें से कई गणतांत्रिक राज्यों में स्वतंत्रता की तीव्र भावना थी और वे उसकी रक्षा के लिए लड़ने को तत्पर रहते थे। ये समृद्ध राज्य थे और इनका प्रशासन सुव्यवस्थित था और इन्होंने विश्व इतिहास की दो महानतम विभूतियों को जन्म दिया। एक थे पांडवों के मित्र, परामर्शदाता तथा मार्गदर्शक और भगवद्गीता के भगवान श्रीकृष्ण जो अंधक-वृष्णि गणतंत्र के सपूत थे। दूसरे थे "शाक्य केसरी" तथा "एशिया की ज्योति" गौतम बुद्ध।

इस प्रकार इन छोटे-छोटे गणतंत्रों ने प्राचीन भारत की राज्य-व्यवस्था तथा उसके सांस्कृतिक जीवन में जिस भूमिका का निर्वाह किया वह कम महत्वपूर्ण नहीं है। भारत के इतिहास के अत्यंत अंधकारमय कालों में उन्होंने स्वतंत्रता की ज्योति जलाये रखी। सिकंदर की यूनानी सेनाओं और शक सैनिकों ने उनकी तलवार की धार की तेज़ी को अनुभव किया और अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करने के उनके दृढ़ संकल्प को देखकर वे दंग रह गये। एक ओर उनका स्वातंत्र्य-प्रेम उन्हें रणक्षेत्र में वीरतापूर्वक लड़ने की प्रेरणा प्रदान करता था परंतु इसके साथ ही दूसरी ओर अपनी समस्याओं पर सार्वजनिक रूप से विचार-विनिमय करने के प्रति उनकी रुचि के कारण उनकी गुप्त-से-गुप्त मंत्रणाएँ शत्रु के कानों तक पहुँच जाती थीं और आपस की फूट के कारण उनकी शक्ति क्षीण होती जाती थी। कुछ समय बीतने पर सेनापति आदि कार्यवाहक पदाधिकारियों का पद पिता से पुत्र को उत्तराधिकार में मिलने लगा और ये गणतंत्र राजतंत्रों में परिणत हो गये। मौर्य तथा गुप्तवंश जैसी साम्राज्यधारी शक्तियों के उत्थान के साथ इनका स्वतंत्र अस्तित्व संकट में पड़ गया था और एक-एक करके ये गणतंत्र इतिहास के रंगमंच से लुप्त हो गये।

यह है प्राचीन भारत की राज्यव्यवस्था का वैविध्यपूर्ण स्वरूप। उसमें नगर-राज्य भी थे और साम्राज्य भी, राजतंत्र की सेवा करनेवाले नौकरशाह भी थे और गणतंत्र के पदाधिकारी भी; इन सभी ने प्राचीन काल में इस देश के राजनीतिक जीवन में योगदान किया। पुरोहितों की सत्ता और राजा की सत्ता में संघर्ष हुए; प्रादेशिक शासनों तथा साम्राज्यधारी राज्य के बीच संघर्ष हुए। यह सारा युग "स्वर्ण-युग" नहीं था क्योंकि इसमें क्रूरता और दमन, आक्रमण तथा लूटमार के भी काल आये। ऐसे भी काल आये जब देश की एकता केवल सांस्कृतिक क्षेत्र तक ही सीमित रह गयी और सारा देश छोटे-बड़े अनेक राज्यों में बँट गया, जिनमें से हर एक की अलग-अलग महत्वाकांक्षाएँ थीं और सभी प्रभुसत्ता का अधिकारी होने का दावा करते थे। परंतु यह सारा युग आदिम भी नहीं था क्योंकि इसके धर्मग्रंथों के अनेक आख्यानों की विचित्रता के पीछे इतनी आधुनिक भावनाएँ छुपी हुई दिखायी देती हैं कि आश्चर्य होता है। इतिहास का काम न तो अभियोग लगानेवाले सरकारी वकील का होता है और न हर बुराई पर पर्दा डालनेवाले का। वह तो केवल घटनाक्रम की व्याख्या कर देता है और यह मान लेता है कि इन घटनाओं को उनके उचित प्रसंग में समझा जायेगा। यदि हम हर घटना के उचित प्रसंग को ध्यान में रखें तो हम प्राचीन भारत की राज्य-व्यवस्था में बहुत-सी ऐसी बातें पायेंगे जो एक बीते हुए युग की हैं और अच्छा यही है कि उन्हें वहीं रहने दिया जाये; पर साथ ही उसमें बहुत-सी बातें ऐसी भी हैं जो आनेवाले युगों के लिए आदर्श हैं—और ऐसी बातों की कोई कमी नहीं हैं—जिन पर हम गर्व करें तो उचित ही है। परंतु अपने गर्व में हमें यह नहीं भूल जाना चाहिये कि प्राचीन भारत के इतिहास के रंगमंच पर जो राजा और मंत्री और राजकर्मचारी तथा सेनापति आये वे मनुष्य ही थे और अपनी समस्त कमज़ोरियों के बावजूद महान थे। उन्होंने कुछ मानव-मानदंडों का पालन करने का प्रयत्न किया और इसी कारण वे महान हैं। यही प्राचीन भारत की राज्य-व्यवस्था का निचोड़ है।

– २ –

# सामाजिक तथा आर्थिक दशा

हम देख चुके हैं कि प्राचीन भारत का इतिहास एक देश का कम से कम ३,००० वर्षों का इतिहास है जिसमें विविध जातियों के लोग रहते थे। इन सहस्राब्दियों के दौरान में भारतीय समाज नाना प्रकार के प्रभावों के सम्पर्क में आया और इन प्रभावों के कारण भारत-वासियों को निरंतर बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार अपने आपको ढालना सीखना पड़ा। कोई भी समाज स्थिर नहीं रहता है और प्राचीन भारतीय समाज भी इस नियम का अपवाद नहीं था। समाज को जिस प्रकार की चुनौतियों का सामना करना पड़ता है और जिस ढंग से उस पर इन चुनौतियों की प्रतिक्रिया होती है उसी के अनुसार परिवर्तन की गति भी बदलती रहती है। परंतु यदि किसी भी समाज को उसके कई शताब्दियों के जीवन की पृष्ठभूमि में देखा जाये तो यह परिवर्तन स्पष्ट रूप से दिखायी देता है और प्राचीन भारत की सामाजिक तथा आर्थिक दशा का उल्लेख करते हुए हमें परिवर्तन के इसी सिद्धांत को ध्यान में रखना चाहिए।

प्राचीन भारत के पूरे समाज की मुख्य लाक्षणिकताओं का वर्णन करने के लिए कुछ निष्कर्ष सहायक होंगे और आशा की जाती है कि पाठकों को इसमें कोई आपत्ति भी नहीं होगी। इस प्रकार के निष्कर्षों में सबसे महत्वपूर्ण "वर्ण" की धारणा है और इसलिए आगे के विवेचन का सूत्रपात हम इसी धारणा से करेंगे। बहुधा यह कहा जाता है कि वर्ण-व्यवस्था भारत में समाज संघटन का सबसे स्थायी रूप रही है। वर्ण-व्यवस्था भारतीय समाज की एक ऐसी लाक्षणिकता है जो किसी दूसरे समाज में नहीं पायी जाती। परंतु इस शब्द का क्या अर्थ है? हमें यह न भूलना चाहिये कि समाज संगटन के इस मूलतः भारतीय स्वरूप का वर्णन करने के लिए अंग्रेज़ी में जिस 'कास्ट' शब्द का प्रयोग किया जाता है उसकी उत्पत्ति अपेक्षतः बहुत बाद में हुई है; इस शब्द का प्रयोग सबसे पहले पुर्तगालियों ने ऐसी समाज-व्यवस्था के लिए किया था जिसका उद्देश्य नस्ल की शुद्धता को सुरक्षित रखना था। इस व्यवस्था का स्वरूप और उसकी क्रिया इतनी जटिल है कि इसकी कोई संतोषजनक परिभाषा नहीं दी जा सकती। इस शब्द की कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं: एक परिभाषा में कहा गया है कि वर्ण "उस सुसंगठित समुदाय को कहते हैं जिसमें बाह्य तत्वों का प्रवेश निषिद्ध हो और जो कम से कम सिद्धांत की दृष्टि से पूर्णतः वंशगत हो। इसका एक परम्परागत तथा स्वतंत्र संगठन, एक प्रधान और एक परिषद् होती है और आवश्यकता पड़ने पर इसकी सभाएँ होती हैं जिन्हें न्यूनाधिक रूप में पूर्ण अधिकार प्राप्त होते हैं।" एक दूसरी परिभाषा के अनुसार इस व्यवस्था की उत्पत्ति जातिगत विभाजन के कारण हुई और तीसरी परिभाषा में

इसका संबंध अलग-अलग व्यवसायों से जोड़ा गया है। यद्यपि इनमें से कोई भी परिभाषा पर्याप्त नहीं है फिर भी इनसे हमें वर्ण की कुछ विशिष्टताएँ समझने में सहायता मिलती है। इसकी सबसे प्रमुख लाक्षणिकताएँ ये हैं कि इस समुदाय की सदस्यता वंशगत होती है और अपना व्यवसाय तथा जीवन-साथी चुनने में हर सदस्य को कुछ कठोर नियमों का पालन करना पड़ता है; कुछ वर्णों की पंचायतों को वर्ण (बिरादरी) के नियमों का उल्लंघन करनेवाले अपराधी को दंड देने के आभास-न्यायिक अधिकार भी होते हैं। परंतु ये लाक्षणिकताएँ तो इस व्यवस्था में बहुत बाद में कई शताब्दियों के विकास के बाद उत्पन्न हुईं।

परंतु "जाति-पाँत" शब्द से हमें कई युगों के दौरान में इस व्यवस्था के ऐतिहासिक विकास को समझने में अधिक सहायता नहीं मिलती। इस व्यवस्था का वर्णन करने के लिए "वर्ण" तथा "जाति" शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जिनके शाब्दिक अर्थ हैं "रंग" और "जन्म"। पहला शब्द जातीय विभेद को इंगित करता है और बादवाले शब्द का अभिप्राय "जन्म" अथवा "उत्पत्ति" से है। सबसे पहले आर्यों तथा अनार्यों के जातीय अंतर को स्पष्ट करने के लिए 'आर्य-वर्ण' तथा 'दासवर्ण' शब्दों का प्रयोग किया गया और ऋग्वेद में ये शब्द इसी प्रसंग में प्रयुक्त हुए हैं। जो आर्य भारत में आक्रमणकारियों के रूप में आये उनका रंग-रूप, धर्म, रीति-रिवाज और आचार-व्यवहार यहाँ के अनार्य मूल-निवासियों से सर्वथा भिन्न था और इसी अंतर के फलस्वरूप भारत का विकासशील समाज दो मुख्य भागों में विभाजित हो गया। राजनीतिक दृष्टि से आर्य विजेता थे और अनार्य पराजित और जातीय अंतर की दृष्टि से आर्यों का रंग गोरा था और अनार्यों का काला। आर्यकालीन समाज में तीन वर्ग थे जो व्यवसायों के आधार पर संगठित थे: सैनिक-प्रशासक वर्ग, पुरोहित वर्ग और कृषक-शिल्पकार वर्ग। ऋग्वेदिक काल तक इन तीनों वर्गों को एक दूसरे से अलग करनेवाली सीमाएँ इतनी स्पष्ट नहीं हुई थीं और इसीलिए वे अनुल्लंघनीय नहीं थीं। एक बढ़ता हुआ समाज होने के नाते आर्यकालीन समाज में काफ़ी सामाजिक गतिशीलता थी और इन परिस्थितियों का प्रतिबिंब ऋग्वेद में भी मिलता है। जैसे-जैसे विभिन्न व्यवसायों का विकास होता गया और व्यावसायिक कौशल पिता से पुत्र को उत्तराधिकार में मिलने लगा, वैसे-वैसे इन वर्गों में पृथक समुदायों के रूप में घनीभूत होने की प्रवृत्ति आती गयी और समय की गति के साथ यह वर्ण-व्यवस्था की स्थापना का एक उपकरण बन गया। यह तो सत्य है कि ऋग्वेद के अंतिम मंडल की एक ऋचा में यह कहा गया है कि ब्रह्मा के शरीर से समाज के चार वर्णों की उत्पत्ति हुई, परंतु कई विद्वान इस ऋचा को संदिग्ध मानते हैं। फिर भी इसके बाद के कई युगों में इस ऋचा के आधार पर अनेक सिद्धांत निर्धारित किये गये और हम देखते हैं कि बाद के विधि-निर्माताओं ने इसका हवाला बड़े उत्साह के साथ दिया है। इस ऋचा में कहा गया है कि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रिय ब्रह्मा की भुजाओं से, वैश्य उनकी जाँघ से और शूद्र उनके चरणों से पैदा हुए। यह एक बहुत सुंदर उपमा है जो समाज के विभिन्न वर्णों के अलग-अलग कार्यविभाजन के वर्णन पर पूरी उतरती है। इस प्रकार ब्राह्मण पवित्र मंत्रों का प्रचारक तथा शिक्षक, क्षत्रिय योद्धा और वैश्य

सम्पत्ति का उत्पादक तथा कर देनेवाला होता है और शूद्रका अस्तित्व केवल तुच्छ कामों को करने के लिए है। परंतु मनु जैसे विधि-रचयिताओं द्वारा वर्णित परवर्ती समाज में इन चार मुख्य वर्णों के अतिरिक्त अन्य समुदाय भी थे जिनकी व्याख्या उनकी उत्पत्ति तथा काम के प्रसंग में करना आवश्यक था। इस उद्देश्य से "संकर" वर्णों का सिद्धांत बड़ी गंभीरता के साथ प्रतिपादित किया गया। इस. सिद्धांत के अनुसार समाज के चार वर्ण मुख्य वर्णों के बीच अंतरवर्णीय विवाहों के कारण अलग-अलग समूहों में बँटते गये और इनकी संख्या कई-गुनी हो गयी, इस प्रकार के विवाह-संबंधों के फलस्वरूप जो संतान होती थी वह उस समय के अनेक समुदायों से किसी एक में शामिल हो जाती थी। उदाहरण के लिए, यदि कोई वैश्य स्त्री किसी शूद्र से विवाह कर लेती थी तो उनका पुत्र आयोगव जात का हो जाता था और उसे "कला के करतब दिखाकर (जैसे सार्वजनिक दंगलों आदि में भाग लेकर या नाच-गाकर) अपने जीवन का निर्वाह करना पड़ता था।" यदि कोई शूद्र किसी क्षत्रिय स्त्री से विवाह कर लेता था तो उसका पुत्र मागध कहलाता था और मागध का काम होता था "बीच बाज़ार में आवाज़ लगा-लगाकर (क्रय वस्तुओं के) सद्गुणों का बखान करना, जिसे हम आजकल की शब्दावली में विज्ञापन का काम कह सकते हैं। परंतु "मागध' शब्द 'मगध' से बना है जो दक्षिणी बिहार में है और इसका अर्थ केवल 'मगध निवासी' हो सकता है। इससे पता चलता है कि किस चतुराई से अपनी अलग-अलग संस्कृति रखने-वाली विभिन्न जातियाँ आर्यों के समाज में सम्मिलित कर ली गयी थीं, और ऐसी परिस्थिति में हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मागध एक समुदाय विशेष से संबंध रखते थे जिसकी उत्पत्ति एक प्रदेश पर आधारित थी। इस उदाहरण से हमें पता चलता है कि कई युगों के दौरान में वर्ण-व्यवस्था का विकास किस प्रकार हुआ होगा। हम अब इसी विषय पर विचार करेंगे।

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, विकासवान भारतीय समाज में जो अलग-अलग समूह बने उनका आधार जातिगत था, और इन समूहों की सदस्यता वंशगत होती थी। इसके बाद व्यवसायों पर आधारित समूह बने। अपनी प्रगति के दौरान में देश और काल दोनों ही की दृष्टि से आर्यों के समाज में आंतरिक संघर्ष चल रहा था। समाज में सर्वोच्च स्थान पाने के लिए दो समूहों में प्रतिद्वंद्रिता चल रही थी—एक क्षत्रिय (योद्धा वर्ग) और दूसरे ब्राह्मण (पुरोहित वर्ग), क्षत्रियों में समस्त राजनीतिक सत्ता अपने हाथों में ले लेने की प्रवृत्ति थी और पुरोहित वर्ग का कहना यह था कि यह निर्धारित करने के लिए, कि समाज में किसका पद ऊँचा है और किसका नीचा, धार्मिक सत्ता की कसौटी को ही सर्वोपरि महत्व दिया जाना चाहिये। बहुत आरंभ में ही जैसे-जैसे धार्मिक ज्ञान और विधि-संस्कारों का क्षेत्र और जटिलता बढ़ती गयी होगी, वैसे ही वैसे पुरोहित वर्ग भी एक संकुचित समूह का रूप धारण करता गया होगा जिसमें केवल वे ही लोग आ सकते थे जो पुरोहित वर्ग से संबंध रखते हों, और समय बीतने के साथ उनके दावे केवल बढ़ते ही नहीं गये बल्कि वे उन पर अधिक ज़ोर भी देने लगे। धार्मिक विधि-संस्कारों की जटिलता विधि-संस्कारों की व्याख्या करनेवाले ब्राह्मण आदि ग्रंथों में प्रतिबिंबित होती है; इन विधि-संस्कारों को संपन्न कराने के लिए व्यापक ज्ञान

और दीर्घ अभ्यास करना आवश्यक था। एक ओर जहाँ पुरोहित वर्ग में पवित्र धर्म-संस्कारों के अपने ज्ञान के कारण दूसरों को अपने समूह में प्रविष्ट न करने की प्रवृत्ति आ गयी थी तो दूसरी ओर क्षत्रिय भी अपने कृत्यों तथा अपनी सत्ता के महत्व पर ज़ोर देते थे और कुलीनता के महत्व की दुहाई देते थे। वैश्य वर्ग बहुत समय तक असंगठित अवस्था में रहा और बाद में जब शूद्रों को भी आर्यों ने अपने समाज में स्थान दिया तो उनके पद में इस उन्नति के कारण वैश्यों का पद कुछ नीचा हो गया। बाद में यहाँ की कुछ आदिवासी जातियां, जैसे निषाद आदि, के इस समाज में सम्मिलित कर लिये जाने से समाज का वर्ग-सोपान और भी जटिल हो गया।

विभिन्न युगों के हमारे धर्मग्रंथों से पता चलता है कि पुरोहित वर्ग के दावे क्रमशः किस प्रकार बढ़ते जा रहे थे। ब्राह्मणों को धीरे-धीरे इतनी अधिक संख्या में विशेष अधिकार प्राप्त हो गये कि वह "भूदेव" बन गया, उसका पद पृथ्वी पर देवता के समान हो गया। उदाहरण के लिए, स्मृतियों में कहा गया है कि यदि ब्राह्मण कोई अपराध करे तो उसे इस अपराध के दंड में केवल निर्वासित किया जा सकता है, परंतु यदि कोई दूसरा व्यक्ति वही अपराध करे तो उसे मृत्युदंड दिया जायगा। परंतु क्षत्रिय ब्राह्मणों के इन लम्बे-चौड़े दावों को चुपचाप स्वीकार कर लेनेवाले नहीं थे; बौद्धमत तथा जैनमत ब्राह्मणों की धर्मसत्ता के विरुद्ध विद्रोह की भावना का प्रतीक हैं। यह विद्रोह काफ़ी समय तक सफल रहा और विकासोन्मुख "वर्ण" व्यवस्था की प्रगति कुछ समय के लिए रुक गयी।

स्मृतियों के युग में हम एक ऐसे समाज की स्थापना देखते हैं जिसमें "वर्ण" व्यवस्था की सभी मुख्य लाक्षणिकताएँ विद्यमान थीं। समाज के वर्ग-सोपान में हर वर्ग एक दूसरे से बिल्कुल पृथक हो गया था, पुरोहित वर्ग इस समाज का शिरोमणि था और शूद्र ब्राह्मणों के तिरस्कृत अनुयायी थे। हर वर्ग की सदस्यता पूर्णतः वंशगत हो गयी थी और अलग-अलग वर्णों के लोगों के लिए अलग-अलग उद्यम निर्धारित कर दिये गये थे। यह तै कर दिया गया था कि ब्राह्मण का काम शिक्षा देना और यज्ञ सम्पन्न कराना है; क्षत्रिय का काम था संसार की रक्षा के लिए निरंतर सशस्त्र रहना; वैश्य का काम था पशुपालन, कृषि तथा ऋण देना और शूद्रों का काम था द्विजों की सेवा करना और व्यावसायिक कलाओं की हर शाखा में काम करना। इनमें से प्रथम तीन वर्णों को द्विज कहते थे।

द्विज शब्द का अर्थ है उपनयन संस्कार द्वारा दूसरा जन्म लेना। इस अवसर पर बालक को यज्ञोपवीत पहनाया जाता था। यह संस्कार बाल्यकाल की समाप्ति पर ब्रह्मचर्य अवस्था में प्रवेश करने का द्योतक था। प्राचीन भारत में मनुष्य के जीवनकाल को चार अवस्थाओं अर्थात् आश्रमों में विभाजित कर दिया गया था। वर्ण के बाद आश्रमों का ही सबसे अधिक महत्व है। ये चार आश्रम थे : ब्रह्मचर्य (विद्योपार्जन की अवस्था), गृहस्थ (पारिवारिक जीवन की अवस्था), वानप्रस्थ (वन में आश्रम का जीवन) और संन्यास (पूर्ण त्याग का जीवन)। यह व्यवस्था तर्कहीन नहीं थी क्योंकि इसकी जड़ें जीवन के प्रति प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण में गहराई तक जमी हुई थीं। प्राचीन भारतवासी जीवन को आत्म-बोध का साधन मानते थे। आत्मबोध

उस लम्बी प्रक्रिया की चरम अवस्था को कहते हैं जिसके दौरान में मनुष्य को जीवन के चार आदर्शों का पालन करने की यथासंभव चेष्टा करनी चाहिये। ये चार आदर्श हैं : धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। मनुष्य के कर्तव्यों की दृष्टि से हम क्रमशः इनकी व्याख्या इस प्रकार कर सकते हैं : विवेकपूर्ण व्यवहार का कर्तव्य, आर्थिक कर्तव्य, वंशवृद्धि का कर्तव्य और आत्मा के प्रति कर्तव्य।

आश्रम शब्द की उत्पत्ति श्रम धातु से हुई है, जिसका अर्थ है किसी काम का प्रयास करना। फलतः इसका अभिप्राय उस स्थान से भी है जहाँ मनुष्य प्रयास करता है और प्रयास करने की विधि से भी। इसलिए यह शब्द जीवन की लम्बी यात्रा में एक विशेष अवस्था का द्योतक है। जीवन को चार अवस्थाओं में विभाजित करने की योजना कुछ निश्चित धार्मिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धीरे-धीरे विकसित हुई, इन आवश्यकातओं की पूर्ति अनिवार्य होती जा रही थी। प्राचीनतम ग्रंथों में केवल पहले तीन आश्रमों का उल्लेख मिलता है, अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ आश्रम। संभव है कि चौथी और अंतिम अवस्था बाद में चलकर जीवन की इस सामान्य योजना में शामिल कर ली गयी हो। यों देखने में तीसरी और चौथी अवस्थाएँ एक जैसी ही हैं परंतु अंतिम अवस्था में संसार को त्याग देने का भाव और भी परिपूर्ण हो जाता है और इस अवस्था में प्रवेश करने से पहले जो संस्कार होते हैं उनका तात्पर्य भी यही होता है कि जीवन से बिल्कुल नाता तोड़ लिया गया है। इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि साधारणतया हर मनुष्य को जीवन की इन चार अवस्थाओं से इसी क्रम में गुज़रना चाहिये। चूँकि हर मनुष्य को स्वयं अपने प्रति और समाज के प्रति कुछ कर्तव्यों और दायित्वों का पालन करना होता है इसलिए यह आवश्यक है कि वह इनका पालन उचित समय पर और उचित ढंग से करे। इन कर्तव्यों कों ऋण कहा गया है। ऋण तीन प्रकार के होते हैं : ऋषियों का ऋण, पूर्वजों का ऋण, और देवताओं का ऋण। मनुष्य ब्रह्मचर्य आश्रम में वेदों का अध्ययन करके, गृहस्थ आश्रम में संतानोत्पत्ति द्वारा और वानप्रस्थ आश्रम में यथाशक्ति यज्ञादि करके क्रमशः इन तीन ऋणों से उऋण हो सकता है। इन तीनों दायित्वों को पूरा करने के बाद ही मनुष्य को मोक्ष अर्थात् इस संसार से मुक्ति की बात सोचनी चाहिए और संन्यास आश्रम में प्रवेश करना चाहिये।

ब्रह्मचर्य आश्रम उपनयन संस्कार के बाद आरंभ होता था। इस संस्कार के बाद बालक विद्यार्थी हो जाता था और अपने गुरु के घर रहने लगता था। वह अपना सारा समय ज्ञानोपार्जन में व्यतीत करता था और निर्धनता तथा संयम का जीवन व्यतीत करता था। यह क्रम लगभग १२ वर्ष तक चलता था जिसके बाद समावर्तन संस्कार होता था, अर्थात् विद्यार्थी अपने घर लौट आता था। इसके बाद वह विवाह करके गृहस्थ जीवन व्यतीत करता था और जब उसके बाल सफेद होने लगते थे और शरीर पर झुर्रियाँ पड़ने लगती थीं तब वह वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। वह अपना घर-बार छोड़कर अपनी पत्नी के साथ वन के आश्रम में रहने लगता था; वह बहुत साधारण जीवन व्यतीत करता था, भिक्षा लेता था, यज्ञ करता था और वेदों तथा उपनिषदों का अध्ययन करता था। बाद में यदि उसकी इच्छा

होती थी तो वह संन्यासी हो जाता था; इस अवस्था में वह बिना किसी घर-बार के अकेला रहता था और मोक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न करता था।

ये चार आश्रम एक ऐसी जीवन पद्धति के द्योतक हैं जो प्राचीन भारत की आत्मा को समझने में हमारे लिए बहुत महत्व रखते हैं। इन आश्रमों का आकार इस कल्पना पर है कि मनुष्य का सारा जीवन मोक्ष के लिए तैयारी होती है और इसलिए व्यक्ति तथा समाज दोनों ही के कल्याण की दृष्टि से इसका उचित संगठन आवश्यक है। पहले आश्रम में मनुष्य से अपने देशवासियों की सांस्कृतिक तथा आत्मिक परम्पराओं के विषय में पूरी जानकारी प्राप्त करने की आशा की जाती है और इस प्रकार उसकी शिक्षा-दीक्षा द्वारा सांस्कृतिक परम्परा का क्रम चलते रहने का आश्वासन हो जाता है। दूसरे आश्रम में जीवन और समाज की आर्थिक तथा जीवोत्पत्ति-संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। तीसरे आश्रम में पहुँचकर मनुष्य से यह आशा की जाती है कि वह अपने स्वार्थों और संसार के माया-मोह से बहुत ऊँचा उठ जाये। चौथे आश्रम में वह समस्त जीवन के अंतिम लक्ष्य अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन आश्रमों की व्यवस्था इस प्रकार की गयी है कि व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के साथ ही समाज का कल्याण भी सुनिश्चित हो जाये। ये आश्रम दो परम्पराओं का परिपालन करते हैं—एक तो है धर्म की परम्परा अर्थात् समाज का संरक्षण तथा विकास; और दूसरी है यज्ञ की परम्परा, अर्थात् मनुष्य के व्यक्तित्व को इस प्रकार ढालना कि उसके समस्त संघर्ष मिट जायें और यज्ञ की भावना द्वारा व्यक्ति के विकास में सहायता देना। पहले आश्रम में समाज का यह दायित्व होता है कि वह व्यक्ति का भार वहन करे और उसे उसकी सांस्कृतिक परम्पराओं से अवगत कराये; दूसरे आश्रम में हर व्यक्ति से यह आशा की जाती है कि वह आर्थिक क्षेत्र में अपने दायित्वों को पूरा करके समाज के प्रति अपनी ऋण से उऋण हो; तीसरे आश्रम में मनुष्य दार्शनिक समृद्धि का अनुभव प्राप्त करता है और चौथे आश्रम में वह अनंत की खोज में अपना जीवन व्यतीत करता है। इस प्रकार, पहली अवस्था में मनुष्य ज्ञानोपार्जन करता है, दूसरी में कर्म करता है, तीसरी में मनन-चिंतन करता है, और चौथी में आत्म बोध प्राप्त करता है। मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास का नियमन करके और समाज के दायित्व निर्धारित करके, इस आश्रम-पद्धति ने प्राचीन भारत की सांस्कृतिक परम्पराओं को सुरक्षित रखने तथा उन्हें समृद्ध बनाने में सराहनीय योग दिया। समाज या व्यक्ति के विकास में किसी प्रकार की बाधा डाले बिना इस आश्रम-पद्धति ने जीवन को स्थायित्व प्रदान किया और इसी प्रसंग में प्राचीन भारत की सांस्कृतिक परम्परा के निर्माण तथा विकास पर उनका प्रभाव सब से महत्वपूर्ण है।

परंतु आश्रम-पद्धति के अनुसार जीवन व्यतीत करने का अधिकार केवल तीन द्विज वर्णों को था। शूद्र को न वेदों का अध्ययन करने का अधिकार था न मोक्ष-प्राप्ति की चेष्टा करने का। उसका कर्तव्य केवल तीन श्रेष्ठतर वर्णों की सेवा करना था और अपने इस कर्तव्य का उचित पालन करके वह अगले जन्म में अपने जीवन को श्रेष्ठतर बनाने की आशा कर सकता था। यह सर्वथा अन्यायपूर्ण सिद्धांत था क्योंकि इसके कारण भारतवासियों की एक बहुत बड़ी संख्या

हमेशा के लिए अज्ञान और दासता का जीवन व्यतीत करने पर बाध्य कर दी गयी। यह बात उल्लेखनीय है कि इस अन्यायपूर्ण पद्धति के कारण अनेक विद्रोह हुए जिनमें सब से प्रबल गौतम बुद्ध का विद्रोह था; गौतम बुद्ध ने अपने संघ के द्वार ब्राह्मणों और शूद्रों सभी के लिए समान रूप से खोल दिये और चुनौती देते हुए यह घोषणा की कि किसी भी व्यक्ति के वैयक्तिक अथवा सामाजिक मूल्यांकन की एकमात्र कसौटी उसके गुण हैं, उसका कुल नहीं। इसमें तो संदेह नहीं की पुरोहितों ने बौद्धों के विरुद्ध बड़े कटु धर्मादेश जारी किये पर ब्राह्मणों के पक्षधर विधिकर्ताओं ने अपनी संहिताओं में जो बातें कही हैं उन्हें स्वीकार करने में हमें बहुत सतर्क रहना चाहिये। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि प्राचीन भारत के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए हमें इतनी बड़ी हद तक इसी पुरोहित वर्ग की लिखी हुई पुस्तकों का सहारा लेना पड़ता है; दुर्भाग्य की बात इसलिए कि वे केवल चित्र के पहलू को पेश करते हैं और, जैसा कि गवेषणा से पता चला है, अपने विरोधी पक्ष के दृष्टिकोण को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत करते हैं, जो निश्चय ही उसके साथ बहुत बड़ा अन्याय है।

विकासवान वर्ण-व्यवस्था ने विवाह संस्कार पर भी अपना प्रभाव डाला। इस संस्कार के संबंध में बिरादरी के भीतर और बिरादरी से बाहर विवाह करने के कुछ नियम थे। विधिकर्ताओं का यह आग्रह था कि विवाह "बिरादरी" के अंतर ही होना चाहिये और इस दृष्टि से यह संस्कार एक ही बिरादरी के लोगों के बीच सम्पन्न किया जा सकता था। परंतु एक दूसरे नियम के अनुसार समाज की दृष्टि में मान्य तथा वांछनीय होने के लिए विवाह संस्कार बिरादरी के बाहर के लोगों के साथ होना भी आवश्यक था क्योंकि दो सगोत्र व्यक्तियों का आपस में विवाह नहीं हो सकता था। बिरादरी से बाहर विवाह करने की प्रथा के दो पहलू थे—एक तो गोत्र से बाहर विवाह करने की प्रथा और दूसरे सपिण्ड अर्थात् "निकट संबंधी" से विवाह न करने की प्रथा, जिसके अंतर्गत यदि कोई दो स्त्री-पुरुष कुछ सुनिश्चित सीमाओं के भीतर एक दूसरे के पितृबंधु या मातृबंधु हों तो उनके बीच विवाह-संबंध वर्जित था। कुछ जातियों (बिरादरियों) में बिरादरी से बाहर विवाह के नियमों का क्षेत्र अत्यंत व्यापक था और अन्य कुछ बिरादरियों में उनका क्षेत्र सीमित था।

'गोत्र' तथा 'सपिण्ड' के बारे में अधिक विस्तार से कुछ बता देना आवश्यक है। मूलतः 'गोत्र' शब्द का अर्थ गोशाला होता है पर व्यापक अर्थ में उस सामान्य निवासस्थान के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाने लगा जहाँ एक परिवार रहता हो और फिर और आगे चलकर इसका अर्थ 'जाति' हो गया। गोत्रों के नाम कश्यप तथा जमदग्नि आदि कुछ प्रख्यात ऋषियों के नाम पर रखे गये हैं और जो लोग एक ही गोत्र के होते हैं वे सब एक ही पूर्वज की संतान माने जाते हैं जिसके नाम पर उनकी गोत्र का नाम चलता है। यह तर्क दिया जाता है कि गोत्र-व्यवस्था और गोत्र से बाहर विवाह करने की पद्धति मूलतः अनार्य सामाजिक संगठन की लाक्षणिकताएँ थीं जो बाद में आर्यों के धार्मिक विश्वासों तथा आचार-व्यवहार में सम्मिलित हो गयीं। गणचिह्नों के स्वरूप कुछ गोत्रों के नामों के महत्व से इस तर्क को कुछ पुष्टि मिलती है। परंतु सभी गोत्रों के नाम गणचिह्न नहीं हैं और इसलिए यह मानना

अधिक तर्कसंगत होगा कि गोत्र का अभिप्राय एक ही पूर्वज की संतानों से था और 'प्रवर' के प्रसंग में इसका अभिप्राय सामान्य उत्पत्ति से होता था। गोत्र तथा प्रवर पद्धति का पूर्ण रूप से विकास पुरोहित वर्ग में हुआ जहाँ विवाह-संस्कार का नियम इसी पद्धति के अनुसार होता था और ब्राह्मण वर्ण के बाहर बिरादरी के भीतर ही विवाह करने का नियम सर्वव्यापी था।

पिछले परिच्छेद में हम 'प्रवर' शब्द का प्रयोग कर चुके हैं। यह शब्द किसी व्यक्ति के पूर्वजों की उस नामावली को इंगित करता है जो आहुति स्वीकार करके देवताओं तक पहुँचा देने के लिए अग्नि देवता का आह्वान करते समय पढ़कर सुनायी जाती थी। समय की गति के साथ 'प्रवर' की अवधारणा में परिवर्तन आता गया और वह किसी व्यक्ति के पूर्वजों को न इंगित करके संस्कारों या विद्या की उस पद्धति विशेष को इंगित करने लगा जिससे किसी व्यक्ति विशेष का संबंध होता था। इस अर्थ में 'प्रवर' का अभिप्राय शिष्यवृत्ति से होता था और इसका प्रयोगक इस अर्थ में केवल पुरोहित वर्ग तक सीमित था। अपनी प्रारंभिक अवस्था में गोत्र से बाहर विवाह करने का प्रतिबंध केवल साधारण गोत्र तक ही सीमित रहा होगा परंतु बाद में इन प्रतिबंधों का क्षेत्र और भी व्यापक बना दिया गया और 'प्रवर' के नियम का पालन भी आवश्यक हो गया। मनु की रचनाओं में 'प्रवर' शब्द का कोई उल्लेख नहीं मिलता; पर गौतम और वशिष्ठ ने इसका उल्लेख किया है जिससे पता चलता है कि एक प्रतिबंधात्मक नियम के रूप में इसे मनु तथा परागामी विधिकर्ताओं के बीच की अवधि में ही मन्यता प्राप्त हुई होगी। यह बता देना आवश्यक है कि गोत्र के संबंध में मनु के आदेश परागामी विधिकर्ताओं की अपेक्षा कम कठोर और अधिक नमनीय हैं। सूत्र-ग्रंथों का अध्ययन करने से पता चलता है कि गोत्र से बाहर विवाह करने का नियम समाज का एक ऐसा नियम था जो अभी पूरी तरह बन नहीं पाया था। धीरे-धीरे समाज इस नियम को स्वीकार करने लगा और एक अनुल्लंघनीय मानदंड के रूप में इसे औपचारिक रूप दे दिया गया; इस मानदंड के अनुसार एक ही गोत्र और प्रवर के दो व्यक्तियों के बीच विवाह-संबंध की स्थापना आपत्तिजनक घोषित कर दी गयी।

विवाह-संबंध के विषय में तीसरा नियम जिसने बिरादरी के बाहर विवाह करने की पद्धति का प्रचलन किया वह सपिण्ड संबंध के बारे में था। पिण्ड का अर्थ होता है मृत्यु के बाद अर्पित किया जानेवाला नैवेद्य। अंत्येष्टि क्रिया के समय तथा श्राद्ध के समय, मृत पूर्वजों को चावल के पिंड अर्पित किये जाते थे। ये पिंड नैवेद्य अर्पित करने वाले व्यक्ति के तीन मृत पूर्वजों अर्थात् पिता, दादा तथा परदादा को चढ़ाये जाते थे। इसके अतिरिक्त परदादा के तीन पूर्वजों को भी इस नैवेद्य का कुछ अंश मिलता था अर्थात् श्राद्ध-संस्कार के समय हाथ पर पानी डालते समय उसके साथ बहकर गिरनेवाला भाग। ये सारी पिढ़ियाँ सपिण्ड संबंधियों की सीमा में आती हैं और इस प्रकार नियम के अनुसार सात पीढ़ियों तक यदि कोई दो व्यक्ति एक-दूसरे के सपिण्ड संबंधी हों तो उनके बीच विवाह-संबंध वर्जित था। परंतु इस संबंध में बहुत मतभेद है कि कितनी पीढ़ियों तक दो व्यक्तियों के बीच सपिण्ड संबंध होने पर उनका विवाह-संबंध वर्जित था। आरंभ में यह प्रतिबंध केवल दो पीढ़ियों तक लागू होता था; बाद में

धीरे-धीरे बढ़कर पांच पीढ़ियों तक और फिर सात पीढ़ियों तक लागू होने लगा। सूत्रों के काल में सपिण्ड संबंध विषयक विचार ठोस रूप धारण करने लगे और मनुस्मृति में हम बिरादरी के बाहर विवाह करने के इस प्रतिबंध को और व्यापक सीमाओं तक लागू होता देखते हैं, क्योंकि मनु ने पितृबंधुओं तथा मातृबंधुओं दोनों ही के बीच विवाह-संबंध वर्जित ठहराये हैं। सपिण्ड-संबंध विषयक नियमों के अनुसार बुआ और मामा की बेटियाँ भी इन्हीं वर्जित सीमाओं में आ जाती हैं। धर्मशास्त्रों में सपिण्ड संबंध के क्षेत्र से बाहर विवाह करने की अपेक्षा गोत्र से बाहर विवाह करने के प्रतिबंध पर हमेशा ज़्यादा ज़ोर दिया गया है; क्योंकि सगोत्र विवाह को तो सर्वथा अमान्य ठहराया गया है परंतु सपिण्ड-संबंध विषयक नियमों का उल्लंघन इतना बड़ा अपराध नहीं समझा जाता था कि उसके कारण विवाह अमान्य घोषित कर दिया जाये। सपिण्ड विषयक विचार के विकास का इतिहास बताता है कि वैदिक काल में कुछ पीढ़ियों तक के पितृबंधुओं में आपस में विवाह-संबंध नहीं स्थापित किया जाता था परंतु मातृबंधुओं में तीन या चार पीढ़ियाँ छोड़कर आपस में विवाह हो सकता था। मनु ने उन पीढ़ियों की संख्या बढ़ा दी जिनमें विवाह-संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता था और विशेष रूप से उनका उद्देश्य तीसरी पीढ़ी तक के संबंधियों के बीच विवाह-संबंधों को रोकना था। उनके बाद के वशिष्ठ तथा याज्ञवल्क्य आदि लेखकों ने सपिण्ड-संबंध की प्रतिबंध-सीमा पितृबंधुओं के लिए सात पीढ़ी तक और मातृबंधुओं के लिए पाँच पीढ़ी तक बढ़ा दी।

मोटे-मोटे तौर पर प्राचीन भारत में विवाह-संबंधी नियम दो थे। पहला नियम बिरादरी के भीतर विवाह करने के संबंध में था जिसमें सवर्ण विवाह अर्थात् एक ही जातीय समूह में विवाह करना वांछनीय बताया गया था। बाद में जब जाति अर्थात् वर्ण (बिरादरी) प्राचीन भारतीय समाज की एक सुस्थापित लाक्षणिकता बन गयी तो बिरादरी के भीतर ही विवाह करने का नियम जातीय अथवा उपजातीय समूह पर भी लागू होने लगा। बिरादरी से बाहर विवाह करने के संबंध में पहले तो गोत्र से बाहर विवाह करने की पद्धति थी जो ब्राह्मणों के समय में प्रचलित हुई और बाद में एक ही 'प्रवर' की संतानों के बीच विवाह-संबंध स्थापित न होने की पद्धति इसी से सम्बद्ध हो गयी। सपिण्ड-संबंध की सीमा से बाहर विवाह करने के बारे में जो नियम था उसका आशय यह था कि सात पीढ़ी तक के पितृबंधुओं और पाँच पीढ़ियों तक के मातृबंधुओं में विवाह-संबंध स्थापित नहीं हो सकता। सारांश यह कि समाज की दृष्टि में विवाह के मान्य होने के लिए यह आवश्यक था कि जहाँ तक जाति (बिरादरी) का संबंध है वह एक ही जाति (बिरादरी) के लोगों के बीच हो और जहाँ तक गोत्र, प्रवर (परंतु बाद में प्रवर का प्रचलन समाप्त हो गया) और सपिण्ड संबंधों का प्रश्न है विवाह इनकी सीमा से बाहर किसी व्यक्ति के साथ होना चाहिये।

प्राचीन भारत में विवाह के संबंध में ये नियम थे। इसमें संदेह नहीं कि ये नियम अत्यंत व्यापक थे। सपिण्ड-संबंधों के विषय में जो नियम था उसका पालन विशेष रूप से बड़ी पाबंदी से किया जाता होगा क्योंकि यह नियम अगम्यागमन के भय को रोकने की प्रेरणा से बनाया गया था। दूसरे नियमों, अर्थात् गोत्र तथा प्रवर संबंधी नियमों को, केवल पुरोहित वर्ग में

ही निर्विवाद मान्यता प्राप्त थी, कम से कम प्राचीनतम काल में तो ऐसा ही था। जहाँ तक जाति (बिरादरी) संबंधी नियम का प्रश्न है, यद्यपि इसका पालन साधारणतया किया जाता था क्योंकि इसका संबंध सामाजिक प्रतिष्ठा और कुलीनता से था, फिर भी इसके उल्लंघन के उदाहरण भी काफ़ी रहे होंगे। मिश्रित जातियों के संबंध में जो अत्यंत चतुराई का सिद्धांत बनाया गया है, जिसकी प्रशंसा करते हमारे विधिकर्ता कभी नहीं थकते, वह इन्हीं परिस्थितियों की दिशा में संकेत करता है। हमारे विधिकर्ताओं ने बार-बार कहा है कि जातियों के सम्मिश्रण को रोकना राजा का कर्तव्य है, इस प्रकार वे विवाह-संबंधी प्रश्नों में जाति-पाँत के नियम का पालन करवाने के लिए राज्य द्वारा हस्तक्षेप कराना चाहते हैं। जैसे-जैसे वर्ण-व्यवस्था ज़्यादा सख़्ती से लागू होने लगी वैसे ही वैसे विवाह में जाति (बिरादरी) संबंधी नियम को भी मान्यता प्राप्त होती गयी होगी और समय की गति के साथ केवल एक ही जातिसमूह के लोगों के बीच विवाह होने का नियम-सा बन गया। परंतु विवाह में वात्स्यायन के कथनानुसार सबसे अधिक महत्व इसी बात को प्राप्त था कि "सुखी पति वही होगा जो उस स्त्री से विवाह करे जिस पर उसका हृदय और आँखें मुग्ध हो गयी हों।"

विवाह-संस्कार बड़ी धूमधाम से और विधि-नियम के अनुसार होता था। वर जब वधू के घर पहुँचता था तब यह संस्कार आरंभ होता था, वहाँ 'कन्यादान' की रीति पूरी की जाती थी। कन्यादान वधू का पिता देता था; उसके लिए सबसे पहले वह देवता को जल चढ़ाता था और अंत में वर को अपनी जीवन-संगिनी के प्रति धर्म, अर्थ तथा काम के नियमों का पालन करने का परामर्श देता था। वह इस परामर्श की स्वीकृति की घोषणा करता था और इसके बाद पाणिग्रहण संस्कार आरंभ होता था जिसमें वर और वधू एक दूसरे का हाथ पकड़कर बैठते थे और वैदिक मंत्रों का पाठ होता था। इसके बाद अग्नि-परिणयन होता था जिसमें वर वधू को साथ लेकर तीन बार अग्नि की परिक्रमा करता था। प्रत्येक परिक्रमा पूरी कर लेने के बाद वधू अपने वर की सहायता से पत्थर की एक शिला पर चढ़ जाती थी और उस समय वर कहता था : "इस पत्थर की शिला पर चढ़ जाओ। इसी पत्थर की तरह दृढ़ रहना, शत्रुओं को परास्त करना और जिस प्रकार तुम इस पत्थर को अपने पैरों तले रौंद रही हो उसी प्रकार अपने शत्रुओं को भी रौंदना।" इसके बाद लाजा-होम का संस्कार होता था जिसमें वधू हवन-कुंड में खीलें आदि डालती थी। इसके बाद सप्तपदी की रस्म होती थी जो अत्यंत रोचक तथा मर्मपूर्ण रस्म है। वर और वधू दोनों एक साथ मंत्र पढ़ते हुए चलते हैं और जीवन भर इसी प्रकार साथ चलने का उनका संकल्प वर के मुख से इन शब्दों में व्यक्त किया जाता है : "सात पग एक साथ चल लेनेपर तुम मेरी जीवन संगिनी बन जाओगी। तुम सदा इसी प्रकार मेरे साथ चलना।" इसके बाद विवाह संस्कार संपन्न हो जाता था और वधू अपने नये घर चली जाती थी। विवाह-वेदी की अग्नि भी उनके साथ जाती थी और गृहप्रवेश संस्कार संपन्न हो जाने पर विवाहित जीवन आरंभ होता था।

यह संस्कार एक अटूट संबंध का द्योतक होता था। परंतु प्राचीन भारत में विवाह के अन्य कई रूप ऐसे भी थे जिनमें इतने लम्बे-चौड़े संस्कारों की आवश्यकता नहीं होती थी। विवाह

आठ प्रकार के बताये गये हैं, अर्थात् ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गांधर्व, राक्षस और पैशाच। पहले प्रकार के विवाह में वधू का विवाह एक विद्वान के साथ होता है; दूसरे में वधू संस्कार के दौरान में संस्कार सम्पन्न करानेवाले पुरोहित को दे दी जाती है; तीसरे में वधू के पिता को वर एक गाय और बैल देता है; चौथे में वधू का पिता यह आशीर्वाद देता है कि नवदम्पती अपने धर्म का पालन करने में सफल हों; पाँचवें में वधू के पिता को वर कुछ धन देता है; छठे प्रकार का विवाह प्रेम का बंधन होता है और इसमें वर तथा वधू की सहमति को ही सबसे अधिक महत्व होता है—इस प्रकार के विवाह का उदाहरण दुष्यंत और शकुन्तला की प्रख्यात कहानी में मिलता है; सातवें प्रकार के विवाह में वर वधू को ज़बर्दस्ती पकड़ ले जाता है और आठवें प्रकार के विवाह में वर वधू को बहला-फुसलाकर विवाह करने पर राज़ी कर लेता हैं। इसमें से आसुर तथा पैशाच विवाहों को सबसे आपत्तिजनक माना गया है। राक्षस, पैशाच तथा गांधर्व विधि के अनुसार विवाह क्षत्रियों के लिए उचित बताये गये हैं; आसुर विधि के अनुसार केवल वैश्यों तथा शूद्रों को विवाह करने की अनुमति है और ब्राह्म विवाह आरंभ में केवल ब्राह्मणों में प्रचलित था।

हम ऊपर देख चुके हैं कि विवाह जिस ढंग से सम्पन्न किया जाता है उससे उसका स्वरूप सांस्कारिक हो जाता है। विवाह को एक मुख्य संस्कार माना जाता है जिसके द्वारा वर तथा वधू जीवन के दायित्वों तथा आदर्शों को मिलकर पूरा करने के लिए एक ही सूत्र में बँध जाते हैं। कुछ परिस्थितियों में विवाह-विच्छेद भी अनुज्ञेय है; परंतु स्मृतियों में इसे अवांछनीय माना गया है और इसका क्षेत्र केवल कुछ ही कारणों तक सीमित रखा गया है जैसे बहुत समय तक साथ न रहना, शारीरिक अक्षमता और वर अथवा वधू में मानसिक विकार संस्कार से पहले वधू को देवधन माना जाता है और देवता की ही ओर से वधू का पिता वर को दे देता है। संस्कार के समय देवताओं का आह्वान किया जाता है और विवाह होते समय होम (अग्नि) को विवाह-संस्कार में देवताओं का साक्षी माना जाता है। इन सब बातों से स्पष्ट पता चलता है कि विवाह को केवल एक संविदा ही नहीं समझा जाता था बल्कि वह मूलतः सांस्कारिक होता था।

इस संस्कार के पूरे दौरान में वधू को वर का बराबर का साझीदार माना जाता है। दोनों ही प्रतिज्ञा करते हैं कि वे जीवन-यात्रा साथ-साथ पूरी करेंगे और वे एक दूसरे के प्रति अविभाज्य लगन, भक्ति तथा सहयोग का व्यवहार करेंगे। इस प्रकार का संस्कार उसी समय सार्थक हो सकता है जब यह मान लिया जाये कि दोनों पक्ष प्रौढ़ हैं और संस्कार के समय उच्चारित मंत्रों के आशय को पूरी तरह समझते हैं। इसलिए यह संस्कार उसी दशा में तर्कसंगत है जब यह मान लिया जाये कि वधू विवाह के समय अबोध बालिका नहीं है। वास्तव में प्राचीन भारत में बहुत समय तक बाल-विवाह एक अपवाद मात्र था। ऋग्वेद में इसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता और बौद्ध ग्रंथों में बहुधा वधु को विवाह के समय 'वयप्पत्ता'—'वय को प्राप्त'—कहा गया है। स्मृतियों में बारह-बारह और आठ-आठ वर्ष की बालिकाओं के विवाह का उल्लेख मिलता है, परंतु टीकाकार इस बात पर ज़ोर देते हैं कि इन आदेशों का पालन अक्षरशः नहीं किया

जाता था। जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे विवाह के लिए वधू की अवस्था की अनुज्ञेय सीमा भी कम होती गयी और संभव है कि प्राचीन भारत के अंतिम दिनों में बाल-विवाह की प्रथा ने बहुत व्यापक रूप धारण कर लिया हो।

प्राचीन भारतीय समाज में स्त्रियों का क्या पद था? प्राचीन भारतीय समाज मुख्यतः पितृ-सत्तात्मक समाज था जिसमें पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन में पुरुष का प्रभुत्व स्वाभाविक ही था। घर में और घर के बाहर भी स्त्रियों का सम्मान होता था। स्त्रियों को सभी धार्मिक कल्पों में भाग लेने का पूरा अधिकार प्राप्त था और ऋग्वैदिक काल में अर्धांगिणी के रूप में वे पुरुष के साथ सभी मुख्य समारोहों में भाग लेती थीं। वैदिक साहित्य में ऐसी ऋषिकाओं तथा ब्रह्मवादिनियों का उल्लेख मिलता है जिन्होंने ब्रह्मचर्य द्वारा विद्योपार्जन किया था। बौद्धिक क्षेत्र के द्वार उनके लिए बंद नहीं थे; इस बात का प्रमाण गार्गी तथा मैत्रेयी जैसी विदुषियों के कार्यकलापों में मिलता है जिनके शास्त्रार्थों का विवरण उपनिषदों में सुरक्षित है। सूत्रों के काल में भी, जब स्त्री को बौद्धिक रूप से पुरुष से नम्रतर कोटि का बताया जाता था, यह परम्परा चलती रही, यद्यपि उसका वेग बहुत कुछ कम हो गया था। प्राचीन ग्रंथों में स्त्री का सम्मान स्त्री के रूप में उतना नहीं किया गया है जितना कि एक आदर्श पत्नी के रूप में, परंतु कभी-कभी स्त्री को अपने पति से दार्शनिक विषयों पर शास्त्रार्थ करने का सौभाग्य भी प्रदान किया जाता था, जैसे कि एक बार द्रौपदी ने समाज के विभिन्न वर्णों के कर्तव्यों के विषय में युधिष्ठिर से वार्तालाप किया था। प्राचीन ग्रंथों के मत को भीष्म ने सारांश में इस प्रकार व्यक्त किया है कि स्त्रियों में प्रलोभनों से बचने की क्षमता नहीं होती और इसलिए उन्हें निरंतर पुरुष के संरक्षण की आवश्यकता रहती है। स्त्री के चरित्र में एक स्वाभाविक दुर्बलता होती है, परंतु इसके साथ ही यह भी कहा गया है कि उनका सदैव सम्मान किया जाना चाहिये और उनके साथ शिष्टता का व्यवहार किया जाना चाहिये। स्मृतियों में तो इससे भी एक क़दम आगे बढ़कर यह बात ज़ोर देकर कही गयी है कि स्त्री की बाल्यावस्था में उसके माता-पिता उसकी देखभाल करते हैं, युवावस्था में पति उसकी रक्षा करता है और वैधव्यकाल में उसके पुत्र उसके भरण-पोषण का प्रबंध करते हैं इसलिए वह स्वतंत्रता पाने योग्य नहीं है। विधवा-पुनर्विवाह की प्रथा वैदिक काल में काफ़ी प्रचलित थी परंतु अब इसे उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है; गृह्य सूत्रों में तो, जो सूत्रों के काल की रचना हैं, विधवा को वैदिक मंत्रों का ज्ञान प्राप्त करने के विरुद्ध कड़ी चेतावनी दी गयी है। विधि-पुस्तकों में कहा गया है कि जहाँ स्त्रियों का सम्मान किया जाता है वहाँ देवता प्रसन्न रहते हैं, इस कथन में उदात्त भावनाओं की अभिव्यक्ति मिलती है परंतु स्त्रियों की स्वाधीनता और उनके संपत्ति-संबंधी अधिकारों पर अनेक प्रतिबंधों के कारण इसकी सार्थकता काफ़ी दूषित हो गयी है। पत्नी के रूप में स्त्री अपने पति के अधीन होती थी और उसे परामर्श दिया जाता था कि वह कोई ऐसा काम न करे जिससे उसका पति असंतुष्ट हो। वास्तव में पतिव्रता गृहिणी को सदैव सराहा गया है; सीताजी इसका सबसे ज्वलंत उदाहरण है। यदि दुर्भाग्यवश कोई स्त्री विधवा हो जाती थी तो उससे आशा की जाती थी कि वह अत्यंत साधारण और धर्मनिष्ठ जीवन व्यतीत करे। यदि

कोई पुत्र होने से पहले पति की मृत्यु हो जाये तो स्त्री उसकी संपत्ति की उत्तराधिकारी होती थी, परंतु इस पर भी अनेक प्रतिबंध थे। संपत्ति के संबंध में स्त्रियों को जो एक और अधिकार प्राप्त था वह था स्त्री-धन का अधिकार। स्त्री-धन तीन प्रकार का होता था: वर से विवाह के समय मिले उपहार; अपने पति या पुत्रों से प्राप्त उपहार; तथा वह धन जो पति दूसरी पत्नी से विवाह करते समय अपनी पहली पत्नी को उसके अधिकार से वंचित करने के बदले में देता था।

इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि प्राचीन भारत में विभिन्न कालों के दौरान में स्त्रियों का पद निरंतर गिरता गया। ऋग्वैदिक काल में उन्हें जो आदर तथा सम्मान प्राप्त था वह स्मृतियों के काल तक पहुँचते केवल एक स्मृति, सुदूर अतीत की एक प्रतिध्वनि मात्र रहा गया। उनके पद में इस अवनति का कारण क्या था? बहुविवाह की पद्धति, जो उस समय में काफ़ी प्रचलित प्रतीत होती है, कदाचित इसका एक कारण था। अशोक की दो रानियाँ थीं; चंद्रगुप्त द्वितीय के भी कम से कम दो रानियाँ थीं। इसलिए एक विवाह आदर्श भले ही रहा हो पर कम से कम समाज के उच्चतर वर्गों में बहुविवाह का ही प्रचलन था। जिस घर में एक ही पति की कई पत्नियाँ हो उसमें स्त्री को निम्नतर पद ही प्राप्त होता है। स्त्रियों को दासी बनाने के कारण भी आम तौर पर स्त्रियों की स्थिति पर बुरा प्रभाव पड़ा होगा। अनार्यों के विरुद्ध युद्ध में आर्यों ने अनेक दासियाँ बनायी होंगी और ये उनकी अस्थावर संपत्ति बन गयी होंगी। धर्म के क्षेत्र में बढ़ती हुई कट्टरपंथी भावना और इसके साथ जटिल कल्पों के विकास के कारण धर्म और कल्प का जीवन स्त्रियों के लिए कठिन हो गया होगा और उनका स्थान केवल गृहस्थी के जीवन तक सीमित कर दिया गया। पर इतना ज़रूर है कि घर में उन्हीं का राज चलता था। इस आम रवैये के बावजूद हम देखते हैं कि कुछ स्त्रियों ने प्रतिबंध की इन सीमाओं को तोड़कर निश्चित रूप से अपनी योग्यता सिद्ध कर दी। बौद्ध तथा जैन भिक्षुणियाँ बौद्धिक क्षेत्र में अत्यंत श्रेयस्कर ढंग से भिक्षुओं से टक्कर लेती थीं; हमारे सामने अशोक की पुत्री संघमित्रा का उदाहरण है जो बौद्ध धर्मप्रचारक बनकर श्रीलंका गयी और उस द्वीप में उसने बौद्ध भिक्षुणियों के एक संघ की स्थापना की। फिर हमारे सामने चंद्रगुप्त द्वितीय की की पुत्री प्रभावती गुप्त का उदाहरण है जिसने अपने पुत्रों की अवयस्कता के दिनों में शास्ता के रूप में राज्य-भार सँभाला था। हर्ष की बहन राज्यश्री प्राचीन भारत की एक और गौरवशाली स्त्री थी। उसके समय में जो दार्शनिक शास्त्रार्थ होते थे उनके प्रति उसने भी उतनी ही अभिरुचि दिखायी जितनी कि उसके सम्राट् भाई को थी। ये नाम तो हमारी परम्परा का अंग बन चुके हैं, परंतु इनके अतिरिक्त और भी बहुत-सी औरतें होंगी जिनका इतिहास में कोई उल्लेख नहीं किया गया है। इसलिए यह निष्कर्ष निकाल लेना अतिशयोक्ति होगी कि प्राचीन भारत में सभी स्त्रियों के जीवन में घुटन और अंधकार के अतिरिक्त और कुछ था ही नहीं। यदि हम प्राचीन भारत की स्त्रियों की तुलना उसी काल में दूसरे देशों की स्त्रियों से करें तो हम बहुत अंतर नहीं देखेंगे।

स्त्री को सबसे अधिक महत्व माता के रूप में दिया जाता था। माता के रूप में वह असीम श्रद्धा तथा आदर की पात्र थी और उसकी आज्ञा का पूर्णतः पालन करना हर मनुष्य का

कर्तव्य माना जाता था। पुत्री के रूप में उसका बहुत लाड़-प्यार होता था पर माता के रूप में सम्मान किया जाता था : उसे समस्त मानवता और देवत्व का प्रतीक माना जाता था। वह पिता से भी अधिक सम्मान की पात्र समझी जाती थी। पुत्र के लिए अपनी माता की उपेक्षा या तिरस्कार करने से बढ़कर कोई दूसरा पाप हो ही नहीं सकता था।

परिवार में माता-पिता के प्रति स्नेह और आज्ञापालन तथा अनुशासन का वातावरण रहता था। चूँकि प्राचीन भारत में परिवार संयुक्त और पितृसत्तात्मक होते थे इसलिए उसके सदस्यों की संख्या भी बहुत अधिक होती थी क्योंकि पितृबंधुओं की प्रायः तीन पीढ़ियां एक ही परिवार में रहती थीं। एक साथ रहने, खाने और उपासना करने के कारण परिवार में रक्त-संबंध के बंधन बहुत दृढ़ हो जाते थे; परिवार पर कुलपति का शासन होता था और उसके आदेश का पालन अनिवार्य था। वह सारी संपत्ति का मालिक होता था और उसकी अधिकारसत्ता को प्राचीनतम परम्पराओं का समर्थन प्राप्त था और वह सामाजिक आचरण के नियमों द्वारा सुस्थापित थी। एक ओर जहाँ दूसरे उसकी आज्ञा का पालन करने को बाध्य थे तो दूसरी ओर परिवार के विभिन्न सदस्यों के प्रति उसे भी अनेक दायित्व पूरे करना पड़ते थे। प्राचीन भारतवासी का जीवन अधिकारों और दायित्वों के इसी जाल में बँधा हुआ था।

प्राचीन भारत में लोग बच्चों से बहुत प्रेम करते थे और उनका हर प्रकार से ध्यान रखा जाता था। उनके लिए अनेक संस्कार विहित थे जिन्हें संपन्न करना पूरे परिवार के लिए अनिवार्य था। इनमें से जातकर्म, नामधेय, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म तथा उपनयनसंस्कार शैशवकाल तथा बाल्यावस्था में संपन्न होते थे। जातकर्म संस्कार जन्म के शीघ्र ही बाद होता था, इसमें पिता बड़े प्यार से शिशु के मस्तक को छूता और सूंघता था और देवताओं से आशीर्वाद माँगता था। नामध्येय संस्कार में बच्चे का नाम रखा जाता था, यह संस्कार जन्म से दस-बारह दिन बाद होता था। बच्चे का नाम ऐसा रखा जाता था जो शुभसूचक और समृद्धि का परिचायक हो; विष्णु या नारायण या गणेश आदि देवताओं के नाम सबसे अधिक लोकप्रिय थे। निष्क्रमण संस्कार उस समय होता था जब बच्चा चार महीने का हो जाता था; उस समय सूर्य देवता का आशीर्वाद माँगा जाता था और बच्चे को पहली बार बाहर लाया जाता था। जब मंदिरों का प्रचलन हो गया तो स्वाभाविक ही था कि बच्चे को बाह्य जगत से परिचित कराने के लिए सबसे पहले मंदिर में ले जाया जाये। छठे महीने में अन्नप्राशन संस्कार के समय बच्चे को पहली बार पका हुआ भोजना दिया जाता था। यदि संतान पुत्र होती थी तो एक वर्ष का (या तीन वर्ष का) होने पर चूड़ाकर्म संस्कार अर्थात् मुंडन होता था। उपनयन मूलतः एक शिक्षा-संबंधी संस्कार था, जो बारह वर्ष की अवस्था से कुछ पहले कर दिया जाता था; इस संस्कार में बच्चे को यज्ञोपवीत पहनाया जाता था और उसे ब्रह्मचारी का जीवन बिताने के लिए गुरु के घर भेज दिया जाता था। ब्रह्मचर्य की अवस्था पूरी होने पर समावर्तन संस्कार होता था, अर्थात् बालक के घर लौटने का समारोह मनाया जाता था और उसका गृहस्थ जीवन आरंभ होता था।

इन सभी संस्कारों के समय देवताओं के प्रति श्रद्धा प्रकट करने के लिए यज्ञ होते थे; इन यज्ञों का उद्देश्य मानव-शरीर को पवित्रता प्रदान करना होता था। अंतिम संस्कार अंत्येष्टि

संस्कार होता था; यह दाह संस्कार इस बात का द्योतक होता था कि मानव-जीवन समाप्त हुआ और मनुष्य की आत्मा परलोक में अपने पूर्वजों के पास चली गयी। शव के अंतिम संस्कार की उस समय अनेक विधियाँ प्रचलित थीं पर सबसे अधिक प्रचलन शव को जलाने का था। ऐसा प्रतीत होता है कि सबसे आरंभ में शव को पूर्णतः या आंशिक रूप से दफ़न कर दिया जाता था। बाद में जब अग्नि की पूजा होने लगी और अग्नि को इस लोक और देवलोक के बीच संवादवाहक समझा जाने लगा, उसी समय से शव को जलाया भी जाने लगा होगा ताकि आत्मा सीधे स्वर्ग में पहुँच जाये।

परंतु परलोक की चिंता में प्राचीन भारतवासी अपने इस लौकिक अस्तित्व के सुखों को भूल नहीं जाते थे। त्योहारों के अनेक मौसम होते थे और इन अवसरों पर लोग जी भरकर आनंद मनाते थे। इन अवसरों पर मेले होते थे जिनमें कठपुतली का नाच, कुश्ती के दंगल, जादू और बाजीगरी के तमाशों से नागरिकों का मनोरंजन किया जाता था। जुआ खेलने का भी काफ़ी रिवाज था और ऋग्वेद से लेकर अंतिम स्मृति तक हर युग में पाँसे के खेल की कठोर निंदा की गयी है, क्योंकि जिसे इसकी लत पड़ जाती है वह तबाह हो जाता है। महाभारत में हमें कौरवों और पांडवों के बीच जुए के प्रख्यात खेल का उल्लेख मिलता है जिसमें पांडव अपना सब कुछ खो बैठे थे। कौटिल्य ने एक अधीक्षक द्वारा जुए के खेल पर राज्य की ओर से नियंत्रण रखने का परामर्श दिया है; कौटिल्य के कथनानुसार यह अधीक्षक "ईमानदार होगा और वह एक काकाणी लेकर दो पाँसे किराये पर दे दिया करेगा। हाथ की सफ़ाई से इस प्रकार दिये गये पाँसों के बदले दूसरे पाँसों का प्रयोग करनेवाले को केवल यही नहीं कि चोरों और धोखेबाज़ों की सजा दी जायेगी और उन पर जुर्माना किया जायेगा बल्कि जुए में जिसने जो कुछ जीता होगा वह सब जब्त कर लिया जायेगा।" अधीक्षक जुए में जीतनेवाले हर व्यक्ति से उसकी जीत का पाँच प्रतिशत ले लेता था और इसके अतिरिक्त जुएखाने में बैठने की जगह और पानी आदि के प्रबंध के लिए वह अलग पैसे लेता था; जुएखाने के अनुमतिपत्र के लिए राज्य को शुल्क देना पड़ता था। इस सबसे राज्य की बहुत आय होती होगी और इससे कौटिल्य की बुद्धिमत्ता का पता चलता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में मदिरापान का काफ़ी प्रचलन था। तीन प्रकार की मदिराएँ होती थीं; एक शीरे से बनती थी, एक चावल के चूरे से और एक मधुर के फूल से। ह्युएन सांग ने गन्ने और अंगूर की शराबों का भी उल्लेख किया है। स्मृतियों में मदिरा-सेवन ब्राह्मणों के लिए वर्जित ठहराया गया है और दूसरी जातियों के लिए भी इस आदत के प्रति बड़ी अरुचि प्रकट की गयी है। कौटिल्य ने मदिरा पर सरकारी नियंत्रण का परामर्श दिया है और यह सुझाव रखा है कि "ऐसे लोग जो मदिरा बनाने और किण्वों (खमीर) की जानकारी रखते हों" मदिरा के अधीक्षक नियुक्त किये जायें। इन अधीक्षकों का यह उत्तरदायित्व होता था कि वे केवल किलों और देहातों में ही नहीं बल्कि सेना के पड़ावों पर भी मदिरा पहुँचाने की उचित व्यवस्था रखें। मदिरा की माँग और उपलब्ध मात्रा के अनुसार इसके वितरण का केंद्रीकरण या विकेंद्रीकरण कर दिया जाता था। मदिरा गाँव से

बाहर ले जाने की इजाज़त नहीं थी और शराबखाने एक दूसरे से बहुत निकट बनाना भी मना था। राज्य की ओर से मूल्य निश्चित कर दिया जाता था तथा बुरी सड़ी हुई शराब देना निषिद्ध था। कौटिल्य का सुझाव था : "मदिरालय में अनेक कक्ष हों जिनमें पलंग और अलग-अलग बैठने के आसन हों। मदिरापान के कक्ष में सुगंध, पुष्प-मालाओं, जल तथा अलग-अलग ऋतुओं के अनुसार अन्य सुविधाजनक वस्तुओं का प्रबंध हो।"

परम्परागत त्योहारों के अतिरिक्त लोग अन्य अवसरों पर भी उत्सव मनाते थे। वात्स्यायन के अनुसार इस प्रकार के पांच उत्सव होते थे : समाज, गोष्ठि, आपानक, उद्यानक और समस्या-क्रीड़ा। पहला उत्सव देवताओं के सम्मान में होता था, दूसरा एक सामाजिक समारोह होता था, तीसरा मदिरापान का उत्सव होता था. चौथा उद्यान-भोज अथवा पिकनिक के ढंग का उत्सव होता था और पाँचवा एक ऐसा मनोरंजन था जिसमें बहुत से लोग भाग लेते थे। मित्रों अथवा दरबारियों के साथ मनोरंजक वार्तालाप, वन्य सौंदर्य के दृश्यों के बीच गंभीर शास्त्रार्थ और वादविवाद, मदिरापान तथा स्वादिष्ट भोजन इन उत्सवों के कार्यक्रम के मुख्य विषय होते थे।

इन अवसरों पर लोग बहुत सज-धजकर और बड़े उत्साह से निकलते थे। प्राचीन भारत-वासी अपने पहनावे की ओर भी उतना ध्यान देते थे जितना अपने भोजन की ओर। नगर के रसप्रेमी लोग मनोरंजन के केंद्रों की सैर को निकलने से पहले बनाव-सिंगार में काफ़ी समय व्यतीत करते थे। वात्स्यायन ने कहा है कि हर नागरिक को अपने परिधान का चुनाव बहुत विवेक के साथ करना चाहिये और उन्होंने नागरिक के शृंगार का विस्तृत विवरण दिया है। प्रातःकाल उठकर रसप्रेमी नागरिक अपने शृंगार में व्यस्त हो जाता था। पहले वह चंदन के सुगंधित अनुलेपन का प्रयोग करता था। फिर उसके वस्त्रों में सुवासित धूप की सुगंध बसायी जाती थी। इसके बाद वह अपने सिर पर या गले में पुष्प मालाएँ पहनता था। वह अपनी आँखों में सुरमा और होंठों पर अलक्तक लगाकर, दर्पण में अपने रूप को निहारता था और मुख को सुगंधित करने के लिए मसालेदार पान खाता था। यह सब कुछ पूरा होने पर ही वह बाहर निकलने को तैयार होता था।

इसी प्रकार प्राचीन भारत के परिधानों और आभूषणों से भी देशवासियों की समृद्धि तथा सुरुचि का पता चलता है। उनके परिधानों के लिए कपास, ऊन और रेशम का बना हुआ कपड़ा इस्तेमाल किया जाता था। सिलाई की कला का प्रचलन होने से पहले (जिसका प्रचलन, ऐसा प्रतीत होता है, शकों और कुषाणों के आगमन के बाद हुआ) परिधान में कपड़े के दो टुकड़े होते थे—एक शरीर के ऊपरी भाग पर पहनने के लिए और एक निचले भाग पर। ऊपरी भाग का परिधान जिसे उत्तरीय कहते थे कंधे के ऊपर डाल लिया जाता था और निचले भाग का परिधान जिसे अंतरीय कहते थे शरीर के निचले भाग पर पहना जाता था और कमर पर करधन से बाँध लिया जाता था। चुस्त पैजामे, शलूके और कसी हुई टोपियाँ पहनने का प्रचलन गुप्तकाल से कुछ ही पहले हुआ। जूतों या पादुकाओं तथा एक छड़ी से यह वेष-भूषा पूर्ण हो जाती थी।

यदि हम उस काल की प्राप्य मूर्तियों और चित्रों के आधार पर देखें तो हमें आभूषणों के संबंध में अत्यंत व्यापक वैविध्य दिखायी देता है। स्त्रियाँ बालों के किनारे-किनारे मोतियों की लड़े बाँधती थीं और बाल सँवारकार चोटी गूंध लेती थीं जिस पर सजावट के लिए वे सोने के फूल लगाती थीं। बालों के किनारे-किनारे लड़ियों के सहारे माथे पर एक टीका लटकता रहता था। कर्णफूल, हार, बाजूबंद, चूड़ियां, करधन, कड़े और रत्नजटित सोने तथा चांदी की अँगूठियाँ आदि अन्य आभूपण थे जिनका बहुत प्रचलन था। बरहुत और साँची तथा बीसियों अन्य स्थानों की मूर्तिकला में तथा अजंता के भित्ति-चित्रों में प्राचीन भारत की शृंगार-कला की एक पूरी प्रदर्शनी देखने को मिलती है। वास्तव में यह विषय इतना विशाल है कि इसके ऊपर अलग एक ग्रंथ लिखा-जा सकता है।

पिछले पृष्ठों में हम प्राचीन भारत के सामाजिक संगटन तथा जीवन के विभिन्न रूपों की चर्चा कर आये हैं। उस समय सामाजिक जीवन में शांति और समृद्धि का बोलबाला था, शांति राजनीतिक क्षेत्र में उतनी नहीं थी जितनी कि सामाजिक क्षेत्र में। समाज के विभिन्न समुदायों के बीच, जो या तो असंगठित थे या न्यूनाधिक रूप में संगठित भी हो गये थे, बार-बार झगड़े उठ खड़े होते थे और इन झगड़ों को मिटाना आवश्यक था। वर्ण-व्यवस्था की स्थापना इन झगड़ों को दूर करने का ही एक प्रयत्न था। बाद में चलकर वर्ण-व्यवस्था ने जो रूप धारण कर लिया उसने भारतीय समाज के टुकड़े-टुकड़े कर दिये और एक सुसंगठित समाज के निर्माण में बाधा डाली। उसने समाज की गतिशीलता को अवरुद्ध कर दिया और प्राविधिक कौशल को अलग-अलग स्तरों में विभाजित कर देने की प्रवृत्ति पैदा कर दी; और तत्जन्य अस्पृश्यता ने भारतीय समाज के एक बहुत बड़े भाग का जीवन ऐसा असह्य बना दिया कि वह जीते जी मौत के बराबर था, वर्ण-व्यवस्था के दोषों पर विस्तारपूर्वक विचार करने की आवश्यकता नहीं है; इतिहास का हर विद्यार्थी उनसे भलीभाँति परिचित है। परंतु वर्ण-व्यवस्था का विकास धीरे-धीरे हुआ और अपना अंतिम रूढिबद्ध रूप उसने प्राचीन भारत के अंतिम काल में ही धारण किया। अस्पृश्यता के जिस रूप से हम आज परिचित हैं उसके अस्तित्व का ऐतिहासिक प्रमाण ह्युएन सांग के वृत्तांतों में मिलता है, जिसने लिखा है कि चांडालों को दूसरे राहगीरों को अपने आगमन की सूचना देना पड़ती थी ताकि वे उनके स्पर्श से अपवित्र न हो जायें। स्मृतियों में भी कुछ ऐसे वर्गों का उल्लेख है जिन्हें अपवित्र समझा जाता था और उन्हें समारोहों में भाग नहीं लेने दिया जाता था, परंतु उस समय तक शूद्रों को आजन्म "अस्पृश्य" घोषित नहीं किया गया था। अस्पृश्यता तथा वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति हमारे इस सिंहावलोकन के विषय-क्षेत्र से बाहर है। पर यह बात ध्यान रखने योग्य है कि वर्ण-व्यवस्था की स्थापना इसीलिए हुई और उसे स्वीकार इसी कारण किया गया कि उसने एक विशेष ऐतिहासिक परिस्थिति की आवश्यकताओं को पूरा किया। उसने विभिन्न उद्यमों पर आधारित वर्गों को समाज की स्वीकृति प्रदान की और विभिन्न उद्यमों को वंशगत समूहों तक सीमित रखकर प्रतिस्पर्धा को मिटाने का प्रयत्न किया। उसने सबके अधिकार और कर्तव्य निर्धारित कर दिये और इस प्रकार संघर्ष और विद्वेष को मिटा दिया। उसने एक ऐसे समाज को

स्थायित्व प्रदान किया, जो विभिन्न जातीय तथा सांस्कृतिक तत्वों से मिलकर बना था, और विदेशी आक्रमणों के कारण जिसे अनेक धक्के लग चुके थे। परंतु एक ओर जहाँ उसने समाज को स्थायित्व प्रदान किया वहाँ इसके साथ ही समाज में गतिहीनता भी पैदा की और भारतीय राष्ट्र की भौगोलिक सीमाओं के भीतर एक संयुक्त समाज के विकास की राह में बाधक बनी।

आइये अब हम आर्थिक जीवन तथा उसके संगठन के रूपों पर विचार करें। हम देख चुके हैं कि, जैसा स्मृतियों से पता चलता है, किस प्रकार वर्ण-व्यवस्था ने अलग-अलग वर्णों को अलग-अलग व्यवसाय बाँट दिये थे। इस प्रकार वैश्यों को कृषि, पशुपालन, व्यावसायिक कलाओं तथा ऋण पर धन देने के काम सौंपे गये थे। वैश्य और शूद्र ही जन-साधारण थे जो अधिकांश उत्पादनशील काम करते थे। अतीतकाल से ही कृषि सबसे मुख्य आर्थिक व्यवसाय था। ऋग्वैदिक काल में आर्य बहुधा प्रचुर वर्षा, भरपूर फ़सल, पशुओं के बड़े-बड़े समूहों, और स्वास्थ्य के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते थे। उस समय कृषि आर्यों के जीवन का मुख्य आधार थी और अधिकांश आर्य इसी से अपनी जीविका कमाते थे। परंतु बाद में कृषि के प्रति रवैया बदला और उसे एक नीच उद्यम समझा जाने लगा जो ब्राह्मणों और क्षत्रियों के योग्य नहीं था। इसका कारण यह था कि आर्यों का समाज भौगौलिक दृष्टि से भी विस्तृत होता गया और उसमें नयी-नयी जातियों के लोग भी आते गये। इस प्रक्रिया में एक ओर जहाँ अनार्यों को विकासवान भारतीय समाज के एक अंग के रूप में उसमें शामिल कर लिया गया वहाँ इसके साथ ही यह भी हुआ कि समाज में अनार्यों का पद ऊँचा हो जाने से समाज-सोपान में वैश्यों का स्थान नीचा हो गया। इस प्रसंग में यह बात आसानी से समझ में आती है कि निम्नवर्गों का मुख्य व्यवसाय पुरोहित वर्ग तथा शासक वर्ग के लिए अनुपयुक्त समझा जाता था।

प्राचीन ग्रंथों में अनेक व्यावसायिक कलाओं का उल्लेख मिलता है जिनमें से मुख्य कलाएँ इन लोगों की थीं: बुनकर, बढ़ई, लोहार, मेमार, दस्तकार, सुनार, गंधी, व्यापारी तथा महाजन। कौटिल्य ने उन व्यवसायों की अधिक भूमिका को बहुत सराहा है और उन्हें संगठित करने तथा उन पर कर लगाने की अनेक विधियाँ प्रस्तावित की हैं। कौटिल्य ने व्यवसायों को दो मुख्य श्रेणियों में बाँटा है : वे व्यवसाय जिन पर राज्य का स्वामित्व तथा नियंत्रण हो तथा निजी व्यवसाय। पहली श्रेणी में कौटिल्य ने इन व्यवसायों को रखा है: नमक, खानें (कम से कम कुछ), मदिरा आदि। कौटिल्य ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि वाणिज्य की समृद्धि राज्य की वित्तीय समृद्धि की परिचायक होती है। इसे सुनिश्चित बनाने के लिए कौटिल्य ने यह सुझाव रखा है कि वाणिज्य, चुंगी, मदिरा, कृषि, बुनकरों, जहाजों तथा पारपत्रों के लिए अधीक्षक नियुक्त किये जायें। जहाजों, तट-कर तथा चुंगी के उल्लेख से यह पता चलता है कि उस समय अंतर्देशीय तथा समुद्री व्यापार बहुत फल-फूल रहा था। मौर्य साम्राज्य के वाणिज्य-संबंध श्रीलंका और उत्तर-पश्चिम के देशों के साथ थे; बहुत पहले ही जातक-कथाओं के काल में हमें बावेरू के साथ (यह वही स्थान था जिसे बैबिलोन कहते हैं) व्यापार का

उल्लेख मिलता है। पश्चिमी समुद्रतट पर भारुकच्छ (भड़ौच) और सुप्पारक (सोपारा) सबसे समृद्धिशाली बंदरगाह थे और ताम्रलिप्ति तथा पल्लव राज्य के बंदरगाह पूर्व के देशों के साथ बहुत बड़े पैमाने पर व्यापार करते थे। देश में अनेक अच्छी-अच्छी सड़कें थीं, जिन पर होकर देश के हर भाग में अपना माल ले जानेवाले व्यापारियों के क़ाफ़िले चलते थे।

कई व्यवसाय श्रेणियों के रूप में संगठित थे। वास्तव में भारतीय इतिहास के पूरे प्राचीन काल के दौरान में श्रेणी-व्यवस्था ही आर्थिक क्षेत्र में संगठित रूप से काम करने की सबसे व्यापक व्यवस्था रही। जैसे-जैसे विभिन्न व्यवसाय अलग-अलग स्थानों में सीमित होते गये और व्यवसायों ने वंशगत स्वरूप धारण कर लिया वैसे-वैसे श्रेणियों का उदय हुआ। प्रारंभिक काल में, जब यात्रा करना संकटमय था, व्यापारियों के लिए यह आवश्यक था और बुद्धिमानी की बात भी यही थी कि वे एकत्रित होकर एक बहुत लम्बा क़ाफ़िला बनाकर पहाड़ियों, घाटियों और जंगल के रास्तों को पार करें। जातक-कथाओं में १८ अलग-अलग श्रेणियों के नाम गिनाये गये हैं जिनके प्रधान को जेट्ठक कहते थे; जेट्ठक का पद वंशगत होता था। शीघ्र ही ये श्रेणियाँ प्राचीन भारत में एक विशाल आर्थिक तथा राजनीतिक शक्ति बन गयीं। राज्य ने इनके महत्व को स्वीकार किया और उनकी शक्तियों तथा अधिकारों का समर्थन किया। श्रेणी के प्रधान को राज-दरबार में सम्मानित पद प्राप्त होता था। श्रेणी की सभा को कुछ निश्चित कार्यकारी तथा न्यायिक अधिकार होते थे जिनका प्रयोग उसकी ओर से एक कार्यकारिणी समिति करती थी, जिसमें श्रेणी का प्रधान और कुछ अन्य अधिकारी होते थे। उसे अपने सदस्यों के घरेलू झगड़ों में मध्यस्थ बनने का अधिकार था और बौद्ध वाङ्मय से हमें पता चलता है कि श्रेणी के किसी सदस्य की पत्नी को संघ में भरती करने से पहले श्रेणी की अनुमति आवश्यक थी। श्रेणी मूल्यों पर नियंत्रण रखती थी और इस बात का ध्यान रखती थी कि उसके सदस्यों द्वारा बनायी गयी वस्तुएँ उच्च कोटि की हों; जन-साधारण से धन वसूल करने का अधिकार श्रेणी को ही था; वह ब्याज पर धन उधार देती थी; श्रेणी की अपनी सम्पत्ति होती थी और वह धार्मिक तथा सांस्कृतिक कामों के लिए दान देती थी। कुछ श्रेणियों की अपनी अलग सेना भी होती थी और इस रूप में वे आर्थिक तथा सैनिक दोनों ही कृत्यों का प्रतिनिधित्व करती थीं। कौटिल्य का राजा के लिए यह परामर्श था कि वह श्रेणियों का उचित सम्मान करे क्योंकि वे सम्पदा तथा सैनिक शक्ति का स्रोत थीं। कौटिल्य का सुझाव था कि लेखे का अधीक्षक को इन श्रेणियों की बही रखने का उत्तरदायित्व सौंपा जाये जिनमें उनका इतिहास, प्रथाएँ, उद्यम तथा व्यापार संबंधी विवरण हो।

इस प्रकार ये श्रेणियाँ बहु-कार्यात्मक संगठन थीं और उन्होंने प्राचीन भारत के आर्थिक जीवन में एव अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। वे एक ही समय में "ट्रेड यूनियन" का भी काम करती थीं, मूल्य-नियंत्रक प्राधिकारी का भी, कोपाध्यक्ष का भी और महाजन का भी। उन्होंने विभिन्न उद्यमों के कौशल को सुरक्षित रखने तथा विकसित करने में बहुत योग दिया, समाज और राज्य को बहुत आर्थिक सहायता दी और अपने सदस्यों तथा समाज दोनों ही के आर्थिक कल्याण को सुनिश्चित बनाया। उनकी भूमिका को ध्यान में रखते हुए राज्य

उनके स्वायत्त अधिकारों का सम्मान करता था और उनके काम में उसी समय हस्तक्षेप करता था जब उनमें समाज का शोषण करने के उद्देश्य से कुत्सित संगठन बनाने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती थी या जब किसी एक श्रेणी में या दो श्रेणियों के बीच ऐसे झगड़े उत्पन्न हो जाते थे जिनसे उनके सुचारु तथा कुशल ढंग से काम करने के लिए ख़तरा पदा हो जाता था।

यहीं पर हम बाह्य जगत के साथ भारत के व्यापार का भी उल्लेख कर दें तो अच्छा है। राज्य की आय तथा जनता की सम्पदा का अत्यंत समृद्ध स्रोत था। ७वीं शताब्दी ईसा-पूर्व में ही हमें मध्य-पूर्व के देशों के साथ भारत के समुद्री व्यापारिक संबंधों का प्रमाण मिलता है। "बावेरु जातक" में इसका उल्लेख किया गया है। जातक-कथाओं में बंगाल की खाड़ी तथा हिंद महासागर में भारतीय नाविकों की संकटमय यात्राओं का वर्णन किया गया है। ४५ ई. के लगभग जब हिंद महासागर में नियमित रूप से चलने वाली मानसून हवाओं का पता चला तो रोमन साम्राज्य के साथ भारत के व्यापार के स्वरूप तथा परिमाण दोनों ही में एक क्रांतिकारी परिवर्तन आ गया। अरबों को रोमवासियों की अपेक्षा बहुत पहले ही से इन हवाओं का ज्ञान था। इन हवाओं का ज्ञान हो जाने से असकंदरिया का बंदरगाह इस दृष्टि से भारत के बहुत निकट आ गया कि अब इस यात्रा में बहुत कम समय लगने लगा; असकंदरिया और भारतीय बंदरगाहों के बीच जिस यात्रा में पहले लगभग तीस माह लगते थे अब केवल दो माह में पूरी की जा सकती थी। "पेरिप्लस आफ़ दि एरिथ्रियन सी" नामक एक पुस्तिका में, जिसके लेखक का पता नहीं चलता और जो कदाचित असकंदरिया में प्रकाशित हुई थी, प्रथम शताब्दी ईसवी में अरब सागर के इलाक़े में यात्रा और व्यापार की परिस्थितियों पर रोचक ढग से बहुत अधिक प्रकाश डाला गया है। इस पुस्तिका में इन भारतीय बंदरगाहों का उल्लेख मुख्य रूप से किया गया है: सिंधु नदी के मुहाने के मध्य में बरबरिकोन (बहारदीपुर?), सिंध की राजधानी मिन्नगर, बम्बई के निकट बरिगाज़ा (भड़ौच), तगरा, सोपारा, पैथन और कल्याण, तथा बनकोट, दाबुल, जैगढ़, विजयदुर्ग, मलवन, वेंगुरला, गोआ तथा कारवार। इनसे और दक्षिण की ओर समुद्रतट पर क्रांगानोर और नेलकिंड (नीलकंठ?) के बंदरगाह थे जहाँ से बहुत बड़े पैमाने पर गरम मसालों का व्यापार होता था। पूर्वी तट पर महाबलीपुरम तथा ताम्रलिप्ती नामक विशाल केंद्र थे जो अपना माल दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशों को भेजते थे और इन केंद्रों से लोग भी निष्क्रमण करके इन देशों को जाते थे। इन बंदरगाहों के निर्यात तथा आयात की सूची देखकर हम बहुत प्रभावित होते हैं, जिसमें शृंगार के प्रसाधन, बहुमूल्य रत्न, रेशम (जो चीन से मँगाकर पुनः निर्यात किया जाता था), नील, मलमल तथा गरम मसाले शामिल थे। आयात की वस्तुओं में सिक्कों, शृंगार के प्रसाधनों और सुख-भोग की वस्तुओं को प्रमुख स्थान प्राप्त था। विचित्र बात यह है कि आयात की वस्तुओं में "गानेवाले लड़कों" और "सम्राट् के खवास के लिए चुनी हुई लड़कियों" का भी उल्लेख मिलता है; ये लड़कियाँ निस्संदेह वह यवनियाँ होती थीं जिनको उस समय सम्राट् के अंगरक्षकों में प्रमुख स्थान था। इस काल में भारत ने पोतनिर्माण में काफ़ी उन्नति कर ली थी और भारत के बने हुए जहाज हिंद महासागर के विशाल जल-विस्तार पर चलते थे।

स्थल मार्गों में प्रख्यात 'रेशम मार्ग' का जो मध्य-एशिया से होकर गुज़रता था, और उत्तर-पश्चिम में तक्षशिला को बिहार में पाटलिपुत्र से जोड़नेवाले प्रशस्त तथा लम्बे भारतीय राजपथ का उल्लेख किया जाना चाहिये। पाटलिपुत्र से दक्षिण, पश्चिम तथा पूर्व की ओर अनेक मार्ग जाते थे। देश के भीतर व्यापार के मुख्य केंद्र ये थे: पश्चिमी तट पर विदिशा (वर्तमान भीलसा); उज्जैन, सूरत और भड़ौच; हैदराबाद राज्य में पैथन, दक्षिण में महाबलिपुरम और काञ्ची और पंजाब में सियालकोट। दूर-दूर से व्यापारी अपने साथ बहुमूल्य बिकाऊ माल लेकर इन केंद्रों में आकर एकत्रित होते थे। भारत का अतर्देशीय तथा वैदेशिक व्यापार अनेक भारवाहकों, व्यापारियों, फुटकर माल वेचनेवालों और महाजनों को जीविकोपार्जन के अत्यंत लाभदायक अवसर प्रदान करता था और उस काल की राष्ट्रीय संपदा का बहुत बड़ा भाग उन्हीं के प्रयासों का योगदान होता था।

ऊपर हम व्यापारियों तथा महाजनों की श्रेणियों का उल्लेख कर आये हैं: इस प्रसंग में हमारे सामने विनिमय के माध्यम का प्रश्न आता है। सामान्यतया यह माना जाता है कि वैदिक अर्थतंत्र वस्तु-विनिमय पर आधारित अर्थतंत्र था: जातक काल में पहुँचकर मुद्रा पर आधारित अर्थतंत्र तक यह संक्रमण पूरा हुआ। बौद्ध वाङ्मय में विनिमय के मानदंड के रूप में कहापण का उल्लेख किया गया है; यह तांबे का छेददार चौकोर सिक्का होता था। वस्तु-विनिमय की पद्धति बहुत समय तक चलती रही पर सिक्कों का प्रचलन निश्चित रूप से स्थापित हो चुका था। भूमि के एक टुकड़े पर यही कहापण बिछाकर श्रावस्ति के अनाथपिंडिक नामक महाजन ने बुद्ध के लिए एक विहार बनवाने के लिए वह स्थल खरीदा था। बुद्ध ने एक जगह कहा है, "कहापणों की वर्षा से भावावेश की तृप्ति नहीं होती।" इन उदाहरणों से पता चलता है कि विनिमय का सामान्य माध्यम सिक्के थे। यह कहा गया है कि "बौद्ध साहित्य में एक ऐसे समाज का रहस्योद्घाटन किया गया है जिसमें सिक्के विपुल परिमाण में थे और इनका पूरा उपयोग होता था। मरे हुए चूहे से लेकर उत्सव में एक दिन व्यतीत करने के खर्च तक प्रत्येक क्रय-वस्तु का मूल्य और हर प्रकार का शुल्क, पेंशन, स्थिरऋण, संचित कोष तथा आय, हर चीज़ किसी विशेष मुद्रा या उसके अंशों द्वारा व्यक्त की जाती थी। और यह बात या तो स्पष्ट रूप से या घुमा-फिरा कर कह दी गयी है कि यह सिक्का कहापण होता था।" कहापण के अतिरिक्त मुद्रा की अन्य इकाइयाँ भी थीं जैसे निक्ख, मासक, अद्ध-मासक, काकणिक, कालकहापण, सुवण्ण तथा सुवण्णमासक। ताँबे के सिक्के छड़ों को काटकर बनाये जाते थे और चाँदी के सिक्के धातु की चादरों को काटकर। प्रमाणित स्वर्ण-मुद्रा का भार जौ के १६० दानों के बराबर तथा प्रमाणित रजत-मुद्रा का भार जौ के ६४ दानों के बराबर होता था। बीस कौड़ियों की एक काकणि, ४ काकणियों का एक पण अथवा कहापण होता था; १६ कहापण एक द्रम्म चाँदी के बराबर होते थे; १६ द्रम्म का चाँदी का एक निष्क होता था। सिक्कों पर उन्हें जारी करने वाले प्राधिकारी का नाम, वह चाहे राजा हो या गणतंत्र, अंकित करने का प्रचलन ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी से आरंभ हुआ। गुप्त सम्राटों ने आरंभ में जो मुद्रा प्रचलित की उस पर कुषाणों का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है पर बाद में यह प्रभाव

लुप्त हो गया। इस काल की प्रमाणित स्वर्ण तथा रजत मुद्राओं का भार क्रमशः १२० तथा ३० ग्रेन के बराबर होता था, परंतु इसके बाद के कालों में स्वर्ण-मुद्रा का भार बढ़ाकर १४८ ग्रेन कर दिया गया। १६ चाँदी के सिक्के एक स्वर्ण-मुद्रा के बराबरा होते थे जिसके १४८ ग्रेन के भार में केवल आधा शुद्ध सोना होता था। कौटिल्य ने टकसाल के अधीक्षक तथा मुद्रा निरीक्षक का उल्लेख किया है। धीरे-धीरे स्थानीय मुद्रा के स्थान पर केंद्रीय राज्यीय मुद्रा का प्रचलन हो गया और गुप्त साम्राज्य तथा अन्य शक्तियों के शानदार सिक्कों में राज्य की प्रभुसत्ता और समृद्धि का प्रतिबिंब मिलता है।

यह थी वह सामाजिक तथा आर्थिक पृष्ठभूमि जिसमें मौर्य तथा गुप्त साम्राज्य जैसे राज्यों का उत्थान तथा पतन हुआ। वर्ण-व्यवस्था तथा श्रेणी प्राचीन भारत में सामाजिक तथा आर्थिक संगठन के दो मुख्य रूप थे। वर्ण-व्यवस्था तो धीरे-धीरे वह ढाँचा बन गयी जिसने विविध जातीय तथा सांस्कृतिक हितों को अपने अंद रस्थान दिया। श्रेणी-व्यवस्था का विकास विभिन्न उद्योगों के अलग-अलग स्थानों में केंद्रित हो जाने और व्यवसायों के वंशागत रूप धारण कर लेने के फलस्वरूप हुआ। इसके अतिरिक्त वर्ण-व्यवस्था ने पदसूचक-समूहों का रूप धारण कर लिया और श्रेणियों ने व्यापार तथा व्यवसाय के संगठनों का। दोनों ही समान रूप से आवश्यक प्रतीत होती थीं। भारतीय राष्ट्र की जनसंख्या में कम से कम पाँच विभिन्न नस्लों के लोग थे : आस्ट्रेलियाई, हब्शी, मंगोल, पुरा-मंगोल तथा काकेशियाई। इनमें से हर एक ने भारतीय समाज की रचना में कुछ न कुछ महत्वपूर्ण योगदान किया। हब्शियों ने हमें वटवृक्ष की पूजा करना सिखाया; आद्य-आस्ट्रेलियावासी अपने साथ गणचिह्नात्मक कल्प, भूत-प्रेतों में विश्वास, भोजन में कुछ वस्तुओं को वर्जित समझने की पद्धति और जादू-टोने में विश्वास लेकर आये जो आज तक भारत के जीवन में पाये जाते हैं। रेशम, चाय, चावल, मिर्च, समतल भूमि पर खेती, सामुदायिक निवासस्थान, और सुपारी का उपयोग भारतीय संस्कृति को मंगोलो की देन थी; मंगोल संस्कृति की समुद्री शाखा ने हमें चौड़ी नावों, नारियल और अनन्नास से परिचित कराया। पुरा-भूमध्यसागरीय संस्कृति ने हमें मिट्टी के बरतन बनाना, बड़ी-बड़ी शिलाओं को काटकर मूर्तियाँ बनाना सिखाया और उर्वरता-कल्प तथा विवाह संस्कार भी उन्हीं की देन हैं। भूमध्यसागरीय जातियों ने हमें पालतू जानवर, नदी यातायात, सिले हुए कपड़ों, ईंटों, रंगे हुए भट्टी के बर्तनों का उपयोग और नगर-नियोजन सिखाया। घोड़ों, कदाचित लोहे, श्रेष्ठतम कोटि के गेहूँ, दूध, मदिरा, जुए के खेल और रथों की दौड़ का प्रचलन नार्डिक जातियों की बदौलत हुआ। परंतु उसकी सबसे महत्वपूर्ण देनें थीं—आर्य भाषा की, जो मनुष्य के विचारों को व्यक्त करने का सबसे मृदु तथा आवश्यकतानुसार नमनीय माध्यम है, महाकाव्य और ऋत की परिकल्पना।

इन सभी जातियों ने भारत को अपना निवासस्थान बना लिया। जब कोई नयी जाति यहाँ आती थी तब शुरू-शुरू में तो लड़ाई होती थी पर यह लड़ाई समाप्त हो जाने पर सब में समझौता हो जाता था। तत्कालीन भौगोलिक तथा आर्थिक ढांचे के भीतर सभी को स्थान देना होता था और वर्ण-व्यवस्था तथा श्रेणियों ने यही करने का प्रयत्न किया। प्रकृति ने इन

जातियों को एक दूसरे से भिन्न और अलग बनाया था परंतु इतिहास का तक़ाज़ा था कि वे एक महान प्रयोग में, विकासवान भारतीय जीवन के निर्माण में, साथ मिलकर काम करें और इन दोनों व्यवस्थाओं ने इसे संभव बनाया। वर्ण तथा श्रेणी की ऐतिहासिक सार्थकता इसीमें निहित है। परंतु एक ऐसे समाज का निर्माण कर चुकने के बाद भी जिसमें आर्य और हब्शी साथ मिलकर रहते थे और मंगोलों तथा आस्ट्रेलियाई जातियों में दाँत-काटी रोटी का संबंध था, वर्ण-व्यवस्था बनी रही और अधिक कठोर होती गयी। वर्ण-व्यवस्था की कठोरता के कारण भारतीय समाज विभिन्न स्तरों में बँट गया और जड़ हो गया; बाद में चलकर उसकी सारी शक्ति आये-दिन के आक्रमणों के विरुद्ध लड़ने में व्यय होने लगी। विदेशी आक्रमणों के लिए द्वार खुल गये थे और संकट के बाद संकट का सामना करना पड़ रहा था। और कट्टरपंथी भावना संकट से मुक्ति पाने का एक साधन है। इस प्रकार वर्णाश्रम धर्म को अनेक युगों का अनुमोदन प्राप्त हुआ और वह प्राचीन भारतीय समाज की लाक्षणिक विशिष्टता बन गया।

## – ३ –

# शिक्षा

पिछले पृष्ठों में हम दो शब्दों का उल्लेख कर आये हैं—एक उपनयन और दूसरा ब्रह्मचर्य—और इन दोनों ही के बारे में मोटे तौर पर यह बताया गया था कि उपनयन संस्कार यज्ञोपवीत धारण करने का समारोह होता है और ब्रह्मचर्य विद्यारंभ का द्योतक होता है। परंतु यदि हम इन दोनों शब्दों के पूरे महत्व को समझना चाहते हैं तो हमें प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति पर विचार करना होगा क्योंकि इन दोनों संस्कारों के साथ इसका गहरा संबंध है।

उपनयन संस्कार जीवन की एक अवस्था की समाप्ति और दूसरी अवस्था अर्थात् विद्योपार्जन की अवस्था के आरंभ का द्योतक था। उपनयन का शाब्दिक अर्थ है शिष्य को गुरु के पास ले जाना। यद्यपि बाद में चलकर यह संस्कार सबके लिए अनिवार्य हो गया पर मूलतः यह सब के लिए अनिवार्य नहीं था और साधारणतया यह इस बात का परिचायक होता था कि छात्र को वेदाभ्यास की जटिलताओं से परिचित होने के लिए भेजा जा रहा है। परंतु जब भी कोई छात्र विद्यारंभ करना चाहता था तब यह संस्कार आवश्यक समझा जाता था और इस प्रकार उपनयन एक शिक्षा-संबंधी संस्कार बन गया। प्राचीनता की दृष्टि से यह संस्कार भारतीय-ईरानी युग जितना पुराना है और ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य स्त्री-पुरुषों सबको इस संस्कार का अधिकार था। परंतु बाद में जब वेदों के अध्ययन को पुरोहित वर्ग का एकाधिकार समझा जाने लगा तब क्षत्रियों तथा वैश्यों के लिए इसका महत्व कम होता गया और इन दोनों वर्गों में इसका प्रचलन समाप्त हो गया। परंतु स्मृतियों में इसे सभी आर्यों के लिए अनिवार्य बताया गया है और इस संस्कार को संपन्न करने के लिए ८ से १२ वर्ष तक की अवस्था सब से उचित मानी गयी है। यह संस्कार आरंभ यहाँ से होता था कि प्रातःकाल बालक अपनी माता के साथ एक ही थाली में कुछ खाता था। उसके बाद उसका मुंडन होता था और इसके बाद वह स्नान करता था। फिर बालक को एक कौपीन पहनाया जाता था जिसे तीन डोरियों की बनी हुई मेखला से कसकर बाँध दिया जाता था; ये तीन डोरियाँ तीन वेदों का प्रतीक होती थीं। उसके शरीर का ऊपरी भाग या तो मृगछाला से या उत्तरीय वस्त्र से ढक दिया जाता था, आगे चलकर इसी ने यज्ञोपवीत का रूप धारण कर लिया। इसके बाद बालक को हवनवेदी के पास ले जाया जाता था और उसे प्रतिभा, बुद्धि तथा शक्ति प्रदान करने के लिए अग्नि का आह्वान किया जाता था। यम तथा सवितृ आदि अन्य देवताओं की भी वंदना की जाती थी। यह सब हो चुकने पर दीक्षार्थी एक शिला पर खड़ा होता था जो उसके दृढ़ निश्चय की द्योतक होती थी, क्योंकि विद्योपार्जन की इच्छा की पूर्ति के लिए दृढ़ संकल्प

अत्यंत आवश्यक था। इसके बाद वह गुरु के पास जाता था और गुरु इन्द्र तथा अग्नि के आदेश पर उसे शिष्य के रूप में स्वीकार करता था। गुरु अपने शिष्य को आशीर्वाद देता था और उसे सूर्य-वंदना के गायत्री मंत्र से परिचित कराता था। (इसे गायत्री मंत्र इसलिए कहते हैं कि यह गायत्री छंद में है।) फिर हाथ में एक लाठी लेकर, जो यात्रियों का प्रतीक-चिह्न था, छात्र अपना ब्रह्मचर्य जीवन आरंभ करता था जिसके मुख्य लक्षण थे: सरलता, साधुता तथा तपस्या।

प्राचीन भारत में इस प्रकार गुरुकुल में बालक अपनी शिक्षा आरंभ करता था; शिक्षा समाप्त होने तक उसे अपने गुरु के घर में ही रहना था। शिक्षा की इस पद्धति के आदर्श क्या थे? मोटे तौर पर उसके उद्देश्य दो थे: ज्ञान प्रदान करना और सच्चरित्रता की भावना जाग्रत करना। इस पद्धति का आयोजन इस ढंग का था कि जीवन के प्रति छात्र का दृष्टिकोण व्यापक हो जाये, उसमें ज्ञान की ज्योति जगे, उसकी बुद्धि प्रखर हो और उसके व्यक्तित्व के विकास द्वारा उसमें चरित्र-बल की स्थापना हो। इस शिक्षा पद्धति से उसमें संस्कृति तथा ज्ञान के प्रति श्रद्धा की भावना, और परिवार, समाज, पूर्वजों तथा इन सबसे बढ़कर सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रति अपने दायित्वों को सफलतापूर्वक पूरा करने की इच्छा उत्पन्न होनी थी। यह बात तो है कि इस पद्धति में धर्म-दीक्षा को सबसे प्रमुख स्थान प्राप्त था परंतु ज्ञान तथा साहित्य की अन्य शाखाओं के महत्व को भुलाया नहीं जाता था। शिक्षा को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक संस्कृति के एक संक्रमण का सबसे महत्वपूर्ण साधन ठीक ही माना गया है। शिक्षा द्वारा मनुष्य उन विचारों को भी सीखता है जो समाज की दृष्टि में महत्वपूर्ण समझे जाते हैं और वह अनुशासन भी सीखता है जो उसे समाज द्वारा उसके सन्मुख रखे गये आदर्शों की प्राप्ति का सामर्थ्य प्रदान करता है। शिक्षा का ध्येय मनुष्य के व्यक्तित्व को इस प्रकार ढालना होता है कि वह सामाजिक रूप और आत्मिक रूप से उन्नति करे। यह लक्ष्य ज्ञान-दान तथा चरित्र-निर्माण की दोहरी प्रक्रिया द्वारा पूरा किया जाता है। प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति में शैक्षणिक प्रक्रिया के इन सभी पहलुओं को पूरी तरह ध्यान में रखा गया था और इसके फलस्वरूप जिन संस्थाओं का उदय हुआ उन्होंने मनुष्य को केवल एक सफल सामाजिक प्राणी ही नहीं बल्कि एक पूर्णतः सुसंस्कृत व्यक्ति भी बनाने की चेष्टा की।

शिक्षा की यह पद्धति गुरुकुलों में और बाद में नालंदा जैसे विश्वविद्यालयों में प्रचलित थी। गुरुकुलों में उच्च शिक्षा दी जाती थी क्योंकि जब बालक इनके भव्य प्रांगण में प्रवेश करता था उस समय वह घर से लिखना-पढ़ना और प्रारंभिक हिसाब-किताब सीखकर आता था। गुरुकुल में वह अपने शिक्षक की वैयक्तिक देखदेख तथा पथ-निर्देश में रहता था; गुरु उसका आध्यात्मिक जन्मदाता होता था। गुरु से आशा की जाती थी कि उसमें सर्वोच्च नैतिक तथा आध्यात्मिक योग्यताएँ हों। उसमें आवश्यक रूप से "समष्टि के बोध पर आधारित ऐसा दृढ़ विश्वास होना चाहिये जिसके द्वारा वह अपने शिष्यों में ज्ञान की ज्योति जाग्रत करे" और उससे आशा की जाती थी कि वह सत्य को, बिना कोई चीज़ छुपाये, बिल्कुल उसी ढंग से प्रस्तुत करे जैसे कि वह उसे देखता है। उसके अन्य गुणों के सम्बन्ध में बताया गया है कि

उसमें विवेक और पूरी समझ-बूझ तथा निपुणता के साथ शिक्षा देने की योग्यता होनी चाहिये।

दूसरी ओर शिष्य से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह अपने गुरु का सम्मान करे और अपना ब्रह्मचर्य जीवन सदाचार के नियमों के सर्वथा अनुकूल व्यतीत करे। प्रातःकाल उठकर शिष्य पूरी विनम्रता, शुद्धता तथा आत्मसंयम के साथ अपने संलग्न-प्रयास की दिनचर्या आरंभ करता था और गुरु से उसे ज्ञान के सर्वश्रेष्ठ उपहार के रूप में जो सम्मान और प्रतिष्ठा मिलती थी वह अपने आपको उसके सर्वथा योग्य सिद्ध करता था। शिक्षण सत्र वर्षा आरंभ होने के शीघ्र ही बाद श्रावण के मास में आरंभ होता था; इस समारंभ के अवसर पर उपाक्रम समारोह होता था, जिसे श्रावणी भी कहते हैं, जिसमें देवताओं के नाम पर आहुति दी जाती थी और उनका आशीर्वाद माँगा जाता था। इस वार्षिक समारोह के अवसर पर यज्ञोपवीत भी बदला जाता था; इस समारोह की केवल यही परम्परा बाक़ी रह गयी है ओर आज तक इसे निबाहा जाता है। उत्सर्जन समारोह एक वर्ष के शिक्षणकाल के अंत का द्योतक होता था जब शिष्य गुरुकुल से अपने-अपने स्थानों को चले जाते थे। विद्योपार्जन का जीवन समाप्त होने पर समावर्तन कल्प होता था जब मेखला तथा ब्रह्मचर्य-जीवन के अन्य आवश्यक प्रसाधन त्याग दिये जाते थे और छात्र गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता था और गार्हपत्य अर्थात् घर के कामकाज की चिंता करने लगता था। प्राचीनतम काल में प्रतिवर्ष शिक्षण की अवधि अगस्त से फरवरी तक छः माह की होती थी; परंतु जब पाठ्यक्रम बहुत बढ़ जाता था तो शिक्षण पूरे वर्ष चलता रहता था। सामान्यतया शिक्षण की पूरी अवधि लगभग १२ वर्ष की होती थी।

इन गुरुकुलों के पाठ्यक्रम में वेदों तथा वैदिक साहित्य, व्याकरण, तर्कशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र आदि विषय और इनके अतिरिक्त कुछ व्यावसायिक विषय भी, जैसे चिकित्सा, शस्त्रास्त्रों का प्रयोग तथा कुछ उदाहरणों में प्रशासन की कला आदि, शामिल होते थे। शिक्षण पद्धति में यथानुसार पठन, प्रदर्शन पुनरावृत्ति, स्मरण, वाद-विवाद तथा शास्त्रार्थ और यदि आवश्यकता हो तो व्यावहारिक काम, सभी तरीके इस्तेमाल किये जाते थे। कोई परीक्षा नहीं होती थी और जब गुरु अपने शिष्य की प्रगति से संतुष्ट हो जाता था तभी वह घर लौटने पाता था। परंतु पूरा पाठ्यक्रम समाप्त होने के बाद शिष्य को विद्वानों की एक सभा के सामने पेश किया जाता था जो कभी-कभी उसकी परीक्षा भी लेते थे। पाठ्यक्रम समाप्त होने पर साधारणतया शिष्य कुछ शुल्क देता था और राज्य तथा सार्वजनिक संस्थाओं की ओर से भी शैक्षणिक संस्थाओं को बड़ी उदारता से अनुदान दिये जाते थे ताकि उन्हें धनाभाव के कारण कोई चिंता न हो।

गुरुकुल सामान्यतया उसी नगर या गाँव की सीमा के भीतर स्थित होता था जिसमें कि गुरु रहता था। परंतु कभी-कभी गुरु निकट के किसी वन में जाकर रहने लगते थे और वहाँ वन्य सौंदर्य तथा शांति के वातावरण में शिक्षण का काम चलता रहता था क्योंकि नगर या गांव के वातावरण को एकाग्र चिंतन के लिए उचित नहीं समझा जाता था, यदि गुरु अपनी विद्वता तथा धर्मनिष्ठा के कारण बहुत ख्याति प्राप्त कर लेता था तो दूर-दूर से अनेक विद्यार्थी

उसके पास आते थे और धीरे-धीरे ये साधारण गुरुकुल विद्या के केंद्र या विश्वविद्यालय बन जाते थे। सुदूर उत्तर-पश्चिम में तक्षशिला इसी प्रकार का एक प्राचीन विश्वविद्यालय था; प्राचीन भारतीय साहित्य में जिन विश्वविद्यालयों का उल्लेख मिलता है उनमें यह प्राचीनतम है। वास्तव में यह उस प्रकार का विश्वविद्यालय नहीं था जिस प्रकार के विश्वविद्यालयों से हम आज परिचित हैं क्योंकि इसकी कोई केंद्रीय प्रशासन-व्यवस्था नहीं थी जो विश्वविद्यालय में प्रवेश, शिक्षण या परीक्षा के नियमों को निर्धारित करती। यह केवल इस दृष्टि से एक विश्वविद्यालय था कि वहाँ उच्च शिक्षा का केंद्र था जहां विभिन्न कलाओं तथा विज्ञानों के अनेक प्रख्यात शिक्षक रहते थे और शिक्षा देते थे; भारत के कोने-कोने से विद्यार्थी बहुत लम्बी यात्राएँ करके उनकी खोज में आते थे। बौद्ध जातकों में इस शिक्षा केंद्र के विषय में बहुत जानकारी प्रदान की गयी है। छात्र १६ वर्ष की अवस्था में तक्षशिला में आता था और वहाँ कई वर्ष विद्योपार्जन में व्यतीत करता था। वहाँ अनेक विषयों की शिक्षा दी जाती थी जिनमें धनुर्विद्या तथा तलवार चलाने जैसी कलाओं और चिकित्सा तथा शल्य-क्रिया जैसे विज्ञानों को लेकर कुल ६८ विषय शामिल थे। वहाँ की दिनचर्या बहुत सवेरे आरंभ होती थी जब छात्र ब्राह्ममुहूर्त में जागते थे। इसके बाद शिक्षण तथा अध्ययन का कार्यक्रम आरंभ होता था जो दोपहर के खाने के समय तक चलता रहता था। मध्याह्न भोज के बाद थोड़ी देर विश्राम का समय होता था और संध्या समय दिन भर के काम को दोहराया जाता था। छात्र या तो शिक्षाक्रम आरंभ होते समय या उसकी समाप्ति पर अपने गुरु को शुल्क देते थे। बताया जाता है कि छात्र की आर्थिक स्थिति के अनुसार ५०० या १००० कहापण शुल्क लिया जाता था। निर्धन छात्रों को भी भरती किया जाता था पर उन्हें शुल्क के बदले घर का काम-काज करना पड़ता था। कक्षा में निर्धन और धनवान छात्रों के बीच किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाता था। हमें इस प्रकार की एक घटना का उल्लेख मिलता है कि एक गुरु ने एक दंभी राजकुमार की किस प्रकार भर्त्सना की थी। कक्षा में विद्यार्थियों की संख्या बहुत होती थी; यह संख्या मोटे अनुमान के अनुसार ५०० बतायी जाती है। गुरु की सहायता के लिए सहायक शिक्षक भी होते थे जो बहुधा पहले उसी गुरु के प्रतिभा-सम्पन्न शिष्य रह चुके होते थे। पाठ्यक्रम समाप्त कर चुकने पर विद्यार्थी घर वापस जाते हुए कुछ समय तक देश का भ्रमण करते थे और देशवासियों के रीति-रिवाजों तथा आचार-व्यवहार का अवलोकन करते थे। घर वापस पहुँचकर वे अपने माता-पिता के सामने अपने अर्जित ज्ञान का प्रदर्शन करते थे।

उन दिनों वाराणसी भी विद्या का बहुत बड़ा केंद्र था। यह गौण महत्व का विद्या-केंद्र था क्योंकि तक्षशिला में शिक्षा पाये हुए विद्यार्थी बहुधा यहाँ आकर शिक्षक हो जाते थे। तक्षशिला का विश्वविद्यालय ७वीं शताब्दी ईसा पूर्व से तीसरी शताब्दी ईसा-पूर्व तक काम करता रहा और उसके लुप्त हो जाने के बाद ही वाराणसी का महत्व बढ़ा और आगे चलकर वह ब्राह्मण साहित्य तथा संस्कृत के अध्ययन का केंद्र बन गया।

गुप्त-काल में नालंदा विश्वविद्यालय की नींव पड़ी जो प्राचीन भारत का सबसे प्रख्यात

विश्वविद्यालय था। बिहार में पटना के निकट बरगाँव नामक जो स्थान है वही पहले नालंदा था; यहाँ की खुदाई में इस विश्वविद्यालय के भग्नावशेष निकले हैं। कुछ व्यापारियों ने बहुत मूल्य चुकाकर इस विश्वविद्यालय के निर्माण स्थल के लिए भूमि खरीदी थी और यहीं से भविष्य के इस महान विश्वविद्यालय का श्रीगणेश हुआ। इस निर्माणस्थल पर और उसके निकट शक्रादित्य, (जो कुमारगुप्त प्रथम का ही दूसरा नाम था), बुद्धगुप्त, तथागत गुप्त, नालादित्य, वज्र तथा हर्ष जैसे राजाओं ने छः मठ बनवाये। इस प्रकार एक या दो साधारण मठों के रूप में आरंभ होकर नालंदा शीघ्र ही विद्योपार्जन तथा संस्कृति का अंतर्राष्ट्रीय केंद्र बन गया, जहाँ केवल भारत के कोने-कोने से ही नहीं बल्कि सुदूर मध्य एशिया, चीन, कोरिया तथा जावा से भी विद्यार्थी आने लगे। जैसे-जैसे विद्यार्थियों की संख्या बढ़ती गयी उनके रहने के लिए और मठ बनवाये गये और इस प्रकार नालंदा लम्बे-चौड़े शयन-कक्षों, अध्यापन-कक्षों, पुस्तकालयों तथा वेधशालाओं का एक जटिल भवन-समूह बन गया जो चारों ओर एक दीवार से घिरा हुआ था। इसमें प्रवेश के लिए एक बहुत बड़ा द्वार था जिसके खुलते ही सामने महाविद्यालय की इमारत थी, इससे अलग संघाराम के मध्य में आठ अन्य बड़े-बड़े सभा-भवन बने हुए थे। ये इमारतें "जो सभी कई मंजिल की थीं, लम्बाई, चौड़ाई तथा ऊँचाई की दृष्टि से अत्यंत भव्य थीं; इनमें अत्यंत सुसज्जित मीनार तथा बुर्जियां थीं जैसी परियों की कहानियों में होती हैं, जो दूर से देखने में नुकीले पर्वत-शिखरों जैसी लगती थीं; और प्रातः-काल के कुहरे में छुपी रहनेवाली वेधशालाएँ थीं। ऊपर के कमरे बादलों में अपना मस्तक ऊँचा किये हुए दिखायी देते थे और उनकी खिड़कियों से हवाओं का वेग और नित नया रूप धारण करते हुए बादल, तथा उनके अलिंदों से सूर्यास्त का सौंदर्य तथा ज्योत्स्ना का नयनाभिराम दृश्य देखा जा सकता था।" ह्युएन सांग तथा उनके जीवनचरित्र के लेखक हुई ली ने नालंदा के सौंदर्य का अत्यंत प्रशंसनीय विवरण दिया है। हुई ली ने लिखा है : "और फिर हम इसका भी उल्लेख कर सकते हैं कि निर्मल जल से भरे हुए गहरे सरोवरों के धरातल पर नीलकमल तैरते रहते हैं जिनके बीच-बीच में गहरे लाल रंग के कनक के फूल अपनी छवि दिखाते हैं; और थोड़ी-थोड़ी दूर पर आम्रकुंज अपनी छाया से भूमि को ढक लेते हैं। बाहर के सभी प्रांगण जिनमें पुरोहितों के कक्ष बने हुए हैं, चार-मंज़िले हैं। हर मंज़िल पर अजगर की शक्ल में कटे हुए पत्थर बाहर को निकले हुए हैं और रंग-बिरंगे अलिंद बने हैं; मूँगे जैसे लाल स्तंभों पर अत्यंत सुदर बेल-बूटों की नक्क़ाशी है; उन इमारतों में अत्यंत सुंदर तथा सुसज्जित जंगले तथा कटहरे हैं और छतों पर ऐसे चौके लगे हैं जिनसे प्रकाश हजारों अलग-अलग रंगों में प्रतिबिम्बित होता है। इन सब चीज़ों के कारण यहाँ के सौंदर्य को चार चाँद लग जाते हैं।"

यह महायानपंथी बौद्ध विश्वविद्यालय था और इसलिए वहाँ के सभी विद्यार्थियों का बौद्ध भिक्षु होना स्वाभाविक ही था। चूँकि हर समय नालंदा में प्रवेश पाने के इच्छुक विद्यार्थियों की संख्या बहुत अधिक रहती थी इसलिए वहाँ के प्रवेश के नियम बहुत कड़े थे। ह्युएन सांग ने लिखा है : "यदि बाहर के लोग वहाँ प्रवेश पाने और शास्त्रार्थ में भाग लेने की

इच्छा से आते हैं तो द्वारपाल उनके सामने कुछ कठिन प्रश्न रखता है; बहुत-से लोग इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाते और वापस लौट जाते हैं। यहाँ प्रवेश पाने से पहले पुरातन तथा नूतन दोनों ही (ग्रंथों) का गूढ़ अध्ययन आवश्यक है। इसलिए जो विद्यार्थी यहाँ नवागंतुकों के रूप में आते हैं उन्हें कठिन वाद-विवाद में भाग लेकर अपनी योग्यता सिद्ध करनी पड़ती है। यदि सात या आठ लोगों को इसमें असफलता प्राप्त होती है तो दस लोग सफल भी हो जाते हैं। इन सात या आठ में से दो या तीन, जिनकी योग्यता साधारण होती है सभा में शास्त्रार्थ के लिए पहुँचने पर निश्चित रूप से असफल सिद्ध होते हैं और अपनी ख्याति से हाथ धो बैठते हैं।"

नालंदा विश्वविद्यालय ने विद्यार्थियों के प्रवेश के संबंध में जो कड़े नियम बना रखे थे वे सर्वथा न्यायसंगत थे। इस विश्वविद्यालय की ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी और जिस विद्यार्थी को नालंदा में अध्ययन करने का अवसर मिल जाता था उस पर उस युग के श्रेष्ठतम ज्ञान तथा संस्कृति की छाप लग जाती थी। इस विश्वविद्यालय के अध्यापक-मंडल में धर्मपाल और चंद्रपाल, गुणमति तथा स्थिरमति, शीलभद्र, धर्मकीर्ति, शांतरक्षित, और पद्मसंभव जैसे प्रतिभाशाली रत्न सुशोभित थे। नालंदा में १०,००० शिक्षक तथा विद्यार्थी रहते थे जिनमें से १,५०० शिक्षक रहे होंगे। चीनी यात्री ई त्सिंग ने लिखा है: "नालंदा के मठ में पुरोहितों की संख्या अत्यधिक है; यह संख्या तीन हज़ार से अधिक ही होगी; इतने लोगों को एक स्थान पर एकत्रित करना कठिन काम है। इस मठ में आठ सभा-भवन और तीन सौ रहने के कमरे हैं। इस मठ का हर सदस्य अपनी सुविधानुसार अलग-अलग ही उपासना कर सकता है। इसलिए होता यह है कि प्रतिदिन एक गुरु मंत्र पढ़ता हुआ एक स्थान से दूसरे स्थान जाता है, उससे आगे-आगे मठ में नौकरों का काम करनेवाले शिष्य और बच्चे धूप-दीप तथा पुष्प आदि लेकर चलते हैं। वह एक कक्ष से दूसरे कक्ष में जाता है और हर एक में वह विधिवत् मंत्र पढ़ता है; हर बार वह ऊँचे स्वर में तीन या पाँच श्लोक पढ़ता है जिनकी आवाज़ चारों ओर सुनायी देती है। गोधूलिवेला के समय वह अपना कार्य समाप्त करता है।"

इस संस्था का प्रशासन एक अधिकारी-मंडल के हाथ में था जिसमें सबसे बड़ा अधिकारी कुलपति होता था और पंडित उसका सहायक होता था। इस विश्वविद्यालय में अत्यंत श्रेष्ठ पुस्तकालय था जो रत्नसागर, रत्नोदधि तथा रत्नरंजक नामक तीन भवनों में स्थित था। रत्नोदधि की इमारत नौ मंजिल की थी और उसमें प्रज्ञापारमिता श्रेणी के धर्मग्रंथ तथा तांत्रिक रचनाओं का संग्रह था। इन तीनों विशाल इमारतों को लेकर पूरे पुस्तकालय को धर्मगंज कहते थे, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है धर्म का बाज़ार। नालंदा विश्वविद्यालय में शिक्षा व्याख्यानों, अध्ययन गोष्ठियों, वाद-विवाद तथा शास्त्रार्थ द्वारा दी जाती थी; यहाँ महायान तथा बौद्धमत के अन्य पंथ, तंत्र, ज्योतिष तथा कल्प आदि विषय पढ़ाये जाते थे। नालंदा में पढ़ने-पढ़ाने का काम कितनी सच्ची लगन के साथ होता था इसका अनुमान ई त्सिंग नामक चीनी यात्री के वृत्तांत से लग सकता है। उसने लिखा है: "यहाँ नालंदा में प्रतिष्ठित तथा विद्वान लोगों का

जमाव होता है, वे संभव असंभव सभी सिद्धांतों पर वाद-विवाद करते हैं और विद्वानों द्वारा जब उनके मत की पुष्टि हो जाती है तब उनकी बुद्धिमत्ता की ख्याति दूर-दूर तक फैल जाती है।" पूरा स्थल गूढ़ शास्त्रार्थ से गूँजता रहता था और पूरे दिन का समय भी प्रश्न पूछने और उनके उत्तर देने के लिए पर्याप्त नहीं होता था।

नालंदा का खर्च अनेक राजाओं द्वारा दिये गये उदार अनुदानों से चलता था। हुई ली ने लिखा है : "देश का राजा पुरोहितों का आदर तथा सम्मान करता है और उसने लगभग १०० गाँवों की राजस्व-आय मठ के लिए दान कर दी है। इन गाँवों के दो सौ परिवार प्रति दिन कई सौ पिकुल (भार की चीनी माप जो लगभग ६४ सेर के बराबर होती है) साधारण चावल और कई सौ कैटी (चीनी माप को लगभग आध सेर के बराबर होती है) मक्खन और दूध मठ को देते हैं। इसलिए यहा के छात्रों को, जिन्हें हर चीज़ इतनी विपुल मात्रा में उपलब्ध रहती है, जीवन की चार मुख्य आवश्यकताओं अर्थात् वस्त्र, भोजन, रहने की जगह तथा औषधियों के लिए किसी के सामने हाथ नहीं फैलाना पड़ता। इसी कारण वे एकाग्रचित्त होकर अध्ययन में अपना ध्यान लगा सकते हैं, जिस उद्देश्य को लेकर वे यहां आते हैं। ई त्सिंग ने लिखा है कि विश्वविद्यालय के पास २०० से अधिक गाँवों की भूमि है जो पीढ़ी दर पीढ़ी अनेक राजाओं से उसे दान में मिली थी। गुप्त सम्राटों, हर्ष, पालवंश के राजाओं ने यहाँ तक कि सुदूर सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) के राजा बालपुत्रदेव ने प्राचीन भारत के इस महान ज्ञान-केंद्र को अपनी कृपा का पात्र बनाया।

और नालंदा को इस सम्मान का पूरा अधिकार था। उसने दर्शन तथा साहित्य, व्याकरण तथा कला को प्रोत्साहन दिया और यहीं से शांतरक्षित तथा पद्मसंभव जैसे धर्म-प्रचारक तिब्बत में बौद्धधर्म का प्रचार करने गये। ह्युएन सांग, ह्युएन चिङ, हुई ली, तांग, ताओ सिंग, आर्यवर्मन तथा बुद्धधर्म जैसे विद्वान विदेशों से इस महाविद्यालय में आये और इस प्रकार नालंदा विश्वविद्यालय विविध मतों तथा संस्कृतियों का संगम बन गया। यह विश्वविद्यालय ५०० ई० से १३वीं शताब्दी ईसवी तक चलता रहा और फिर विदेशी आक्रमणकारियों ने इसे युद्ध की ज्वाला में भस्म कर दिया।

नालंदा से प्रेरणा पाकर देश में विद्या के अन्य केंद्रों की भी स्थापना हुई। सबसे पहले वलभी के विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। वलभी विश्वविद्यालय सौराष्ट्र के मैत्रकवंश के राजाओं की कृपादृष्टि की बदौलत अस्तित्व में आया; इसकी स्थापना गुणमति तथा स्थिरमति ने की थी। इस विश्वविद्यालय ने थेरवादी बौद्धमत तथा उसके विभिन्न पंथों के अध्ययन में विशेषज्ञता प्राप्त की। इस विश्वविद्यालय में इतना अच्छा पुस्तकालय था कि उससे प्रसन्न होकर राजा ने विशेष रूप से पुस्तकें खरीदने के लिए उसे अनुदान दिया।

विक्रमशीला विश्वविद्यालय की स्थापना पालवंश के धर्मपाल नामक राजा ने की थी और यह उत्तरी मगध में स्थित था। जिस समय नालंदा का पराभव होने लगा तब इस विश्वविद्यालय की ख्याति बढ़ी और इसमें तिब्बत संबंधी अध्ययन का विशेष आयोजन था। इसमें छः विद्यालय थे जिनका प्रबंध एक व्यवस्थापक-मंडल के हाथ में था। इस विश्वविद्यालय का

नालंदा विश्वविद्यालय के साथ गहरा संबंध था और इसने अपने अनेक पंडित तिब्बत भेजे। यह लिखा गया है कि विक्रमशीला का इतिहास "उन महापुरुषों की जीवनियों में, जिन्होंने यहाँ विद्यालाभ लिया, और यहाँ के उन विद्वानों के जीवनचरित्रों में स्वर्ण अक्षरों में अंकित है, जिन्हें विदेशों में, मुख्यतः तिब्बत में ज्ञान, संस्कृति तथा धर्म के प्रचार के लिए आमंत्रित किया गया। इनमें से कुछ विद्वानों के वृत्तांतों में हमें उनके विश्वविद्यालय के इतिहास की कुछ झलकियाँ मिलती हैं। सचमुच, विद्या के केंद्र के रूप में विक्रमशीला की सफलता का प्रचुर प्रमाण इस बात में मिलता है कि उसने बहुत बड़ी संख्या में प्रतिभाशाली विद्वान पैदा किये; उसने विलक्षण तथा धर्मात्माओं को जन्म दिया जिन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा ज्ञान तथा धर्म के क्षेत्र में अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान दिये और उनके इसी योगदान के आधार पर तिब्बत जैसे एक पूरे देश की सभ्यता तथा संस्कृति का वस्तुतः निर्माण हुआ। तिब्बत ने बड़ी कृतज्ञता के भाव से विक्रमशीला के कुछ स्नातकों की स्मृति को सुरक्षित रखा है और उनमें से कुछ को वहाँ धर्मगुरु के पद पर बिठा दिया गया है।"

विक्रमशीला की ही तरह ओदांतपुरी के विश्वविद्यालय की उन्नति भी पालवंश के राजाओं की कृपादृष्टि के कारण हुई; इस विश्वविद्यालय की स्थापना ८वीं शताब्दी ईसवी में गोपाल नामक राजा ने की थी। यह पाटलिपुत्र के निकट स्थित था और इसके मठ ने ही तिब्बत में साम-ये के महान मठ की इमारत के लिए प्रेरणा प्रदान की, ओदांतपुरी के विश्वविद्यालय ने तांत्रिक साहित्य के अध्ययन में विशेषज्ञता प्राप्त की थी और यहाँ लगभग १,००० विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। जागद्दल विश्वविद्यालय, जो इन महान विश्वविद्यालयों में अंतिम था, बंगाल के राजा रामपाल ने बनवाया था और यह वरेंद्र प्रदेश में गंगा तथा करतोय नदियों के तट पर स्थित था। इस विश्वविद्यालय का अस्तित्व बहुत थोड़े दिनों तक रहा; मुश्किल से यह विश्वविद्यालय एक शताब्दी तक चला होगा। इसकी स्थापना १२वीं शताब्दी ईसवी में हुई थी और विक्रमशीला तथा ओदांतपुरी की तरह इसे भी विदेशी आक्रमणकारियों ने नष्ट कर दिया था।

प्राचीन भारत की संस्कृति को सुरक्षित रखने, उसके विकास तथा प्रसार में इन विश्वविद्यालयों ने बहुत बड़ी भूमिका का निर्वाह किया। उनके हितकर प्रभाव में दर्शनशास्त्र को नये क्षेत्रों पर अपना अधिकार करने का अवसर मिला और कला के नये रूपों में निपुणता प्राप्त की गयी। दुर्भाग्यवश इन विद्या-केंद्रों में जिस साहित्य की रचना हुई थी उसका बहुत-कुछ भाग नष्ट हो गया है परंतु नेपाल, तिब्बत और चीन में जो कुछ सुरक्षित है उससे हमें पता चलता है कि जिन शताब्दियों के दौरान में ये विश्वविद्यालय काम कर रहे थे, उस समय बौद्धिक क्षेत्र में निरंतर किस प्रकार काम हो रहा था। इन विश्वविद्यालयों की बदौलत अंतर्राष्ट्रीय संपर्क स्थापित करने में बहुत सहायता मिली क्योंकि यहाँ तिब्बत, मध्य एशिया, चीन, कोरिया तथा जावा से विद्यार्थी विद्योपार्जन के लिए आते थे और यहाँ के शिक्षक धर्म-प्रचारकों के रूप में समुद्रों तथा पर्वतों के पार महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं का प्रचार करने के लिए जाते थे। इन धर्म-प्रचारकों ने भारतीय साहित्य का तिब्बती तथा चीनी भाषाओं में

अनुवाद किया और इस प्रकार भारतीय संस्कृति के प्रसार के लिए व्यापक क्षेत्रों का पता लगाया। इन धर्म-प्रचारकों के साथ संस्कृत भाषा तथा साहित्य और इस देश की कला तथा रीति-रिवाज भी विदेशों में पहुँचे और जब ये धर्म-प्रचारक प्रेम तथा धर्म-प्रचार के अपने ध्येय को पूरा करने के आजीवन प्रयास के लिए विदेशों में बस गये तो उन्होंने जहाँ भी वे रहे मानो भारत के एक अंग का आरोपण कर दिया। विद्या तथा धर्म के ध्वजावाहकों के रूप में ये विश्वविद्यालय महान थे; विदेशों में भारतीय संस्कृति के प्रसार तथा भारत के बौद्धिक जीवन की धारा में विदेशों के विचारों का समावेश करने के माध्यम के रूप में उनका महत्व अद्वितीय था।

ये गुरुकुल तथा विश्वविद्यालय धार्मिक तथा अन्य विद्याओं की शिक्षा के केंद्र थे। व्यावसायिक तथा औद्योगिक कलाओं के लिए दूसरे शिक्षा-केंद्र काम करते थे। प्राचीन भारत में बहुत आरंभ में ही अधिकांश व्यवसाय श्रेणियों के रूप में संगठित हो गये थे और वंशगत भी हो गये थे। इसलिए व्यावसायिक कौशल पीढ़ी-दर-पीढ़ी पिता से पुत्र को उत्तराधिकार में मिलता रहता था या फिर प्रवीण शिल्पकार प्रशिक्षणार्थियों को ये कलाएँ सिखा देते थे। औद्योगिक कलाओं में प्रशिक्षण के लिए समाज को प्रशिक्षणार्थी-पद्धति की सेवा उपलब्ध थी और इसका लाभ अत्यंत व्यापक रूप से उठाया जाता था जिसके कारण व्यावसायिक प्रशिक्षण के लिए पूर्णतम तथा श्रेष्ठतम सुविधाएँ मिल जाती थीं। इसका उद्देश्य केवल व्यावसायिक कौशल को सुरक्षित रखना ही नहीं बल्कि प्रयोगों तथा नयी-नयी खोजों द्वारा उसे विकसित करना भी था। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं श्रेणियों का संगठन अत्यंत सुव्यवस्थित था और व्यापार से लेकर मंदिरों के निर्माण तक औद्योगिक कार्य-कलाप का हर पहलू इस संगठन के क्षेत्र में आ जाता था। कारखाने, बाज़ार तथा शिक्षालय का अनुशासन ही अनुशासन का मानदंड था, जो अवलोकन तथा अनुभव की कठिन प्रक्रिया पर आधारित था। परंतु उस समय की आर्थिक स्थिति से यह प्रशंसनीय रूप से मेल खाता था; यह तो सच है कि इसने कौशल को कुछ हद तक स्तरों में बाँट दिया परंतु साथ ही उसने कई शताब्दियों तक इसे निरंतर सुरक्षित भी रखा। जिस समय कुम्हार अपना चाक चलाता था या जब लोहार निहाई पर हथौड़ा चलाता था तो अंतेवासि अर्थात् प्रशिक्षणार्थी इस पूरी क्रिया को ध्यान से देखता रहता था और धीरे-धीरे उसे स्वतंत्र रूप से भी काम करने का अवसर दिया जाने लगता था। जब वह अपनी कला का पूरा ज्ञान प्राप्त कर लेता था तो वह स्थानीय निवासियों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए स्वतंत्र रूप से काम आरंभ कर देता था। बहुधा तो इसका पिता ही उसका शिक्षक होता था और समय की गति के साथ जब पिता की शक्ति क्षीण होने लगती थी तो पुत्र उसका भार सँभाल लेता था और इस प्रकार व्यवसाय का क्रम चलता रहता था।

तो प्राचीन भारत में धार्मिक तथा धर्म-निरपेक्ष शिक्षण की यह पद्धति थी। इसकी सफलताएँ क्या थीं ? आरंभ में ही यह स्वीकार कर लेना होगा कि इसकी सफलताएँ तुच्छ नहीं थीं, यद्यपि मुख्यतः यह पद्धति धर्म तथा दर्शनशास्त्र की शिक्षा को ही महत्व देती थी

फिर भी अनेक बौद्धिक तथा रसग्राही विषयों जैसे गणित, ज्योतिष, व्याकरण, काव्य-रचना तथा राजनय आदि के अध्ययन को भी प्रोत्साहन दिया जाता था। इस शिक्षण-पद्धति ने प्राचीन भारत की कुछ महानतम विभूतियों को जन्म दिया; ऐसी विभूतियों को जिनका गुणगान ब्राह्मणों, बौद्धों तथा जैनों के वृत्तांतों में किया गया है। इस शिक्षण-पद्धति ने आचरण के कुछ निश्चित मानदंड तथा विचारधाराएँ निर्धारित कीं; इसने विद्यार्थियों के व्यक्तित्व को निखारने और उनमें सच्चरित्रता की भावना जागृत करने का प्रयत्न किया। इसने सत्य, ईमानदारी तथा धर्मनिष्ठता की भावना उत्पन्न की। वह धर्म तथा पवित्र आचरण, दर्शन तथा संस्कृति की संरक्षक थी और देश के जन-साधारण में और विदेशों के विद्वानों में संस्कृति का प्रसार करने का श्रेय उसी को है। परंतु हमें उसकी परिसीमाओं को भी स्वीकार करना चाहिये। ब्राह्मण-व्यवस्था के लिए जाति-बिरादरी का नियम सबसे बड़ी बाधा थी। कम से कम वैदिक काल में आर्यों के समाज के हर सदस्य को शिक्षा पाने का अधिकार था। यह ज़रूर है कि इस व्यवस्था में जो अवसर उपलब्ध थे शूद्र उनका लाभ उठाने की कभी कल्पना भी नहीं कर सकते थे। परंतु बाद के काल में वर्ण-व्यवस्था के विकास के साथ वैश्यों को भी धार्मिक तथा अन्य विद्याओं की शिक्षा प्राप्त करने के अवसर से वंचित कर दिया गया होगा। इस प्रकार शिक्षा पुरोहित तथा क्षत्रिय वर्गों की बपौती बनकर रह गयी। इन दोनों वर्णों में समाज के बहुत थोड़े-से लोग थे जिन्होंने उच्च शिक्षा के समस्त लाभ अपने ही तक सीमित कर लिये थे। कुल मिलाकर इसका परिणाम यह हुआ कि विद्वान तो बहुत ऊँचे शिखरों पर पहुँच गये और जन-साधारण अज्ञान के अंधकार में घिरे रहे। केवल बौद्ध तथा जैन मठों में ही, जहाँ जाति-पाँत के नियमों को कोई मान्यता प्राप्त नहीं थी, हर व्यक्ति को संघ के सदस्य के रूप में बौद्ध मठों की शिक्षण-व्यवस्था की हर सुविधा का लाभ उठाने का अधिकार था; इस आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाता था कि उसका जन्म किस कुल में हुआ है और समाज में उसका पद क्या है, केवल एक शर्त थी कि उस व्यक्ति में शिक्षा के प्रति रुचि तथा आवश्यक योग्यता हो। बौद्ध भिक्षु ही गाँव की पाठशालाओं के अध्यापक बन गये, उदाहरण के लिए बर्मा और श्रीलंका में, और उन्होंने जन-साधारण की प्राथमिक शिक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया। स्मृतियों के नियमों के अनुसार ब्राह्मण गुरु होता था पर उसे हर उस व्यक्ति को शिक्षा देने का अधिकार नहीं था जो उसके पास इस उद्देश्य से आये। इसके अतिरिक्त चूँकि ब्राह्मणों और बौद्धों दोनों ही की शिक्षण-पद्धति का क्षेत्र धार्मिक तथा तत्संबंधी विषयों तक सीमित था इसलिए औद्योगिक कलाओं की ओर उचित ध्यान नहीं दिया गया; जो लोग इन कलाओं की साधना करते थे उन्हें तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता था। पुरोहितों की पाठशालाओं में विद्या को रूढिबद्ध कर दिया गया था और यदि कोई धर्म-ग्रंथों की व्याख्या किसी भिन्न रूप से करने का साहस करता था तो उसे विधर्मी ठहराया जाता था। इस प्रकार लकीर का फ़कीर बने रहने को ही सबसे बड़ा गुण माना जाता था और इस कट्टरपंथी रवैये ने विचार-स्वातंत्र्य का गला घोंट दिया। वैदिक काल में स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने के जो अधिकार मिले हुए थे वे धीरे-धीरे उनसे छिन गये और वैश्यों तथा शूद्रों की

तरह ही उन्हें भी पुरोहितों के आदेशों द्वारा उन पर थोपी गयी निरक्षरता को स्वीकार कर लेना पड़ा। चूँकि सारा ध्यान संस्कृत की शिक्षा की ओर ही दिया जाता था इसलिए प्राकृत भाषाओं को उनका उचित स्थान प्राप्त न हो सका। उस समय संसार के सभी देशों की शिक्षण-पद्धतियों में यही दोष थे और चित्र को उसके पूर्ण रूप में देखते हुए हम कह सकते हैं कि प्राचीन भारतीय शिक्षण-पद्धति में यद्यपि अत्यंत गंभीर दोष थे पर उनका पलड़ा उसके गुणों से अधिक भारी नहीं था। उसकी कुछ विशिष्टताओं का, जैसे शिक्षक और छात्र के बीच वैयक्तिक संबंध और नैतिकता पर बल आदि का हम आज की बदली हुई परिस्थितियों में भी सफलतापूर्वक अनुसरण करके लाभ उठा सकते हैं। इसका सबसे महान योगदान उन सांस्कृतिक मानदंडों में निहित है जिन्हें उसने जन्म दिया तथा प्रसारित किया, वे मानदंड जो आज की बदली हुई स्थिति में भी सार्थक हैं, जबकि वे परिस्थितियाँ जिन्होंने उन संस्थाओं को जन्म दिया जिन्हें इन मानदंडों की स्थापना का श्रेय है और जिनके द्वारा इन मानदंडों को व्यावहारिक रूप प्राप्त हुआ, पहले जैसी नहीं रह सकतीं। ये मानदंड, जिनकी रचना और विकास में प्राचीन भारत की शिक्षण-पद्धति ने इतनी बड़ी और महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया, हमारे अतीत की महानतम धरोहर हैं।

## — ४ —

# धर्म तथा दर्शन

प्राचीन भारत को अपनी धार्मिक भावना तथा दर्शन के क्षेत्र में अपनी उपलब्धियों के लिए जो ख्यति प्राप्त है वह सर्वथा न्यायोचित है। सत्य की खोज बहुत लम्बी और बहुधा अत्यंत कष्टसाध्य रही है। विचारों के क्षेत्र में अनेक प्रयोग किये गये और बहुत कुछ उपलब्ध भी किया गया। परंतु सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह हुई कि जीवन के कुछ निश्चित मानदंड निर्धारित किये गये जिन्होंने भारतीय जीवन को सार्थकता और भारतीय प्रयास को एक उद्देश्य प्रदान किया।

भारतीय विचारधारा का विषय एक विस्तृत विषय है और उसके संबंध में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। एक अध्याय में इतने व्यापक विषय पर पर्याप्त रूप से प्रकाश नहीं डाला जा सकता। परंतु बहुधा सिंहावलोकन से पूरे विषय की मोटी-मोटी जानकारी प्राप्त करने में बहुत सहायता मिलती है और वह अधिक गहरे अध्ययन के लिए भूमिका का काम देता है। अगले पृष्ठों में भारतीय धर्म तथा दर्शन का संक्षिप्त सिंहावलोकन करने का प्रयत्न किया गया है।

बहुधा यह बात जोर देकर कही गयी है कि आधुनिक पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार दर्शन का जो अभिप्राय समझा जाता है भारतीय विचारधारा उस अर्थ में दर्शन नहीं है। यह व्याख्या है तो बहुत मर्मपूर्ण पर ऐसा लगता है कि बात को बहुत सरल बनाकर प्रस्तुत किया गया है। प्राचीन भारत में धर्म भी था और दर्शन भी। परंतु ऐसे उदाहरण शायद ही कोई हों जब धर्म और दर्शन का एक-दूसरे से संबंध न रहा हो; प्राचीन भारत की प्रायः हर विचारधारा का उद्देश्य एक मोक्ष-शास्त्र की रचना करने का था। दर्शन को केवल बौद्धिक अभ्यास नहीं समझा जाता था जिसका मनुष्य के आचरण से कोई संबंध न हो; इसका मूलभूत उद्देश्य अपने अनुयायी को मुक्ति का मार्ग दिखाने का था। दर्शन एक जीवन-पद्धति थी, विचार तथा कर्म की एक ऐसी विधि थी जिसका लक्ष्य मोक्ष के निश्चित ध्येय को प्राप्त करना था। यदि यह तर्क दिया जाये कि दर्शन को कोई ऐसी वस्तु न होकर जिस पर मनुष्य अनिवार्य रूप से अपने कर्मों को आधारित करे केवल विचारों की अभिव्यक्ति मात्र होना चाहिये, तब तो हमें यह मानना पड़ेगा भारत ने कोई दर्शन पैदा ही नहीं किया फिर भी इससे उसकी समृद्धि में कोई अंतर नहीं आया।

भारतीय धार्मिक विचार-धारा तथा धार्मिक विश्वास का इतिहास सिंधु घाटी की सभ्यता के काल से आरंभ होता है। मोहेनजोदड़ो तथा हरप्पा की खुदाई में जो पुरातत्व संबंधी अवशेष निकले हैं उनसे हमें उस सभ्यता के काल में रहनेवाले लोगों के धार्मिके विश्वासों का कुछ संकेत मिलता है। सिंधु घाटी की सभ्यता के निवासियों के धर्म के कुछ पहलू ये हैं कि वे एक ऐसे

देवता की पूजा करते थे जो शिव का ही दूसरा रूप था, वे एक देवी की पूजा करते थे जिसे हम देवीमाता कह सकते हैं और इसके अतिरिक्त वे वृक्षों, पशुओं तथा नदियों और पर्वतों की पूजा करते थे। हम पहले एक अध्याय में परवर्ती भारतीय धर्म में इसके अवशेषों का उल्लेख कर आये हैं इसलिए यहाँ विस्तारपूर्वक उसका उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं।

इसके बाद भारतीय धर्म के इतिहास में जो मंज़िल आयी उसका प्रतिबिंब ऋग्वेद के श्लोकों में मिलता है। इन श्लोकों में आर्य धर्म का जो वर्णन किया गया है उसके तीन मुख्य लक्षण हैं। आर्य अनेक देवताओं की उपासना करते थे जो वज्र, दामिनि तथा वर्षा आदि प्राकृतिक घटनाओं का साकार रूप थे। इन देवताओं को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है : अंतरिक्ष के देवता जैसे वरुण तथा मित्र; अधर के देवता जैसे इन्द्र; और पृथ्वी के देवता जैसे अग्नि। ये स्वर्गलोक के वासी थे, उन दिव्य विभूतियों में से थे जिनका निवासस्थल अंतरिक्ष था और जिनका गुण प्रकाश था। ये अमर थे, इनमें सौंदर्य, बुद्धिमत्ता, उदारता तथा सदाचार का वास था, वे सृष्टि के नैतिक नियम के रक्षक थे। धीरे-धीरे देवताओं के इस समूह में से कुछ को अधिक प्रधानता प्राप्त हुई और दो देवताओं का साथ आह्वान करने की भी प्रवृत्ति बढ़ती गयी। इन देवताओं में से वरुण, इंद्र तथा अग्नि विशेष रूप से श्रद्धा के पात्र थे।

वरुण की गणना अंतरिक्ष के देवताओं की श्रेणी में की जाती है और ऋग्वेद में जिन अनेक देवताओं का उल्लेख किया गया है उनमें वह सबसे अधिक दिव्य हैं। वह राजा हैं, सृष्टि के शासक हैं, सर्वशक्तिमान तथा अत्यंत नीतिपरायण देवता हैं। वह सर्वव्यापक, तथा सर्वज्ञ हैं, जीवन तथा मृत्यु के अधिष्ठाता हैं जिनके आदेशों का पालन सभी देवता तथा मनुष्य करते हैं। वह शील के अधिष्ठाता हैं और परमेश्वर के पद पर सुशोभित होने योग्य हैं।

इंद्र युद्ध के देवता हैं जिन्होंने वृत्र का वध करके जल को मुक्त किया। वज्र उनका अस्त्र और वायु उनका सारथी है। वह सोमरस के प्रेमी हैं और जघन्य दस्युओं के विरुद्ध विजय प्राप्त करने में आर्य योद्धाओं की सहायता करने को सदैव तत्पर रहते हैं। अग्नि अंधकार को दूर करनेवाले, निशाचरों, भूत-प्रेतों तथा रोगों को मार भगानेवाले देवता हैं। वह मनुष्य के मित्र हैं और देवताओं तथा मनुष्यों के बीच संवादवाहक का काम करते हैं। वह सर्वश्रेष्ठ पुरोहित, मध्यस्थ और न्यायाधीश हैं; जिस प्रकार इंद्र योद्धाओं के देवता हैं इसी प्रकार अग्नि पुरोहितों के देवता हैं। ऋग्वेद में मित्र, पूषन, मरुतों, रुद्रों तथा अश्विनों आदि अन्य प्रमुख देवताओं का उल्लेख मिलता है। देवियों में केवल प्रभात की देवी उषा का उल्लेख है, जिनकी वंदना में ऋग्वेद के कुछ सुंदरतम मंत्र लिखे गये हैं।

ये देवता उदार हैं और बलि से प्रसन्न होते हैं। आर्य तीन प्रकार की आहुति देते थे: दुग्ध तथा अन्न की, सोमरस की और पशुओं की बलि। जैसे-जैसे समय बीतता गया यह कल्प और विस्तृत होता गया और इसके चार रूप हो गये: स्तुति के रूप में बलि, कृतज्ञताज्ञापन के रूप में बलि, प्रायश्चित के रूप में बलि और जादू टोने के रूप में बलि। परंतु ऋग्वेद के समय तक यह कल्प काफ़ी सरल था यद्यपि कुछ अधिक महत्वपूर्ण यज्ञों में प्रवीण पुरोहितों की सहायता की स्पष्ट रूप से आवश्यकता होती थी।

ऋग्वैदिक धर्म की तीसरी विशिष्टता ऋत का नियम है। ऋत का सामान्य अर्थ है व्यवस्था और प्रकृति में वह व्यवस्था जिसके द्वारा दिन के बाद रात होती है, एक नियमित क्रम से ऋतुओं में परिवर्तन होता है और नदियों में प्रवाह आता है। ऋत सृष्टि, प्रकृति अर्थात् ब्रह्मांड का नियम है। इस संसार पर और देवताओं पर ऋत के नियम का ही शासन है और ऋत का उल्लंघन ही पाप है। ऋत का नियम प्रकृति की वह एकरूपता है जिसकी कल्पना हमारे प्रथम दार्शनिकों ने की थी, जिन्होंने अपनी इस भव्य परिकल्पना द्वारा प्रकृति की बहुरूपता को ऐसी एक रूपता में परिवर्तित कर दिया जो ब्रह्मांड की एकल आकांक्षा को प्रतिबिंबित करती थी।

इस प्रकार ऋग्वेदों ने हमारे लिए उन विविध सूक्ष्म उक्तियों को सुरक्षित रखा है जिनके द्वारा धार्मिक विचारधारा के क्षेत्र में एक प्रचंड रूपांतर होने लगा था। उसमें हम बहुदेववाद और प्रारंभिक अवस्था का अद्वैतवाद भी पाते हैं और साथ ही सभी वस्तुओं को देवताओं के रूप में देखने की दिशा में एक प्रवृत्ति भी मिलती है। परंतु इन सब पर एक उचित और सफल कल्प ढूँढ़ निकालने की निरंतर चिंता की कुछाया रहती थी। ब्राह्मणों में विचारधारा की इसी अवस्था का रहस्योद्घाटन किया गया है।

वेदों, ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदों को मिलाकर धार्मिक साहित्य का वह समूह बनता है जिसे हम श्रुति कहते हैं। वेद चार हैं : ऋक्, यजुस्, सामन् तथा अथर्व। पहले वेद में एक हज़ार से अधिक मंत्रों का संग्रह है जो दस मंडलों अर्थात् खंडों में बाँट दिये गये हैं। यजुर्वेद में यज्ञ की विधि का वर्णन किया गया है। सामवेद संगीतमय वेद है जिसमें यज्ञ के समय मंत्रों के उच्चारण के लिए उन्हें संगीतबद्ध कर दिया गया है। अंतिम वेद बिलकुल ही भिन्न प्रकार का है, जिसमें जादू-टोने, झाड़-फूँक, चिकित्सा-संबंधी सूत्रों, अध्यात्मवाद तथा दर्शन आदि सभी चीज़ों का मिश्रण है। ब्राह्मण वेदों से संबंधित उपासना की विधि का वर्णन करनेवाले धर्मग्रंथ हैं। जैसे उदाहरण के लिए ऐतरेय ऋग्वेद का ब्राह्मण है, छांदोग्य सामवेद का और शतपथ यजुर्वेद का। इन्हीं से आरण्यकों तथा उपनिषदों का भी संबंध है और ये सब मिलकर हमारे सामने भारत में आर्यों की प्रगति का रहस्योद्घाटन करते हैं।

ऋग्वेद तथा उससे संबंधित ऐतरेय ब्राह्मण की तुलना करने से तुरंत पता चल जाता है कि आर्य धर्म के विकास की इन दो अवस्थाओं की मूल भावना में कितना गहरा अंतर था। ऋग्वेद के श्लोकों की भावना तथा उनके उच्चारण में एक बालोचित सरलता है। वे सीधे जाकर मर्मस्थल को छू लेते हैं, उनमें एक सच्ची निष्ठा स्पष्ट झलकती है और उनकी शैली अत्यंत उदात्त है। ब्राह्मणों की भाषा बोझल है, उनमें सूत्रों को बार-बार दुहराया गया है और वे अर्थहीन पिटी-पिटायी उक्तियों से भरे पड़े हैं। कला का वर्णन समाप्त होने को ही नहीं आता और इसी प्रकार यज्ञ की सामग्री के बारे में भी जो कल्पनाएँ की गयी हैं उनका कोई अंत नहीं है। देवताओं को तो अलग रख दिया गया है और सारा जोर यज्ञ पर ही दिया गया है। कल्प में प्रयुक्त होनेवाली छोटी-से-छोटी वस्तु का, चाहे वह मिट्टी का पात्र हो अथवा होत्र या लकड़ी, एक निश्चित स्थान तथा उचित प्रयोग और महत्व है और निरंतर इसी बात की

ओर ध्यान रहता है कि कोई वस्तु अपने उचित स्थान से हट न जाये। यज्ञ ने वस्तुतः कार्य तथा कारण की प्रक्रिया का रूप धारण कर लिया था, जो जड़, भावनारहित, तथा यंत्रवत् होती थी। इस मार्ग पर आगे बढ़ते हुए विचारक शीघ्र ही अपने दार्शनिक क्षेत्र की सीमा पर पहुँच जाता है और फिर यज्ञ की रहस्यपूर्ण व्याख्या करने लगता है जो आरण्यकों का विषय है। यहाँ पहुँचकर यज्ञ का विचारों से कोई संबंध नहीं रह जाता, वह ब्रह्म महत्व धारण कर लेता है, और उसकी विविध प्रव्यंजनाएँ रहस्यमय महत्व से बोझल वाक्यों द्वारा व्यक्त होती हैं। इस लम्बी यात्रा में एक मोड़ आता है और राजा की वेदी को त्यागकर वन में आश्रम का आश्रय लिया जाता है जिसका वर्णन आरण्यकों में मिलता है। शीघ्र ही अंधकार दूर हो जाता है और ज्योति का प्रकाश फैलता है और उपनिषदों के वाक्यों में हम इसी ज्योति की आभा देखते हैं, जो कुछ अंश में आलोक है और कुछ अंश में केवल अनुमान।

उपनिषदों में १०० धर्मग्रंथ हैं। इनमें से एक दर्जन से अधिक हमारी दिलचस्पी के नहीं है। इन ग्रंथों को सामान्यतया बौद्ध-पूर्व काल का माना जा सकता है। 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ है "निकट बैठकर प्राप्त किया हुआ उपदेश", अर्थात् वैयक्तिक तथा गुप्त धर्मदीक्षा। इन ग्रंथों में व्यक्त किये गये विचार तथा उनके निष्कर्ष इतने साहसपूर्ण हैं कि उनके बारे में यह ठीक ही कहा गया है कि "भारतीय विचारधारा का ब्राह्मणों से उपनिषदों की विचारधारा में संक्रमण शायद दार्शनिक विचारों के इतिहास की सबसे उल्लेखनीय घटना है।"

उपनिषदों के विचारों के सौंदर्य तथा महत्व को इन ग्रंथों को वास्तव में पढ़े बिना समझना कठिन है। छांदोग्य उपनिषद् का एक उदाहरण देखिये :

"यही सब ब्रह्म है। मनुष्य को उसकी (दृश्य जगत की) इसी रूप में कल्पना करनी चाहिये कि वह इसी में (ब्रह्म में) जन्म लेता है, इसी में उसका अंत होता है और इसी में वह जीवित रहता है। इच्छा से मनुष्य की उत्पत्ति हुई। इस संसार में उसकी जो इच्छा होगी उसी के अनुसार उसे इस जीवन से सिधार जाने के बाद दूसरा जीवन प्राप्त होगा। इसलिए उसे अपनी इच्छा और आस्था को दृढ़ रखना चाहिये।

"प्रज्ञ, जिसका शरीर आत्मा है, जिसका रूप प्रकाश है, जिसके विचार सत्य हैं, जिसकी प्रकृति व्योम (सर्वव्यापी तथा अदृश्य) है, जो समस्त क्रियाओं, समस्त इच्छाओं, समस्त सुगंधों तथा स्वादों का स्रोत है; वह जिसमें इन सब गुणों का समावेश है, जो कभी बोलता नहीं जिसे कभी आश्चर्य नहीं होता।

"वह मेरी अंतरात्मा है, चावल के दाने से भी छोटी, जौ के दाने से भी छोटी, सरसों के दाने से भी छोटी, राई से भी छोटी। वही मेरी अंतरात्मा पृथ्वी से भी बड़ी है, आकाश से भी बड़ी है, स्वर्ग से भी बड़ी है, इन समस्त ब्रह्मांडों से बड़ी है...अंतरात्मा ही ब्रह्म है।"

यह उद्धरण उपनिषदों की विचारधारा के वास्तविक स्वरूप तथा उसके सारतत्व का पर्याप्त रूप से प्रतिनिधित्व करता है। इसमें वरुण, इंद्र या अग्नि का कोई उल्लेख नहीं किया गया है और न ही यज्ञ का कोई उल्लेख है। इसमें केवल ब्रह्म का उल्लेख किया गया है जो संसार की

छोटी-से-छोटी वस्तु से भी छोटा और सृष्टि की बड़ी-से-बड़ी वस्तु से भी बड़ा है; और उसका वास हमारे अंतरतम में है। पुराने यज्ञ-कल्प के निरर्थक बंधनों को सदैव के लिए भंग कर दिया गया। मनुष्य की दृष्टि जो अब तक पृथ्वी तथा आकाश पर जमी हुई थी अब उसके अंतरतम की ओर मोड़ दी गयी और उसके सामने आत्मा के एक नये जगत का रहस्योद्‌घाटन हुआ।

ब्रह्म क्या है? यह प्रश्न पूछना तो बहुत आसान है पर इसका उत्तर उतना आसान नहीं है। एक उद्धरण है : "कारण यह कि वास्तव में हर वस्तु ब्रह्म है। और यह आत्मा भी ब्रह्म है।" परंतु आत्मा क्या है? बताया गया है कि आत्मा वह है "जिसके द्वारा प्राणी रूप को देखता है, ध्वनि को सुनता है, सुगंधों को सूँघता है, वाणी को उच्चारित करता है और यह पता लगाता है कि कौन-सी चीज़ मीठी है और कौन-सी नहीं।" जैसा कि मृत्यु के देवता यम ने वजश्रव के पुत्र नचिकेतस को समझाया था : "आत्मा के बोध का न तो जन्म होता है और न मृत्यु ही; न तो उसकी उत्पत्ति किसी वस्तु से हुई और न उससे किसी वस्तु की उत्पत्ति होती है। पुरातन अजात है, नित्य है, शाश्वत है; यद्यपि शरीर का हनन हो जाता है पर उसका हनन नहीं होता।"

आप देखेंगे कि विषय-वस्तु को प्रस्तुत करने का ढंग अत्यंत रोचक है पर साथ ही वह कुछ चक्कर में भी डाल देता है। उपनिषदों में प्रायः हर जगह आत्मन् तथा ब्रह्मन् के विषय में तर्क-वितर्क किया गया है; इनका बार-बार उल्लेख किया जाता है और दोनों को एक दूसरे का पर्याय माना गया है। आत्मन् जीवात्मा है; और ब्रह्मन् परमात्मा है और जीवात्मा ही परमात्मा है। आत्मन् वह "विषय है जो हर परिवर्तन के बाद भी बना रहता है; जो जागृति, स्वप्न, निद्रा, मृत्यु, पुनर्जन्म तथा मोक्ष सभी अवस्थाओं में विद्यमान रहता है। यह वह मूलभूत सत्य है जिसे कोई नष्ट नहीं कर सकता। मृत्यु इसे छू भी नहीं सकती और न पाप से इसका लोप होता है। नित्यता, निरंतरता, ऐक्य और शास्वत क्रिया इसके लक्षण हैं। यह स्वतः एक पूर्ण जगत है। इसके बाहर कुछ है ही नहीं जिसे इसके विरुद्ध खड़ा किया जा सके।" अतएव आत्मन् मूलभूत सिद्धांत है—वह मनुष्य का आत्मा है। जो स्वप्न को देखता है, जो विचार को जन्म देता है, जो इच्छा को उत्पन्न करता है वह यही आत्मन् है, वह व्यक्ति का आंतरिक सार है।

इसके विपरीत ब्रह्म सृष्टि का "सार" है, वह ब्रह्म-सिद्धांत तथा ब्रह्म-शक्ति है जो हमारे सामने समस्त अस्तित्वधारी वस्तुओं के रूप में साकार होकर आती है; ब्रह्म ही सृजन करता है, वही पोषक है, वही संरक्षक है और वही अपने अंदर समस्त संसारों को ग्रहण कर लेता है—वह अनंत, नित्य तथा दैवी शक्ति है। वही समस्त जीवन का स्रोत है और जीवन की हर वस्तु अंततः उसी में विलीन हो जाती है, क्योंकि "जिससे इन वस्तुओं की उत्पत्ति होती है, उत्पन्न हो जाने के बाद वे जिनमें वास करती हैं और मृत्यु के बाद जिसमें विलीन हो जाती हैं, वही ब्रह्म है।" वही सत् है और आनंद है।

अतएव, आत्मन् और ब्रह्मन् आत्मनिष्ठ तथा वस्तुनिष्ठ हैं, वे मानस तथा ब्रह्म के सिद्धांत हैं; और वे समरूप है। 'तत् त्वम् असि'—तू यह है—यह उपनिषदों का आधारभूत कथन है।

यह एक क्रांतिकारी सिद्धांत और भारतीय दर्शनशास्त्र की सबसे महत्वपूर्ण प्रगति थी। एक ज़बर्दस्त झटके में ऋग्वेद के पुराने देवताओं को बहुत पीछे छोड़ दिया गया था और यज्ञ की लम्बी-चौड़ी औपचारिकताओं को निरर्थक कर दिया गया था। परंतु यह उपनिषदों के विचारों का केवल एक पहलू था। इसके एक दूसरे पहलू का, जो इतना ही शक्तिशाली था, इसके बाद के समस्त भारतीय धार्मिक जीवन के लिए अत्यधिक महत्व था। उपनिषदों में आत्मन् तथा ब्रह्मन् की एकता पर और इसके द्वारा समस्त जीवन की एकता पर ज़ोर दिया गया है। परंतु ऊपर छांदोग्य उपनिषद् का जो उद्धरण दिया गया है उसमें स्पष्टतः दो नये सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है: एक तो कर्म का सिद्धांत और दूसरा पुनर्जन्म का। ऋत के नियम ने ब्रह्मांड के नियम तथा व्यवस्था की ऐसी कल्पना प्रस्तुत की जिसमें हर वस्तु का अपना अलग स्थान और मार्ग था, कर्म के सिद्धांत ने इस सिद्धांतमूलक नियम को विस्तृत करके उसमें नये क्षेत्रों को सम्मिलित कर लिया, उसमें कर्म और उसके फल के "अटल" नियम का-प्रतिपादन किया गया और सुख-दुःख का सारा उत्तरदायित्व स्वयं मनुष्य पर रखा गया। उपनिषदों ने मनुष्य को अपनी इच्छानुसार स्वयं अपने सुख का विधाता या अपने हाथों अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारनेवाला बना दिया। परंतु यद्यपि मनुष्य अपने कर्मों के फल के वश में था पर वह कर्म के हाथों में निस्सहाय खिलौना नहीं था, क्योंकि इच्छा और कर्म दोनों वही करता है और इसलिए वह "कर्म से अधिक शक्तिशाली है।"

वेदों के अनुसार मनुष्य देवयान (देवताओं का निवासस्थान) तथा पितृयान (पूर्वजों का निवासस्थान) में विश्वास रखता था; उपनिषदों ने मनुष्य के कर्मों के अनुसार इस संसार में उसके पुनर्जन्म का सिद्धांत प्रतिपादित किया। यह विचार युगों से धीरे-धीरे विकसित हो रहा था और इसे उपनिषदों की विचारधारा में कर्म के सिद्धांत के एक आवश्यक अंग के रूप में सम्मिलित कर लिया गया। एक पत्ती से दूसरी पत्ती पर उड़कर जानेवाली टिड्डी की तरह या नित्य नये रूपों को जन्म देनेवाले स्वर्णकार की तरह, आत्मा भी कर्म की गति के अधीन एक योनि से दूसरी योनि में संक्रमित होती रहती है और नित्य नये रूप धारण करती रहती है; अंततः ज्ञान और चिंतन द्वारा बोध का जन्म होता है और फिर केवल ब्रह्म की एकता तथा नित्यता ही शेष रह जाती है। इसी को जीवनमुक्ति अर्थात् संसार से मुक्ति कहते हैं और यही सत्, चित् तथा आनंद का वह आदर्श है जिसे प्राप्त करने के लिए मनुष्य लालायित रहता है।

भारत में धर्म के सभी परवर्ती रूपों में कर्म तथा पुनर्जन्म के दो सिद्धांतों के मूलभूत महत्व को समझकर ही हम दार्शनिक विचार तथा परिकल्पना में उपनिषदों के विचारों के योगदान के महत्व का पूरी तरह मूल्यांकन कर सकते हैं। इस प्रकार उपनिषदों की शिक्षा का सार-तत्व आत्मा, ब्रह्म, कर्म तथा पुनर्जन्म नामक चार धारणाओं में निहित है। आत्मा और ब्रह्म जैसा कि पहले बताया जा चुका है, मानस तथा ब्रह्मांड के सिद्धांत हैं; कर्म का अर्थ है क्रिया और पुनर्जन्म जीवन तथा मृत्यु की वह प्रक्रिया है जिसके रूप में संसार (अस्तित्व) प्रदर्शित होता है। ये सिद्धांत वेदों तथा ब्राह्मणों में प्रतिपादित सिद्धांतों से इतने भिन्न और इतने साहसपूर्ण हैं कि उन्हें क्रांतिकारी कहना सर्वथा न्यायसंगत है। यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि

उपनिषद् के विचारों का जन्म ब्राह्मणों के क्षेत्र से बाहर हुआ और कर्म तथा पुनर्जन्म जैसे सिद्धांतों में अनार्य प्रभाव की स्पष्ट संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

उपनिषदों को वेदांत कहते हैं, अर्थात् वे उस दार्शनिक जिज्ञासा का चरम बिंदु हैं जो उस समय आरंभ हुई थी जब ऋग्वेद के रचयिता कवि ने यह मंत्र गाया था : "उस समय न आदि था न अंत, न वायु और न उसके उपरांत आकाश। फिर सब पर क्या व्याप्त था? यह सब किस पर आधारित था? अनंत जल-विस्तार में? उस समय न मृत्यु थी न अमृत्यु, न दिन और रात का यह क्रम ही था। ब्रह्मा शान्त तथा आत्मसंतुष्ट भाव से श्वास ले रहे थे; उसके आगे शून्य था।" और यह प्रश्न उठाया : "उस संसार की उत्पत्ति कहाँ से हुई, जिन हाथों ने इसका सृजन किया वे दैवी थे या नहीं—इसका उत्तर तो यदि कोई दे सकता है तो बैकुंठ में वास करनेवाला इसका स्वामी ही दे सकता है।" इस प्रश्न का उत्तर न तो आसान था और न तुरत ही दिया जा सकता था। इसके लिए कल्प के प्रति नये कष्टसाध्य दृष्टिकोण पर आधारित लम्बी खोज और इस सबके अर्थ पर गहरे मनन की आवश्यकता थी। इस खोज में ऐसे उल्लासपूर्ण क्षण भी आते थे जब इसका उत्तर बिलकुल सुलभ प्रतीत होता था, परंतु जब इस उत्तर का सार-तत्व इसके अलावा सिद्ध होता था तो नैराश्य इस उल्लास का स्थान ले लेता था। उसके बाद जीव तथा संसार का विश्लेषण आरंभ हुआ जिसके फल-स्वरूप यह पता लगा कि आत्मन् " वास्तव में आत्मनिष्ठ है, जो कभी वस्तुनिष्ठ का रूप नहीं धारण कर सकता। आत्मन् वह व्यक्ति है जो कि देखता है न कि वह वस्तु जो देखी जाती है। आत्मन् गुणों का वह समूह नहीं है जिसे "माम" कहते हैं बल्कि वह "अहं" है जो इन सबसे परे और पीछे रहता है और इन सब गुणों को देखता है।" और फिर इसके बाद एक सराहनीय अंतःप्रेरणा के प्रबल आवेग द्वारा यह पता चला कि यह आत्मा और ब्रह्म एक ही है और इस प्रकार इस लम्बी खोज का अंत हो गया।

आत्मा तथा ब्रह्म के एक ही होने का पता लगते ही मानो नैतिक विचारों का पूरा जटिल समूह देखते-देखते बदल गया। नैतिकता का आधार अब इस दृष्टिकोण में निहित था कि देवताओं की इच्छा का उल्लंघन करना या यज्ञ की विधि की ओर उचित ध्यान न देना पाप नहीं है बल्कि पाप उस आध्यात्मिक त्रुटि का परिणाम है जिसके द्वारा मनुष्य ब्रह्म में वास्तविकता की समष्टि के स्थान पर घटनाओं की व्यष्टि देखता है। नैतिक आचरण "स्वयं-सिद्ध" आचरण को कहा जाने लगा जिसमें स्वयं का अर्थ है "समस्त दुर्बलता तथा अश्लीलता, स्वार्थपरता तथा तुच्छता से परिपूर्ण अनुभवजन्य स्वयं नहीं है बल्कि मनुष्य का वह गूढ़तर स्वभाव है जो स्वार्थी वैयक्तिकता के समस्त बंधनों से मुक्त है।" उपनिषदों के युग के सुप्रभात का आगमन होते ही वे दिन लद गये जब पर्वतों पर वास करनेवाले और बादलों पर विचरण करनेवाले, दामिनि के साथ चमकने वाले तथा वज्रघोष के साथ गरजनेवाले निराकार देवताओं की कल्पना की जाती थी। अब मनुष्य ने उस ईश्वर को खोज लिया था जो उसके अंदर वास करता था और अब उसे ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ की वेदी तक जाने की आवश्यकता नहीं होती थी। क्योंकि कोई अपने आपको कैसे प्रसन्न कर सकता है, क्योंकि वह स्वयं ही तो

ईश्वर होता है। मनुष्य केवल उसका बोध प्राप्त कर सकता है, उसे अनुभव कर सकता है। इस प्रकार ज्ञान ने कल्प का और आंतरिक बोध ने यंत्रवत् कल्प-विधियों का स्थान ले लिया।

छठी शताब्दी ईसा-पूर्व को, जिस काल में कुछ उपनिषद् संकलित किये जा रहे थे, बौद्धिक उत्तेजना का युग ठीक ही कहा गया है। चारों ओर शंकाएँ फैली हुई थीं और भारत में हर व्यक्ति के मस्तिष्क में क्रांतिकारी विचार आंदोलित हो रहे थे। उपनिषदों में इस उत्तेजन तथा विप्लव का एक पक्ष ही मूर्त है जिसके द्वारा बहुदेववाद से अद्वैतवाद, ब्रह्मवाद तथा संसार की सभी वस्तुओं को देवता सदृश मानने के सिद्धांत तक की यात्रा पूरी की गयी। इसके कुछ ही समय बाद ब्राह्मणों के यज्ञों के दो और विद्रोह हुए। इन दो विद्रोहों के नेता थे महावीर जिन (विजेता) तथा गौतम बुद्ध। ये दोनों ही क्षत्रिय थे और लोक तथा परलोक के विषय में अपने सिद्धांत प्रतिपादित करने से पहले वे कुछ समय तक सिद्धांत-निर्धारण तथा तपस्या के निर्जन विस्तार में घूमते रहे। इन दोनों ही में संन्यासी संगठनों के रूप में अपने आंदोलन आरंभ किये परंतु शीघ्र ही दोनों धर्म-संस्थापक बन गये। वे दोनों ही महान व्यक्ति थे, जिनमें सच्ची लगन और मानववाद की भावना थी। प्राचीन भारत को महानता प्रदान करने वालों में उनका स्थान बहुत ऊँचा है। आइये, अब हम उनकी शिक्षाओं तथा उनके कार्य-कलाप का एक संक्षिप्त सिंहावलोकन करें।

गौतम बुद्ध ने अपना जीवन एक तपस्वी के रूप में आरंभ किया और तथागत के रूप में उनके जीवन का अंत हुआ। क्रमबद्ध तथा पूर्ण रूप में उनकी जीवनियाँ बाद की शताब्दियों में कल्पित की गयीं जिनमें ऐतिहासिक घटनाओं को पौराणिक कथाओं जैसी कल्पना से चमका दिया गया है। प्राचीनतम वृत्तांतों के अनुसार वह भारत तथा नेपाल की सीमा पर स्थित कपिलवस्तु के शाक्य शासक शुद्धोदन (जिसका शाब्दिक अर्थ होता है शुद्ध चावल) के पुत्र थे। गौतम का जन्म लुम्बिनी के वन में हुआ था; उनके जन्म के सात दिन बाद उनकी माता माया का देहांत हो गया। महाप्रजापति गौतमी ने, जो उनकी मौसी थीं और सौतेली माँ भी, उनका लालन-पालन किया। ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की थी कि गौतम संभवतः आगे चलकर संन्यासी हो जायेगा; इसे रोकने के लिए उनके माता-पिता ने, जो उनसे बहुत प्यार करते थे, उन्हें धन-ऐश्वर्य के वातावरण में घेरे रखने के लिए कुछ भी उठा न रखा। उनके लिए तीन महल बनवाये गये, एक गर्मियों में रहने के लिए, एक जाड़ों के लिए और तीसरा बरसात के लिए। इन महलों में गौतम रूपमती सुंदरियों तथा रागरंग के बीच अपना जीवन व्यतीत करते थे। बहुत छोटी अवस्था में ही उनका विवाह राहुलमाता के साथ कर दिया गया, जिन्हें बाद के उल्लेखों में यशोधरा कहा गया है। शीघ्र ही गौतम का जी चारों ओर बिखरे हुए इस धन-ऐश्वर्य से ऊब गया और वह अशांत तथा उद्विग्न रहने लगे। इसके बाद कई अवसरों पर बाहर सैर को जाते हुए उन्होंने रास्ते में एक बूढ़े, एक रोगी, एक शव और एक संन्यासी को देखा। इससे पहले उन्होंने ये दृश्य कभी नहीं देखे थे। इन्हें देखकर उनका मन भोग-विलास से विमुख हो गया और वह इस लोक तथा परलोक की मूलभूत समस्याओं के बारे में विचार करने लगे। उन्होंने जीवन के रहस्य का पता लगाने का संकल्प किया और जब

उन्हें यह समाचार मिला कि उनके पुत्र उत्पन्न हुआ है तो उनका यह संकल्प और भी दृढ़ हो गया। उसी संध्या को जब पृथ्वी पर अंधकार छाने लगा, गौतम ज्ञान की खोज में निकल पड़े। रत्नजटित शयनकक्ष में सोई हुई अपनी पत्नी तथा नवजात पुत्र को अंतिम बार देखकर वह नगर की सीमाओं से बाहर निकल गये। गौतम ने निर्णयकारी पग उठा लिया था और वह स्त्रियों तथा पुरुषों, राजकुमारों तथा भिखारियों, सुखी तथा दुःखी लोगों के जगत को त्याग कर अपने पथ पर अग्रसर हुए थे। वह अब संन्यासी हो गये थे और राजकुमार की वेश-भूषा त्यागकर उन्होंने तपस्वियों का जोगिया बाना धारण कर लिया था। यह उनका महाभिनिष्क्रमण था, जिसके बारे में आगे चलकर अनेक नाटक तथा कहानियाँ लिखी गयीं। क्या वह जीवन से पलायन कर रहे थे? इस प्रश्न का उत्तर "हाँ" में देना गौतम की इस भव्य तीर्थयात्रा को गलत ढंग से समझना होगा। उन्होंने निर्जन वनों में भ्रमण करने के लिए सांसारिक जीवन को त्याग दिया था। वह जीवन को अधिक अच्छी तरह देखने के लिए उससे अलग हो गये थे, बिल्कुल उसी प्रकार जैसे किसी प्राकृतिक दृश्य को ज्यादा अच्छी तरह देखने के लिए हम पहाड़ी पर चढ़कर उसे दूर से देखते हैं।

संन्यास ग्रहण करने के बाद गौतम ने पहला लक्ष्य अपने सामने यह रखा कि वह जीवन को समझेंगे और यह मालूम करेंगे कि इस जीवन के उपरांत क्या है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह अनेक आचार्यों से मिलने और अनेक तर्क-वितर्क सुनने को तत्पर थे। इस दिशा में सचेष्ट रहकर उन्होंने बारी बारी से आलार कालाम तथा उद्दक रामपुत्त नामक दो गुरुओं से शिक्षा प्राप्त की। परंतु जब उनसे भी उन्हें संतोष न हुआ तो उन्हें छोड़कर उन्होंने कुछ समय तक कठोर तपस्या की। उन्हें पता लगा कि कोरी तपस्या सर्वथा व्यर्थ ही नहीं बल्कि उससे भी बदतर है। इसके बाद सत्य की और अनन्य शान्ति के श्रेष्ठ मार्ग की खोज में भटकते हुए वह उरुवेला नामक नगर में पहुँचे जहाँ वह अश्वत्थ वृक्ष के नीचे निर्वाण के गंभीर मनन की मुद्रा धारण करके बैठ गये। वहाँ उन्होंने इस संसाररूपी सर्वव्यापी विपदा के कारणों पर विचार किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इस सबकी जड़ मोह है। अज्ञान, मोह, तथा लोभ वह ईंधन हैं जिनके द्वारा मनुष्य की कामनाएँ सृष्टि में आग लगा देती हैं और इस जलते हुए घर से जिसे संसार कहते हैं निकलने का एकमात्र मार्ग निर्वाण है। उन्हें बोधप्राप्ति हुई थी और निर्वाण मिल गया था।

इस युगांतरकारी घटना के शीघ्र ही बाद गौतम इस नये जीवन का प्रचार करने लगे जिसका उन्होंने पता लगाया था। पैंतालीस वर्ष तक वह एक स्थान से दूसरे स्थान घूम-घूमकर इसका प्रचार करते रहे और इसी समय में उन्होंने अपने संघ को कई प्रकार से एक अनोखी धार्मिक शक्ति के रूप में संगठित कर लिया। तदुपरांत ८० वर्ष की अवस्था में अपने शरीर को अंतिम बार विश्राम देने के लिए वह कुशिनारा के दो शाल वृक्षों के बीच लेट गये और निर्वाण को प्राप्त हुए। । "सभी वस्तुओं में ह्रास निहित है, अपने मोक्ष के लिए सतत सचेष्ट रहो," उनकी मृत्यु-शय्या के चारों ओर एकत्रित शिष्यों को यह उनका अंतिम उपदेश था। यह घटना ४८३ ई० पू० की या कट्टरपंथी बौद्ध वाङ्मय के अनुसार ५४३ ई० पू० की है।

इस प्रकार उस महान विभूति का अंत हो गया; ऐसी विभूति एक राष्ट्र के जीवनकाल में इस पृथ्वी पर दुबारा जन्म नहीं लेती। पाली पुस्तकों में हमें उनका जो वर्णन मिलता है उनके अनुसार उनकी आकृति अत्यंत सौम्य थी तथा उनके मुख पर राजसी तेज था। उनका स्वर अत्यंत मधुर और गुंजनमय था और उनके मुख पर सदैव एक ऐसी चमक और आभा रहती थी जो अनन्य शांति का ही परिणाम हो सकती है। वह अत्यंत विनम्र तथा शील स्वभाव के थे; बहुत उकसाने पर भी वह अपने इस स्वभाव से विचलित नहीं होते थे। वह वार्तालाप तथा शास्त्रार्थ की कला में निपुण थे; कहानी सुनाने का ढंग भी उन्हें बहुत अच्छा आता था। वह अत्यंत रोचक तथा व्यंगात्मक कहानियाँ सुनाते थे जिनमें कोई न कोई स्पष्ट नैतिक उपदेश छुपा होता था। वह पुरोहित-वृत्ति के निर्भिक आलोचक थे और यज्ञ के कल्प को तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे; उनके हृदय में यज्ञ के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी। राजमहल से बाहर निकलकर वह जनता में बिल्कुल घुलमिल गये; निर्धन चरवाहे की झोपड़ी का वातावरण भी उनके लिए उतना ही सुखकर था जितना कि श्रावस्ति के महाजन अनाथपिंडिक की बैठक का। गाँव-गाँव, नगर-नगर घूमकर वह जन-साधारण से उन्हीं की भाषा में बात कहते और इस ढंग से बात कहते कि सबकी समझ में आसानी से आ जाती। आडम्बर से उन्हें घृणा थी और अज्ञान पर उन्हें क्षोभ होता था; वह भोग-विलास की तीव्र आलोचना करते थे और व्यर्थ तपस्या के विरुद्ध चेतावनी देते थे। गौतम ने अष्टांगिका मार्ग का प्रचार किया और भारत के जीवन में नयी सृजनात्मक शक्तियों को उन्मुक्त कर दिया। उनके अनेक कथनों में हम एक विवेकपूर्ण विचारक और एक दृढ़संकल्प सुधारक का रूप देखते हैं; एक ऐसे राजकुमार का रूप देखते हैं जो धार्मिक परिव्राजक बन गया, एक ऐसा दार्शनिक जो नीति-प्रचारक बन गया। इस पृथ्वी पर अपने ८० वर्ष के जीवन में गौतम ने नीतिपरायणता, प्रभावशाली दार्शनिकता तथा सराहनीय कलात्मक उपलब्धियों के युग का श्रीगणेश किया।

गौतम ने जिस बौद्धमत का प्रचार किया वह जीवन के एक महान दर्शन की सरलता तथा उदात्त कल्पना से परिपूर्ण था। उन्होने कहा है जीवन संताप है; जीवन के पार सुख है। उनके 'प्रतीत्य समुत्पाद' के सिद्धांत में कार्य-कारण के रूप में अस्तित्व की घटना की व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया है। उन्होंने कहा है, कर्म जीवन का बंधक-सूत्र है और कर्म इच्छा से उत्पन्न होता है जिसका स्रोत अज्ञान है। इस बात को समझ लेना ही अज्ञान से मुक्ति है कि यह सब कुछ, इसकी उत्पत्ति, इसका अंत और इसको अंत करने का उपाय संताप है। यही उनके चार उदात्त सत्य हैं। इस अष्टांगिका मार्ग में ये आठ चीज़ें हैं: सत्य विचार, सत्य संकल्प, सत्य वाणी, सत्य आचरण, सत्य जीविका, सत्य प्रयास, सत्य चेतना तथा सत्य साधना—सारांश यह कि यह मार्ग सील (चरित्र), समाधि (मानस), तथा पण्णा (बुद्धि) के प्रशिक्षण का मार्ग था। वह कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धांतों में पूरी तरह विश्वास करते थे पर उनका यह मत था कि आत्मा में विश्वास करने का कोई बुद्धिसंगत कारण नहीं है। उन्होंने तर्क को आत्मबोध के स्थान पर स्थापित किया और मनुष्य को स्वयं अपना भाग्यविधाता बना दिया। उन्होंने घोषणा की कि यदि मनुष्य के विचार शुद्ध हों और काम-क्रोध, रागद्वेष तथा

माया-मोह से मुक्त हों और उसके वचन तथा कर्म भी ऐसे ही हों तो उसे न देवताओं के आगे बलि चढ़ाने की आवश्यकता है और न गंगा में नहाने की क्योंकि मन चंगा तो कठौती में गंगा। उन्होंने अपने अनुयायियों को जिन नियमों का पालन करने का आदेश दिया है उनके अनुसार उन्हें त्याग, शुचिता तथा नैतिकता का जीवन व्यतीत करना चाहिये; इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने से निर्वाण अर्थात् काम तथा संताप का पूर्ण विनाश निश्चित हो जाता है।

गौतम का लक्ष्य मानव था, वे मनुष्य नहीं जो अलग-अलग वर्गों तथा जातियों में बँटे हुए थे, जिनमें सामाजिक ऊँच-नीच की भावना थी और जिनमें कुछ लोगों को आर्थिक विशेषाधिकार प्राप्त थे। वह इस बात पर ज़ोर देते थे कि मनुष्य के गुणों की कसौटी उसका आचरण है। उनके निकट जाति-व्यवस्था एक प्रकार के सामाजिक दंभ की अभिव्यक्ति थी। उन्होंने अपने संघ के द्वार ब्राह्मणों तथा शूद्रों सभी के लिए खोल दिये और उनके संघ में महत्वाकांक्षा तथा सफलता के क्षेत्र में पूर्ण समता थी। यह विकासोन्मुख ब्राह्मणवाद तथा आर्य समाज-सोपान दोनों ही के लिए एक महान चुनौती थी जिन्होंने अपनी सुरक्षा के लिए अपने चारों ओर अधिकारों तथा विशेष सुविधाओं का एक जाल लगा रखा था। प्रारंभिक बौद्धमत का यही सामाजिक महत्व था जिसने कि जन-साधारण को शिक्षा तथा आत्म-संस्कृति के लिए अवसर प्रदान किये।

बौद्ध भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों के संघ का संगठन उस युग के धार्मिक जीवन में एक महान प्रयोग था। कदाचित उस समय इस प्रकार के संघ के अनेक रूप विद्यमान रहे होंगे क्योंकि संन्यासियों तथा धार्मिक परिव्राजकों के ऐसे अनेक दल थे जिसके बीच गौतम उन दिनों में, जो उन्होंने वनों में बिताये थे, खूब घूमे-फिरे होंगे। इस प्रकार के अनेक गणों तथा संघों के अनुशासन के अपने नियम थे। हमें इस प्रकार के छः दलों का उल्लेख मिलता है जिसके नेता सञ्जय, अज्त, पकुध अथवा ककुध आदि गुरु थे। इसलिए धार्मिक परिव्राजकों का इतिहास बौद्धमत के उत्थान से फ़ौरन पहले के समय से भी बहुत पुराना है। परंतु बौद्ध धर्म-पद्धति की विशिष्टता इस बात में थी कि बौद्ध संघ में अभूतपूर्व एकता थी और वह धार्मिक जीवन में अधिकतम संघटन का प्रतिनिधित्व करता था।

जैसे-जैसे समय बीतता गया संघ में प्रवेश करने तथा धर्म-दीक्षा प्राप्त करने के कुछ निश्चित नियम बना दिये गये। बौद्ध संघ का अपने सदस्यों के आचरण पर पूरा नियंत्रण था और इस नियंत्रण को प्रभावक बनाने के लिए संघ को ऐसे अनेक नियमों तथा शक्तियों से सशस्त्र कर दिया गया जिनके द्वारा किसी भी परिस्थिति का सामना किया जा सके। इस प्रकार के संगठन की सहायता से, जो संसार के धर्मों के इतिहास में अपने प्रकार का पहला संगठन था, बौद्धमत बड़ी तेज़ी से पूरे भारत तथा एशिया में फैल गया।

बौद्धमत के धार्मिक इतिहास में अनेक उतार-चढ़ाव आये। इस मत के संस्थापक की मृत्यु के शीघ्र ही बाद राजगढ़ में उनके अनुयायियों का एक सम्मेलन हुआ जहाँ विनय (अनुशासन) के सिद्धांत तथा नियमों पर विचार-विनिमय हुआ तथा उन्हें संहिता का रूप दे

दिया गया। लगभग एक शताब्दी बाद कुछ मतभेद पैदा हो गये और "विधर्मिता" के विरुद्ध लड़ने के उद्देश्य से वैशाली में दूसरा सम्मेलन हुआ। हमें इस बात का उल्लेख मिलता है कि इस सम्मेलन में बौद्धमत अनेक पंथों में विभाजित हो गया। अशोक के शासनकाल में इस धर्म के सिद्धांतों तथा विनय के नियमों पर पुनर्विचार के लिए पाटलिपुत्र में एक और सम्मेलन हुआ क्योंकि संघ के सामने इस बात का संकट उत्पन्न हो गया था कि उसकी मौलिक शुद्धता कहीं नष्ट न हो जाये। परंतु विद्वान इन सब सम्मेलनों को ऐतिहासिक नहीं मानते हैं। कहा जाता है कि कनिष्क के शासनकाल में गांधार में एक चौथा सम्मेलन हुआ जिसमें नयी विचारधारा के कुछ धर्मग्रंथ संकलित किये गये। बौद्धमत अब दो मुख्य शाखाओं में विभाजित हो गया था—थेरवाद तथा महायान। पहली शाखा अर्थात् थेरवाद, कट्टरपंथी विचारधारा होने का दावा करती थी और बौद्ध ग्रंथों के पाली के संशोधित संस्करणों का अक्षरशः पालन करती थी। बौद्धमत सिद्धांतमूलक ग्रंथ तीन श्रेणियों में विभाजित थे: विनय (अनुशासन), सुत्त (सदाचार संबंधी आख्यान) और अभिधम्म (दर्शन)। प्रख्यात धम्मपद और लोक-कथाओं का वह संग्रह जिसे जातक कहते हैं, दूसरी श्रेणी में आते हैं। महायानपंथियों ने संस्कृत में बौद्धमत की अपनी अलग ग्रंथावली बना ली जिन्हें सूत्र तथा शास्त्र कहते थे, जिनमें प्रज्ञापारमिता समूह के ग्रंथों को अत्यंत प्रमुख स्थान प्राप्त है। कट्टरपंथी तथा नयी विचारधाराओं में मुख्य मतभेद बुद्ध के स्वरूप, बोधिसत्व (भावी बुद्ध) के स्थान तथा तत्संबंधी सिद्धांतों के विषय में था। महायान का प्रसार उत्तर में अधिक हुआ और शीघ्र ही उसमें अध्यात्मवादी तथा तांत्रिक तत्वों का समावेश हो गया। बुद्ध तथा बोधिसत्व को त्राता माना जाने लगा और निर्वाण की पुरानी परिकल्पना के स्थान पर, जो बहुत नीरस और अबोधगम्य प्रतीत होती थी, वैभवशाली स्वर्गों की नयी कल्पनाएँ की गयीं। जैसे-जैसे महायान का विकास होता गया वैसे-वैसे एक ओर तो पुराणों में वर्णित हिंदूमत से और दूसरी ओर भक्ति तथा शैव पंथों से उसका अंतर बहुत कम होता गया; और नालंदा जैसे विद्या के केंद्रों के नष्ट हो जाने तथा बौद्ध भिक्षुओं के वहाँ से भाग जाने के बाद धीरे-धीरे बौद्धधर्म का हिंदूमत में समावेश हो गया। इस प्रकार एक ऐसे शक्तिशाली आंदोलन का अंत हुआ जिसने अपने अस्तित्वकाल में महान दर्शन, साहित्य तथा कला को जन्म दिया था और प्राचीन भारतीय संस्कृति के मानदंड निर्धारित करने में बहुत योग दिया था।

बौद्धमत भारत में बड़ी तेज़ी से और बड़े व्यापक क्षेत्र में फैला और फिर अंततः इस देश से, जहाँ उसकी नींव पड़ी थी, उसका नाम-निशान भी मिट गया। परंतु जैनमत की प्रगति इससे भिन्न रही। भारत के विस्तार में जैनमत की प्रगति इतनी आश्चर्यजनक गति से नहीं हुई पर वह आज तक एक सप्राण धर्म के रूप में विद्यमान है जबकि बौद्धमत हमारे प्राचीन इतिहास का एक अंग बन चुका है। जैनमत के संस्थापक वैशाली के कुंदपुर उप-नगर के सिद्धार्थ नामक एक अभिजात नागरिक के पुत्र वर्धमान महावीर थे। उस समय के शासक अभिजात वर्ग के साथ सिद्धार्थ के घनिष्ठ संबंध थे क्योंकि उनकी पत्नी त्रिशाला वैशाली के राजा की बहन थीं। वर्धमान का विवाह यशोदा के साथ हुआ था और उनके अनोज्जा नाम की

एक पुत्री थी जिसका दूसरा नाम प्रियदर्शना भी था; उसका विवाह जमालि के साथ हुआ था। २८ वर्ष की अवस्था में महावीर ने सत्य की खोज आरंभ की और १२ वर्ष तक घोर तप किया। इस अवधि के बाद वह केवलिन् कहलाने लगे, अर्थात् वह जिसमें कोई दोष न हो। अपने जीवन के अंतिम ३० वर्ष उन्होंने लोगों में अपने सिद्धांतों का प्रचार करने तथा संन्यासियों का एक संघ संगठित करने में व्यतीत किये। कुछ वर्षों तक मक्खलि गोसाल, जो उस समय के बहुत बड़े दार्शनिक थे, उनके निकट सहयोग में काम करते रहे परंतु सिद्धांतों पर मतभेद हो जाने के कारण उनकी मित्रता समाप्त हो गयी।

महावीर बुद्ध के समकालीन थे पर उनसे कुछ बड़े थे। उन्होंने अपरिग्रह की शिक्षा दी, अर्थात् माया-मोह से विरक्ति, प्राणिमात्र के प्रति दया और निष्कलंक सदाचार। बुद्ध की तरह उन्होंने भी उस समय प्रचलित कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धांतों को स्वीकार किया परंतु आत्मा के संबंध में उनके और बुद्ध के सिद्धांतों में मतभेद था। उपनिषदों में कहा है कि आत्मा एक है, नित्य है; उसका न कोई आदि है न अंत है और न उसमें कोई परिवर्तन ही होता है। इसके विपरीत जैनों का यह मत है कि आत्मा का स्वरूप चिरंतन अथवा अपरिवर्तनशील नहीं है और वह "उत्पत्ति, विकास तथा विनाश के अधीन है।" इस सिद्धांत को वे अनेकांतवाद कहते हैं जिसका तर्क यह है कि जिस वस्तु का अस्तित्व होता है वह केवल अपने पदार्थ की दृष्टि से स्थायी होती है परंतु उसके गुण उत्पन्न होते हैं तथा नष्ट होते हैं। पदार्थ (भूत) का अस्तित्व पदार्थ के रूप में ज्यों का त्यों बना रहता है पर उसकी आकृति और गुणों में परिवर्तन होता रहता है। आत्माएँ पदार्थ से भिन्न होती हैं और जिस शरीर (काया) में वे वास करती हैं उसके अनुसार उनका आकार बदलता रहता है। चेतना उनकी लाक्षणिकता है जो अविनाशी है। आत्माएँ जब तक इस संसार में रहती हैं तब तक वे इस संसार के प्राणियों के शरीर में मूर्त रहती हैं और पुनर्जन्म के अधीन रहती हैं परंतु जब वे मुक्त हो जाती हैं तो वे पूर्णता को प्राप्त हो जाती हैं। कर्म आठ प्रकार के बताये गये हैं और समस्त कर्म से मुक्त हो जाने, कोई नया कर्म ग्रहण न करने और केवलिन् की अवस्था को प्राप्त हो जाने को सर्वोच्च लक्ष्य बताया गया है।

उसी समय जब उपनिषदों में ब्रह्मवाद तथा संसार की सभी वस्तुओं को देवताओं के रूप में देखने के विचारों का विकास हो रहा था, एक नये धार्मिक आंदोलन की भी नींव पड़ रही थी जो अगली शताब्दियों में चलकर वैष्णव मत के नाम से प्रख्यात हुआ। यह कहा गया है कि "वासुदेव की उपासना उसी बौद्धिक उथल-पुथल का परिणाम रही होगी जिसने बौद्धमत तथा जैनमत को जन्म दिया था, परंतु धार्मिक सुधार के रूप में इसका आधार अधिक रूढ़िगत सिद्धांत पर था।" मूलतः क्षत्रियों के एक आंदोलन के रूप में आरंभ होकर वासुदेव उपासना ने पशुओं की बलि की निंदा की और भगवत् (स्वामी, प्रभु) की भक्ति को मोक्ष का मार्ग बताया; इसीलिए इसका दूसरा नाम भागवत-धर्म भी है। इस पंथ के केंद्रीय पात्र वासुदेव कृष्ण महाभारत में अर्जुन के मित्र, परामर्शदाता तथा मार्ग-दर्शक के रूप में आये हैं। वह वृष्णि जाति की संतान थे और सातवत गोत्र के थे। छांदोग्य उपनिषद् में घोर अंगिरस के

शिष्यों में कृष्ण देवकीपुत्र नामक एक शिष्य का उल्लेख आता है परंतु यह स्पष्ट नहीं है कि वही भागवत-धर्म के संस्थापक थे या नहीं। परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि ४०० ई० पू० तक वासुदेव-पूजा काफ़ी व्यापक रूप से फैल गयी थी और इसका उल्लेख संस्कृत के व्याकरणाचार्य पाणिनि के यहाँ और पाली भाषा के सुत्तनिपात नामक धर्मग्रंथ की टीका 'निद्देस' में भी मिलता है। दूसरी शताब्दी ईसा-पूर्व के व्याकरणाचार्य पतञ्जलि ने इस बात का उल्लेख किया है कि कभी-कभी कंस-वध के बारे में नाटक खेले जाते थे, जिनसे पता चलता है कि उस समय तक कृष्णगाथा व्यापक रूप से प्रचलित हो चुकी थी। १५० ई० पू० तक भागवत-धर्म इतने सुदृढ़ रूप से स्थापित हो चुका था कि हीलियोडोरस जैसी विदेशी विभूतियाँ भी, जो शुंग राजा भागभद्र के दरबार में अंताल्किदास का यूनानी राजदूत था, इसकी ओर आकर्षित होने लगीं। हीलियोडोरस भागवत-धर्म का अनुयायी हो गया और उसने अपने इस धर्म-परिवर्तन की स्मृति में मध्य भारत में बेसनगर नामक स्थान में गरुड़ स्तंभ की स्थापना करायी। लगभग उसी समय के घोसुंडी शिलालेख में हमें भागवत गजायन द्वारा "भगवत्, संकर्षण तथा वासुदेव की उपासना के लिए बनवाये गये एक पत्थर के घेरे" का उल्लेख मिलता है; इससे हमें सुस्पष्ट शब्दों में यह पता चलता है कि भागवत देवताओं की मूर्ति-पूजा का प्रचलन व्यापक रूप से हो चुका था।

इस नये धार्मिक मत का प्रचार, जिसकी उत्पत्ति अवश्य ही मथुरा के क्षेत्र में हुई होगी, कृष्ण ने किया था और उनकी जातिवालों ने इसे अपना लिया। इसमें दयालु तथा सर्वद्रष्टा ईश्वर की भक्ति के महत्व पर ज़ोर दिया गया है। जैसे-जैसे यह आंदोलन ज़ोर पकड़ता गया वैसे-वैसे पुरोहित वर्ग ने बौद्धमत तथा जैनमत के बढ़ते हुए अतिक्रमण का सफलतापूर्वक मुक़ाबला करने के लिए उसके साथ मिल जाने का प्रयास किया होगा; और इस परिस्थिति में कृष्ण तथा विष्णु को एक दूसरे का पर्याय समझा जाने लगा होगा। यह लिखा गया है कि "पुरोहित वर्ग ने धार्मिक क्षेत्र में अपने नेतृत्व को सुरक्षित रखने के लिए कृष्ण-वासुदेव का सहारा लिया, जो एक लोकप्रिय देवता थे और उन्हें पुराने ऋग्वैदिक सौर-देवता विष्णु का पर्याय बना दिया। ब्राह्मणवाद को विजय प्राप्त करने के लिए नीचे झुकना पड़ा; उसने उन लोकप्रिय मतों को अपने अंदर स्थान दिया जिन्हें जड़ से उखाड़ फेंकने की उसमें शक्ति नहीं थी। एक देवता को दूसरे देवता का पर्याय बना देने की प्राचीन सीधी-सादी विधि इस लक्ष्य को प्राप्त करने का साधन बन गयी।"

इस उद्देश्य के लिए कदाचित विष्णु सबसे उपयुक्त देवता थे। ऋग्वेद में विष्णु का उल्लेख महत्वपूर्ण देवताओं में नहीं किया गया है और बहुधा उनका उल्लेख इंद्र के साथ ही किया गया है, विशेषरूप से वृत्रासुर के विरुद्ध इंद्र के युद्ध के प्रसंग में। ऐसा प्रतीत होता है कि विष्णु को जगत का प्रतिपालक माना जाता था और धीरे-धीरे वह जन-साधारण के लोकप्रिय देवता बन गये होंगे। ब्राह्मणों की रचना के काल में ही विष्णु को सर्वश्रेष्ठ देवता माना जाने लगा था; वह तीन पग में सारी सृष्टि को नाप लेने के लिए प्रख्यात हो चुके थे। मनुष्य की आत्मा अपनी यात्रा पूरी करके जिस स्थान पर पहुँचती है उसे कठोपनिषद् में विष्णु का

सर्वोच्च स्थान कहा गया है। इस प्रकार वासुदेव-कृष्ण तथा विष्णु का विकास समानांतर मार्गों पर हुआ और इसलिए दोनों को एक ही समझना अनिवार्य था।

वासुदेव-कृष्ण को नारायण का भी पर्याय माना गया है, जिसका संबंध सृष्टि की रचना से पहले के महोदधि से था। वैदिक साहित्य में सृष्टि की रचना के संबंध में जो कथाएँ हैं उनमें जल की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है और नारायण ने इसमें सृजनकारी भूमिका का निर्वाह किया। शतपथ ब्राह्मण में नारायण को सर्वव्यापी कहा गया है जिससे पता चलता है कि उन्होंने परमात्मा का पद प्राप्त कर लिया था। इस प्रकार परवर्ती ब्राह्मण-काल में नारायण बढ़ते-बढ़ते परमात्मा के पद पर पहुँच गये थे और वासुदेव-कृष्ण का उत्थान हुआ तो दोनों को एक माना जाने लगा। इस प्रकार भागवद्धर्म में भगवत् के अतिरिक्त विष्णु तथा नारायण को भी सम्मिलित कर लिया गया।

उपनिषदों में जो परिकल्पनाएँ मूर्त हैं उन्हीं में भागवद्धर्म की दार्शनिक विचारधारा के स्रोत मिल सकते हैं। कर्म, आत्मा तथा ईश्वर इसके तीन मुख्य आधार हैं। निष्काम कर्म पर बल दिया गया है और आत्मा को नित्य तथा अविनाशी माना गया है। ईश्वर सब पर प्रेमदृष्टि रखनेवाली, सर्वशक्तिमान आत्मा है जो मनुष्य की विपदा और उसके अज्ञान पर विचलित हो उठती है। वासुदेव "परमात्मा हैं, समस्त आत्माओं की आत्मा हैं। वह समस्त सृष्टि के विधाता हैं। संकर्षण, जो वासुदेव का एक रूप है, सभी प्राणियों का प्रतिनिधित्व करते हैं।" भागवद्धर्म अद्वैतवादी धर्म है, जिसमें ईश्वर की श्रद्धा, भक्ति तथा उपासना को मोक्ष का साधन बताया गया है। दूसरी शताब्दी ईसा-पूर्व तक वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के चार व्यूहों का सिद्धांत विकसित हो चुका था और गुप्तकाल के उदय होने के समय तक वैष्णवमत एक ऐसा धर्म बन चुका था जिसके अनुयायियों की संख्या बहुत अधिक थी।

यदि वासुदेव-कृष्ण भक्ति-मार्ग के प्रवर्तक हैं तो भगवद्गीता इसकी धर्म-पुस्तक है। कदाचित किसी दूसरी पुस्तक को भारत में इतने युगों में गीता की इतनी लोकप्रियता प्राप्त नहीं हुई। इस देश में असंख्य पीढ़ियों ने गीता को सम्मानपूर्वक जो श्रद्धा अर्पित की है वह सर्वथा उसके योग्य है। वह एक अत्यंत सुंदर काव्य-रचना है, उसकी शैली अत्यंत उदात्त और उसका संदेश अत्यंत मार्मिक है। इसका स्वरूप और विस्तार ऐसा है कि भारतीय दर्शन में जो कुछ भी चिरंतन महत्व का है उसको इसने अपने में समा लिया है और इस प्रक्रिया के दौरान में उन परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों का सराहनीय ढंग से संश्लेषण कर दिया है जो इस पुस्तक की रचना से पहले विभिन्न युगों में विकसित हुए थे।

गीता महाभारत का एक भाग है और उसकी पृष्ठभूमि कुरुक्षेत्र की रणभूमि है। कौरव और पांडवों की सेनाएँ भयंकर रक्तपात के युद्ध द्वारा अपने परस्पर-विरोधी हितों को प्राप्त करने का दृढ़ संकल्प लेकर एक दूसरे के सामने डटी हुई हैं। शत्रु के पक्ष पर जब अर्जुन दृष्टि डालते हैं तो उस जन-समुदाय में उन्हें ऐसे लोग दिखाई देते हैं जिनका वह अपने बड़े-बूढ़ों के रूप में सम्मान करते थे या सगे-संबंधियों के रूप में जिनसे वह प्यार करते थे। अर्जुन के मन में

शंका उत्पन्न होती है : कारण यह कि युद्ध का अर्थ होता है विनाश और उनके सामने ऐसे लोगों के संहार की संभावना उपस्थित है जिन्हें कल तक वह अपना आत्मीय जन समझते थे। यह नरमेध की तैयारी क्यों ?—वह अपने आप से पूछते हैं। उन्हें इस प्रश्न का केवल एक ही उत्तर मिलता है कि यह सब कुछ एक राज्य पर शासन करने के स्वार्थपूर्ण उद्देश्य से ही हो रहा है। परंतु युद्ध की घोषणा हो चुकी है और क्षत्रिय का धर्म लड़ना है। इस प्रकार एक मूलभूत संघर्ष आरंभ हो जाता है और अर्जुन का हृदय स्वयं एक रणक्षेत्र बन जाता है जिसमें धर्म और स्वार्थ का संघर्ष होता है। अर्जुन के हाथ से धनुष छुट जाता है और वह अपने परामर्शदाता तथा सारथी भगवान् श्रीकृष्ण की ओर इस गंभीर समस्या पर परामर्श के लिए देखते हैं। स्पष्ट और गूँजते हुए शब्दों में श्रीकृष्णजी अर्जुन के संशयों की आलोचना करते हैं और उन्हें धर्म का मार्ग बताते हैं। अर्जुन क्षत्रिय हैं और क्षत्रिय होने के नाते लड़ना उनका धर्म है। परंतु यदि वह यह सोचते हैं कि वह हत्या कर रहे हैं तो यह सरासर उनकी भूल है क्योंकि आत्मा अमर है और तलवार या अग्नि या वायु या जल कोई भी चीज़ उसका हनन नहीं कर सकती। दार्शनिक विचार की सभी विभिन्न धाराओं पर बारी-बारी से इसमें विचार किया गया है और उनका परस्पर संबंध बताया गया है। इसके बाद गीता का संदेश आता है—निष्काम कर्म, निष्काम धर्मपालन का संदेश। गीता में कहा गया है, मनुष्य का लक्ष्य केवल कर्म है, उसका फल नहीं। कर्म स्वयं अपना फल है और फल का विचार किये बिना कर्म करना ही सत्य मार्ग है। कृष्ण भगवान् ने कहा है : निष्काम कर्म मनुष्य का धर्म है और यही मोक्ष है। मनुष्य का धर्म कुछ भी हो उसका पालन सबसे बड़ा पुण्य है और अपने धर्म का पालन करके मनुष्य ईश्वर को प्राप्त कर लेता है।

गीता केवल एक धर्मकाव्य नहीं है; वह जीवन का उपदेश है। इसमें जो समस्याएँ उठायी गयी हैं वे सार्वत्रिक तथा चिरंतन हैं। हर मनुष्य का हृदय कभी-न कभी एक कुरुक्षेत्र बन जाता है जहां स्वार्थ और धर्म (कर्तव्य) का संघर्ष होता है और जब भी ऐसा संकट पैदा होता है उसका उत्तर गीता में अवश्य मिलता है। यही उसकी अमर लोकप्रियता का रहस्य है और ईश्वर (भगवत्) के गान (गीता) के रूप में यही उसकी महानता है।

भगवद्गीता में सांख्य तथा योग जैसी दार्शनिक विचारधाराओं की गहरी जानकारी दिखायी देती है; अपने औपदेशिक आख्यान के प्रवाह में गीता ने इन दोनों को समेट लिया है। सांख्य तथा योग भारतीय दर्शन की छः पद्धतियों (षट्दर्शन) की दो शाखाएँ हैं और यहाँ पर संक्षेप में उन पर दृष्टि डाल लेना असंगत न होगा। ये दर्शनपद्धतियां समस्त प्राचीन भारतीय दार्शनिक प्रयास का चरम-बिंदु हैं। ये छः पद्धतियां हैं : सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व-मीमांसा और उत्तर-मीमांसा अर्थात् वेदांत। इनमें से सांख्य, वैशेषिक तथा वेदांत तो स्वतः सम्पूर्ण दर्शन-पद्धतियाँ हैं और योग आत्म-संस्कृति की पद्धति है, न्याय तर्क की पद्धति है और पूर्व-मीमांसा में तो केवल पुराने कल्पों को बुद्धिसंगत रूप दिया गया है।

इन सभी पद्धतियों की विशिष्टता यह है कि इनमें विचारों के विश्लेषण तथा उन्हें प्रस्तुत करने की एक निश्चित विधि का अनुसरण किया गया है। वे ज्ञान के स्रोतों की भली भाँति

जाँच करते हैं। इनमें ज्ञान के स्रोत तीन बताये गये हैं: प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द। 'शब्द' में अपने मूल अर्थ के अतिरिक्त 'आत्मप्रकाश' का भी अर्थ निहित है जो 'स्मृति' से भिन्न है और 'श्रुति' में मूर्त है। परंतु श्रुति मान्य तभी हो सकती है जब उसमें प्रस्तुत किये गये तथ्य अनुभूत सत्यों के क्षेत्र से बाहर न हों; इनमें जिन बातों का रहस्योद्‌घाटन किया जाये वे अन्य प्रमाणों अथवा आधारों द्वारा प्राप्त ज्ञान का खंडन न करती हों; और अंतिम बात यह कि वे संभाविता की कसौटी पर पूरी उतरें। इन सब पद्धतियों में ज्ञान के इन तीन 'मार्गों' को सार्थक नहीं माना गया है। उदाहरण के लिए सांख्य में श्रुति अथवा आत्मप्रकाश को अमान्य ठहराया गया है और वेदांत में उसके महत्व पर ज़ोर दिया गया है।

सांख्य का दर्शन उपनिषदों के आदर्शवादी अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुआ। इसके संस्थापक कपिल थे; कपिल उन विचारकों में से थे जो घटनाओं के ऐक्य के बजाय उनके वैविध्य के पक्ष में तर्क करते थे। वह ब्रह्मन् को नहीं मानते और इसके साथ ही ईश्वरत्व की कल्पना को भी अस्वीकार करते हैं; उनका उद्देश्य अपनी दर्शन पद्धति को पूर्णतः तर्कसंगत तथा विश्लेषणात्मक बनाने का था। सृष्टि की व्याख्या करने के लिए कपिल ने दो ऐसे स्वरूपों के अस्तित्व का प्रतिपादन किया जिनकी कभी सृष्टि नहीं हुई थी पर जो नित्य थे—एक थी प्रकृति और दूसरा था पुरुष। प्रकृति, जिसे हम समस्या को सरल बनाने के लिए पदार्थ कह सकते हैं, वस्तुनिष्ठ है और पुरुष (आत्मा) एक नहीं बल्कि असंख्य अलग-अलग आत्माओं का समूह है। प्रकृति वह आद्य पदार्थ है जिससे सारी सृष्टि की उत्पत्ति हुई है। पुरुष स्वतः निश्चेत है परंतु उसके उपस्थिति मात्र आद्य पदार्थ को विकास के पथ पर अग्रसर करती है। आत्मा अपरिवर्तनीय है परंतु पदार्थ परिवर्तनशील है। आत्मा निर्गुण है, अमर है और गतिहीन है। प्रकृति में तीन गुण हैं: सत्व (प्रकाश, आलोक अथवा उल्लास), रजस् (गति, उत्तेजन, पीड़ा) और तमस् (गुरुता, अवरोध तथा शैथिल्य)। ये तीन गुण निरंतर परिवर्तन का मूल आधार हैं परंतु इन परिवर्तनों के दौरान में इन गुणों में स्वतः कोई परिवर्तन नहीं होता। जब इन तीन गुणों का संतुलन गड़बड़ा जाता है तब आद्य पदार्थ का विकास आरंभ होता है और आत्मा की उपस्थिति के प्रभाव के अधीन जड़ आद्य पदार्थ विकास का विषय बन जाता है। आत्मा की उपस्थिति मात्र पदार्थ को सक्रिय बना देती है और इसलिए पदार्थ तथा आत्मा का उचित विवेकात्मक ज्ञान मोक्ष का साधन माना जाता है।

सांख्य से बहुत निकट संबंध योग का है जिसके संस्थापक पतञ्जलि थे—संस्थापक इस अर्थ में कि उन्होंने अपने काल के बिखरे हुए सिद्धांतों को संहिताबद्ध किया और उन्हें एक तर्कसंगत दर्शन-पद्धति का रूप दिया। योग में सांख्य के प्रायः सभी सिद्धांतों को स्वीकार किया गया है पर साथ ही एक ऐसे ईश्वर की कल्पना भी जोड़ दी गयी है जो न सृजन करता है न फल देता है। योग में वास्तविक बल विचारों की एकाग्रता पर और अनूभूति तथा विचार के अंतर्गत आनेवाली सभी वस्तुओं की कार्यवाहियों को आत्मन् पर केंद्रित करने पर दिया गया है। इसके लिए तपस्या और इंद्रिय-दमन का जीवन आवश्यक था और इसीलिए योग में इनकी ओर बहुत ध्यान दिया गया है।

न्याय तर्क की पद्धति है और इसके संस्थापक गौतम है जिनका नाम अक्षपाद भी है। यद्यपि इसमें मोक्ष का मार्ग निर्धारित करने का लक्ष्य भी सामने रखा गया है पर मुख्यता इसमें रूपात्मक तर्क का प्रतिपादन किया गया है। इसमें ज्ञान के चार स्रोत बताये गये हैं, अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, तुलना तथा बोधगम्य प्रमाण। अनुमान तीन प्रकार का होता है; कारण से कार्य, कार्य से कारण और निष्कर्ष। न्याय के संवाक्य के पाँच भाग हैं: प्रस्थापना, कारण, दृष्टांत, कारण की पुनरावृत्ति और निष्कर्ष। इसका उदाहरण यह दिया जा सकता है: पर्वत पर आग लगी है; कारण यह पर्वत से धुँआ उठ रहा है; जहाँ कहीं धुँआ होता है वहाँ आग भी होती है; पर्वत से धुँआ उठ रहा है; इसलिए पर्वत पर आग लगी है।

न्याय से वैशेषिक का गहरा संबंध है और ऐसा प्रतीत होता है कि कणों (परमाणुओं) तथा सृष्टि की उत्पत्ति के अपने सिद्धांत की बहुत-सी बातें न्याय ने वैशेषिक से ली हैं। वैशेषिक दर्शन-पद्धति का संस्थापक कणाद (कणों को खानेवाला) को बताया है, जिनके सूत्रों का प्रतिपादन, ऐसा अनुमान है, लगभग ४०० ई० में किया गया। उन्होंने विभिन्न अनुभूत वस्तुओं को द्रव्यों के रूप में वर्गीकृत किया है जैसे पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, काल, शून्य, आत्मा तथा विचारेंद्रिय। इन द्रव्यों तथा इनके गुणों से मिलकर ही सृष्टि बनी है। इन द्रव्यों की निश्चित लाक्षणिकताएँ होती हैं और उनमें विविध संबंध स्थापित होते रहते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु के कण नित्य हैं और उनका कभी सृजन नहीं हुआ। सृष्टि के बारे में इस पद्धति का दृष्टिकोण यह है कि बारी-बारी से विकास तथा विनाश के ऐसे काल आते रहते हैं जब इन कणों के समूह बिगड़ते और बनते रहते हैं।

पूर्व-मीमांसा का तर्क यह है कि वेद नित्य तथा अजनित हैं। इस पद्धति का लक्ष्य कल्प संबंधी वैदिक आख्यानों की उचित व्याख्या करना है। इस पद्धति का विकास जैमिनि के मीमांसादर्शन में किया गया है और इसके संकलन का काल २०० ई० तथा ४५० ई० के बीच में बताया जाता है।

इन सब पद्धतियों में से उत्तर-मीमांसा अर्थात् वेदांत ने भारतीय दर्शन तथा धर्म पर सबसे निर्णायक प्रभाव डाला है। इसका मूलभूत विचार यह है: तत् त्वम् असि: अहम् ब्रह्मास्मि। (तू यह है: मैं ब्रह्म हूँ।) परंतु यदि अंतिम सत्य एक है तो फिर हम संसार में वैविध्य क्यों देखते हैं? इस प्रश्न का उत्तर माया अर्थात् मनुष्य के अज्ञान में मिलता है जिसके कारण इस बाहरी वैविध्य में निहित वास्तविक ऐक्य बिलकुल छुप जाता है। माया में घिरी रहकर आत्मा अपने आप में और उपाधियों में अर्थात् शरीर तथा शारीरिक इंद्रियों के बीच अंतर नहीं कर पाती। माया हमें पुनर्जन्म के चक्कर में फँसा देती है और वही जीवन में समस्त दुःख का कारण है।

माया का उल्टा विद्या अर्थात् ज्ञान है, जो हमें मोक्ष की ओर ले जाता है। वह आत्मा को अपने आपको उपाधियों से अलग करने की क्षमता प्रदान करता है। अतएव आत्मन् तथा ब्रह्मन् के वास्तविक स्वरूप को पहचानना ही मोक्ष है; यह इस बात को स्वीकार करने का ही दूसरा नाम है कि आत्मन् और ब्रह्मन् एक हैं। परंतु ब्रह्मन् दो प्रकार के होते हैं—एक

उच्चतर और एक निम्नतर। उच्चतर ब्रह्मन् निर्गुण होता है और जब उसे बलात् सगुण बना दिया जाता है तब वह निम्नतर हो जाता है, और जब यह होता है तब उपासना के लिए तर्क-संगत आधार मिल जाता है। वेदांतिन् कहते हैं कि विद्या स्वतंत्रता का मार्ग है परंतु विद्या प्राप्त करना बहुत कठिन है और साधारण मनुष्य पहले ज्ञान-ग्रंथों के पथ का अनुसरण करके ही धीरे-धीरे मोक्ष का मार्ग बना सकता है।

वेदांत के सबसे प्रमुख प्रचारक जगद्गुरु शंकराचार्य थे, जिसका जीवनकाल ८वीं शताब्दी ईसवी था। उन्होंने सारे भारत में वेदांत के समर्थन में प्रचंड धर्म-प्रचार किया और मंडन मिश्र को शास्त्रार्थ में परास्त किया। गीता पर उनकी टीका, दस मुख्य उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं। शंकराचार्य ने ही दार्शनिक स्तर पर बौद्धमत को निर्णायक रूप से परास्त किया और इसमें कोई संदेह ही नहीं हो सकता कि प्राचीन भारत के समस्त इतिहास में उनकी जैसी प्रखर बुद्धि का दूसरा व्यक्ति हुआ ही नहीं। उनकी शिक्षा का सारांश यह है : ब्रह्मन् सत्यम्, जगन् मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरह : अर्थात् ब्रह्म सत्य है, यह जगत् मिथ्या है जीव और ब्रह्म एक ही है।

शंकराचार्य के अतिरिक्त वेदांत के और भी प्रचारक थे जैसे रामानुज, जिन्होंने विशिष्टाद्वैत का प्रचार किया, और माधव जिन्होंने द्वैतवाद का प्रचार किया, तथा अन्य लोग। भारतीय धर्म पर वेदांत का प्रभाव प्रायः सर्वव्यापी रहा है क्योंकि इसमें जीवन तथा उसकी समस्याओं के प्रति एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न दृष्टिकोणों का दार्शनिक आधार मिलता है। कर्म, पुनर्जन्म, आत्मन् तथा ब्रह्मन् ऐसे शब्द हैं जिनका अर्थ तुच्छ से तुच्छ व्यक्ति भी समझ लेता है और वेदांत को समझे बिना भारतीय विचारधारा तथा संस्कृति को समझना असंभव है।

हमने जीवन के प्रति दृष्टिकोणों के वैविध्य का उल्लेख किया है जो एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी कुछ सुनिश्चित सामान्य दार्शनिक आधारों द्वारा परस्पर सम्बद्ध हैं। प्राचीन भारतीय विचारधारा का वैविध्य उतने पूर्ण रूप में कहीं और देखने को नहीं मिलता जितना कि चार्वाक की दर्शन-पद्धति में; चार्वाक पूर्णतः भौतिकवादी थे। इस पद्धति में प्रत्यक्ष को ज्ञान का एकमात्र सार्थक साधन माना गया है और इस आधार पर ईश्वर, कर्म, आत्मा तथा पुनर्जन्म को अमान्य ठहराया गया है। चार्वाक की मूल रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं और उनकी विचार धारा के विषय में जानकारी प्राप्त करने का हमारा एकमात्र स्रोत वे इक्का-दुक्का उद्धरण हैं जो उनके विरोधियों ने उनके मत का खंडन करने के लिए अपनी रचनाओं में दिये हैं। परंतु यह बात तो निश्चित है कि इस प्रकार की विचारधारा का अस्तित्व था और उसे प्राचीन भारतीय दार्शनिक भावना के एक अंग की अभिव्यक्ति माना जाता था; इसीमें चार्वाक का महत्व निहित है।

जबकि आत्मन् और ब्रह्मन् अष्टांगिका तथा अपरिग्रह, संस्कारों द्वारा मोक्ष और भक्ति द्वारा निर्वाण के सिद्धांत लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए एक-दूसरे से होड़ कर रहे थे उसी समय एक-दूसरा मत चुपके-चुपके परन्तु अबाध गति से लोकप्रिय होता जा रहा था। यह मत शैवमत था। यदि वैष्णवमत की उत्पत्ति उपनिषदों के काल में हुई तो शैवमत की जड़ें आर्य-पूर्व

युग में गहराई तक चली गयी हैं। हम पहले ही मोहेनजोदड़ो की उस मूर्ति का उल्लेख कर चुके हैं जिसमें एक देवता को वन्य पशुओं के बीच योग की मुद्रा में पाल्थी मारे बैठा हुआ दिखाया गया है; यह मूर्ति योगी तथा पशुपति के रूप में शिव की बहुत बाद के युग की कल्पना के निकटतम है। ऋग्वैदिक आर्य उन लोगों का उल्लेख बड़े तिरस्कार के साथ करते हैं जो नग्न देवताओं की उपासना करते थे; संभवतः उनका संकेत लिंग-पूजा के किसी रूप की ओर रहा होगा। यह संभव है कि सिंधु घाटी की सभ्यता लिंग-पूजा से भी परिचित थी परंतु इसका उतना अकाट्य प्रमाण नहीं मिलता जितना कि हम चाहते हैं। परंतु इसमें तो कोई संदेह नहीं कि शिव तथा देवीमाता की उपासना व्यापक रूप से प्रचलित थी और इसलिए आर्यों की दृष्टि भी इस पर पड़ी होगी। आर्य लोग स्वयं रुद्र से परिचित थे जिनके प्रति उनके हृदय में भय तथा श्रद्धा की मिश्रित भावना थी। रुद्र विनाश के देवता हैं और अपने पुत्रों—मरुतों—के साथ उनका नाम प्राचीन काल से ही मृत्यु के साथ सम्बद्ध किया जाता रहा है। वह रोगों को दूर करनेवाले और पशुओं के संरक्षक हैं; वह एक भयंकर देवता हैं जिनका कोप अत्यंत भयावह है। महाभारत में शिव का उल्लेख मिलता है और शीघ्र ही उन्हें रुद्र का ही दूसरा रूप माना जाने लगता है और दूसरी शताब्दी ईसा-पूर्व तक पहुँचते-पहुँचते शिव-भागवत एक प्रमुख सम्प्रदाय बन जाता है। समय की गति के साथ शैवमत ने तपस्या और भक्ति के बीच संश्लेषण उत्पन्न कर दिया और वह प्राचीन भारत के दो प्रमुख सम्प्रदायों में से एक बन गया।

पिछले पृष्ठों में हमने कई शताब्दियों के दौरान में भारतीय धर्म तथा विचार की प्रगति के संक्षिप्त सिंहावलोकन करने का प्रयत्न किया है। पशु, सोम और दुग्ध तथा अन्न की आहुति और ऋत की धारणा से आरंभ होकर भारतीय धार्मिक विचारधारा ने विकास की अनेक मंज़िलें पार कीं। इस दीर्घ यात्रा के दौरान में उसने नये मार्ग प्रशस्त किये और दार्शनिक विचार में भौतिक योगदान किये : अनीश्वरवाद, अद्वैतवाद, निराशावाद तथा कर्मण्यतावाद। दर्शन के क्षेत्र में उसकी परिणति वेदांत में हुई और धार्मिक विश्वास तथा व्यवहार के क्षेत्र में इसका संश्लेषण हिंदूमत के पौराणिक रूप में हुआ जिसमें मेलों तथा तीर्थयात्राओं, अवतारों तथा भक्ति, पूजापाठ तथा वैराग्य ने मिलकर धार्मिक जीवन की एक तर्कसंगत पद्धति का रूप धारण कर लिया था। ईश्वर, आत्मा, कर्म तथा पुनर्जन्म वे मुख्य मूलभूत कल्पनाएँ थीं जिन्होंने भारतीय धार्मिक विचारों की विविध धाराओं को एक सूत्र में बाँध दिया। भारत के जनसाधारण के लिए इन विश्वासों की सार्थकता उनकी अनवरत सप्राणता से सिद्ध होती है क्योंकि इस देश में असंख्य पीढ़ियों से लोगों ने जागरूकता के साथ अपने जीवन को इन विश्वासों के अनुसार ढालने का प्रयत्न किया है। वे भारतीय जीवन की नस-नस में व्याप्त हो गये हैं और उन्होंने इस जीवन को सार्थकता और उद्देश्य प्रदान किया है। उन्होंने भारतीय विचार-धारा के निर्माण में काफ़ी योग दिया और इसलिए प्राचीन भारतीय संस्कृति के मूल्यों को समझने के लिए उनका अत्यधिक महत्व है।

— ५ —

# साहित्य

अपनी पुस्तक के इस भाग के पिछले पृष्ठों में हमने प्राचीन भारत की राजनीतिक तथा सामाजिक संस्थाओं और शिक्षा, धर्म तथा दर्शन के क्षेत्र में उसकी उपलब्धियों को समझने का प्रयत्न किया था। इस अध्याय में हम प्राचीन भारतीय संस्कृति के एक और अंग अर्थात् उसके साहित्य पर विचार करेंगे।

प्राचीन भारतीय साहित्य का क्षेत्र सचमुच बहुत व्यापक है। ऋग्वेद की प्रथम काव्यमयी कल्पनाओं से आरंभ करके हमारी सृजनात्मक भावना ने एक बहुत लम्बी यात्रा पूरी की है जिसके दौरान में महाभारत तथा रामायण जैसे महाकाव्य और कालिदास के मेघदूत तथा अश्वघोष के बुद्धचरित जैसी महान काव्य-रचनाओं को जन्म दिया है। इस साहित्य का अधिकांश भाग संस्कृत भाषा में है और वह भी परिष्कृत संस्कृत में। प्राकृत रचनाओं के केवल कुछ ही नमूने उपलब्ध हैं जैसे गाथासप्तशती या फिर कुछ नाटकों में कुछ पात्रों के संवाद में इसके इक्का-दुक्का उदाहरण मिल जाते हैं। इसलिए जब हम प्राचीन भारतीय साहित्य का उल्लेख करते हैं तो हमारा अभिप्राय मुख्यतः शास्त्रीय संस्कृत साहित्य से होता है।

संस्कृत भारतीय-योरपीय समूह की भाषाओं में से एक है। भारत में इसका आगमन आर्य आक्रमणकारियों के साथ हुआ और इसका प्राचीनतम रूप ऋग्वेद के श्लोकों में सुरक्षित है। उस समय बोलचाल की भाषा तथा भाषा के साहित्यिक रूप में बहुत अधिक अंतर नहीं रहा होगा, परंतु समय की गति के साथ यह अंतर बढ़ता गया। धीरे-धीरे साहित्यिक भाषा पर पुरोहितों की छाप पड़ती गयी और उसने विकसित होकर परिष्कृत संस्कृत का रूप धारण कर लिया। चूँकि वैदिक संस्कृत आर्य विजेताओं की भाषा थी इसलिए पराजित अनार्य जनसंख्या शासकों के साथ अपने व्यवहार में इसी भाषा का प्रयोग करती होगी। इसके फलस्वरूप बोलचाल की भाषा में उच्चारण तथा शब्दों के प्रयोग की दृष्टि से कुछ परिवर्तन हो गये और समय की गति के साथ जैसे-जैसे आर्य भारत में फैलते गये इन्हीं परिवर्तनों के कारण भाषा में क्षेत्रीय रूपांतर भी होते गये होंगे। बोलचाल की संस्कृत के वैदिक रूप तथा अनार्यों की भाषा अथवा भाषाओं की परस्पर क्रिया के फलस्वरूप प्राकृत भाषाओं का जन्म हुआ जिनके विकास की विभिन्न अवस्थाएँ मागधी, पैशाचि, महाराष्ट्री आदि के रूप में प्रतिबिंबित हुई और उनके परवर्ती विभिन्न रूप धीरे-धीरे विकसित होकर हिंदी, बंगाली, मराठी, गुजराती आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं के रूप में हमारे सामने आये।

एक ओर जहाँ ऋग्वेद के कुछ श्लोकों में हमें संस्कृत भाषा की काव्यरचना का प्राचीनतम साहित्यिक रूप देखने को मिलता है तो दूसरी ओर ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों तथा

सूत्रसाहित्य में हमें गद्य-शैली के विभिन्न रूप तथा अवस्थाएँ दिखायी देती हैं। इसके साथ ही साथ महाकाव्यों की परम्परा का भी विकास हो रहा था जिसका श्रेष्ठतम उदाहरण हमें महाभारत तथा रामायण में मिलता है। इस परम्परा का मूलस्रोत ऋग्वेद के संवाद-श्लोकों में मिलता है और ब्राह्मणों में हमें इस बात का उल्लेख मिलता है कि महाकाव्यों का पाठ याज्ञिक तथा घरेलू उत्सवों का एक अंग था। 'इतिहास', 'व्याख्यान' तथा 'पुराण' आदि शब्द महाकाव्यों की परम्परा की प्रगति के मार्ग के सूचक हैं। देवताओं तथा सूरमाओं के रोमांचकारी कृत्य और प्रेम तथा युद्ध की कहानियों महाकाव्यों की मूल सामग्री थीं। उपरोक्त दो महाकाव्यों में से रामायण को आदि काव्य बताया जाता है और यह महाकाव्य परिष्कृत संस्कृत कविता के विकास की सबसे पहली अवस्था का द्योतक है। महाभारत बहुत विस्तृत भी है और वैविध्यपूर्ण भी—इसका विषय-क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है और काव्य-शैली अत्यंत वैविध्यपूर्ण और यह बात स्पष्ट है कि इसमें अनेक संशोधन हुए हैं जिनके कारण धीरे-धीरे इन पर ब्राह्मणों की छाप गहरी होती गयी और इसमें औपदेशिक रंग आ गया। रामायण में सात कांड हैं जिनमें कुल मिलाकर २४,००० श्लोक हैं। इसकी कहानी में आदर्श भारतीय नायक राम और आदर्श हिंदू पत्नी सीता के जीवन का वर्णन किया गया है। कहानी राम के जन्म, किशोरावस्था तथा विवाह से आरंभ होती है, फिर उनके वनवास की घटनाओं, लंका के राक्षस राजा रावण द्वारा सीता के हरण, सीता को छुड़ाने और रावण की पराजय तथा मृत्यु का वर्णन आता है; और अंत में राम के अयोध्या लौटाने का विवरण है। मूल महाकाव्य छठे कांड के बाद समाप्त हो गया होगा क्योंकि अंतिम कांड का उससे पहले के कांडों से कोई संबंध प्रतीत नहीं होता। यही बात पहले कांड के बारे में भी सत्य है; अंतिम कांड की तरह ही इसकी भाषा और शैली भी दूसरे से छठे कांड तक की तुलना में बहुत निम्नकोटि की है। महाभारत के मूल महाकाव्य में उससे बहुत कम सामग्री रही होगी जितनी कि हम आज इसमें पाते हैं; अपने वर्तमान रूप में तो इसका विषय-क्षेत्र विश्वकोष जैसा है। इसके कथानक में भारतवंश की संतान कौरवों तथा पांडवों के जीवन तथा कृत्यों का वर्णन है। कौरव अंधे धृतराष्ट्र और गांधारी के पुत्र थे और इनकी संख्या सौ थी। इनकी राजधानी दिल्ली के निकट हस्तिनापुर में थी। पांडु और उनकी पत्नियों कुन्ती तथा माद्रि के पाँच पुत्र—युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम, नकुल तथा सहदेव—पांडव कहलाये। कौरवों में सबसे प्रमुख दुर्योधन तथा दुःशासन थे। चचेरे भाई होने के नाते कौरवों तथा पांडवों का लालन-पालन साथ ही हुआ और उन्होंने भीष्म की निगरानी में द्रोणाचार्य से एक साथ ही शिक्षा प्राप्त की। युद्धकला के अभ्यास में पांडव अपनी प्रखर बुद्धि तथा कौशल के कारण अपने चचेरे भाइयों की ईर्ष्या के पात्र बन गये। यह तीव्र ईर्ष्या आगे चलकर संघर्ष का कारण बन गयी। कौरवों के छल-कपट के कारण पांडवों को बनवास ग्रहण करना पड़ा। पांचाल पहुँचकर उन्होंने द्रौपदी से विवाह किया जो उन सबकी पत्नी बन गयी। बनवास से लौटने पर कौरवों ने पांसे के खेल के लिए आमंत्रित किया; पांडव हार गये और उन्हें फिर बनवास ग्रहण करना पड़ा। बनवास से लौटकर पांडवों ने राज्य में अपना हिस्सा माँगा और जब उन्हें उनका अधिकार नहीं मिला तो

कुरुक्षेत्र के मैदान में अठारह दिन तक घोर युद्ध हुआ जिसमें दोनों ही तबाह हो गये। यह संक्षेप में महाभारत की कथा है।

अपने वर्तमान रूप में महाभारत केवल एक महाकाव्य ही नहीं है; यह एक ऐसी रचना है जिसमें धर्म, नीति, दर्शन तथा लौकिक ज्ञान की ऐसी समस्याओं पर विचार किया गया है जो इस देश के लाखों-करोड़ों निवासियों के लिए बुनियादी महत्व की हैं। इसमें 'हमारे सामूहिक अचेतन का सारतत्व' प्रतिबिंबित होता है। महाभारत और रामायण ऐसी महान 'शास्त्रीय रचनाएँ' हैं जिनसे इसके बाद के शास्त्रीय साहित्य ने केवल कथानक की विषय-वस्तु में ही नहीं बल्कि शैली और छंद-रचना में भी बहुत कुछ लिया है। परवर्ती साहित्य में महाभारत तथा रामायण की अनेक घटनाओं को लेकर नाटकों तथा काव्यों की रचना की गयी है और "वाल्मीकि की काव्य रचना के सौंदर्य तथा अलंकारों के कुशल प्रयोग ने ही कालिदास की कोमल तथा परिमार्जित काव्य-कला के लिए मार्ग प्रशस्त किया।"

प्राचीन संस्कृत साहित्य से हमारा क्या अभिप्राय है? संस्कृत के बोलचाल के रूप तथा साहित्यिक रूप का अंतर जैसे-जैसे बढ़ता गया वैसे-वैसे इस भाषा के नियम अधिक जटिल और इसकी शैली अधिक अलंकारमय होती गयी। इसका प्रयोग केवल उच्चतर अभिजात वर्गों तक ही सीमित रह गया और जन-साधारण ने अपने विचारों को व्यक्त करने तथा उनका आदान प्रदान करने का माध्यम प्राकृत भाषाओं को बना लिया। परिष्कृत संस्कृत कालिदास तथा भवभूति जैसे महाकवियों की महान रचनाओं की भाषा है, जिसमें व्याकरणाचार्य पाणिनी द्वारा प्रतिपादित व्याकरण के नियमों का, जिनकी व्याख्या पतञ्जलि जैसे टीकाकारों ने की है, न्यूनाधिक रूप में पालन किया जाता है। इस साहित्य की शैली में गद्य की अपेक्षा पद्य को प्रधानता प्राप्त है और अलंकारमय भाषा गद्य तथा पद्य दोनों ही की विशिष्टता है। संस्कृत का अर्थ होता है परिमार्जित, परिष्कृत और इसके विपरीत प्रकृत का अर्थ है स्वाभाविक; इसीसे प्राकृत शब्द बना है। आम बोलचाल की भाषाएँ होने के कारण प्राकृत भाषाओं में एक स्वयंस्फूर्तता है जो परिष्कृत संस्कृत में नहीं है और जिसके अभाव से पूरा करने के लिए अलंकारों तथा वाक्-चातुर्य का सहारा लिया जाता है। परिष्कृत संस्कृत में विभिन्न बोलियों के रूपांतर नहीं हैं: वह "पूर्णतः पाणिनी तथा उनके अनुयायियों के नियंत्रण में है और महाकाव्यों से उत्तराधिकार में मिली हुई परम्परा को यथासंभव इन नियमों का पाबंद बना देने का प्रयत्न करती है।" भाषा का यह रूप साहित्यिक रचनाओं में अभिव्यक्ति का सामान्य माध्यम बन गया और धीरे-धीरे अभिलेखों में भी उसने प्राकृत भाषाओं का स्थान ले लिया। जूनागढ़ में रुद्रदमन का अभिलेख और इलाहाबाद में समुद्रगुप्त की प्रशस्ति उन अभिलेखों के ज्वलंत उदाहरण हैं जिनमें अलंकारमय संस्कृत भाषा का प्रयोग किया गया है जो विकास के एक लम्बे मार्ग की द्योतक है।

परिष्कृत संस्कृत की परम्परा में कदाचित सबसे प्राचीन रचनाएँ भास की हैं। भास के नाटकों को, जिनकी कुल संख्या १३ है, १९०९ में त्रिवंद्रम के पंडित टी. गणपति शास्त्री ने ढूँढ़ निकाला था। इस खोज के बाद से भास की समस्या में बहुत दिलचस्पी दिखायी गयी है और इस प्रश्न को लेकर बहुत बड़ी बहस भी उठ खड़ी हुई है और इस नाटककार के

कालिदास के समय में पहुँचकर परिष्कृत संस्कृत साहित्य अपने गौरव के शिखर पर पहुँच जाती है और उसमें उदात्त भाषा में महान विचारों को व्यक्त किया जाने लगता है। कालिदास को कविकुलगुरु कहा गया है और उपमा के प्रयोग में तो वह सचमुच अद्वितीय हैं। अपने अन्य समकालीन साहित्यिकों की तरह ही कालिदास ने अपने बारे में बहुत कम जानकारी हमारे लिए छोड़ी है और इसलिए उनके नाम को लेकर अनेक कपोल कल्पनाएँ तथा किंवदंतियाँ प्रचलित हो गयी हैं। इसी प्रकार की एक किंवदंती में हमें बताया गया है कि महाकवि कालिदास का जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था पर उनका लालन-पालन एक गड़रिये ने किया था। वाराणसी के राजा के एक बहुत सुंदर पुत्री थी जिसने सौगंध खायी थी कि वह उसी व्यक्ति के साथ विवाह करेगी जो उसे शास्त्रार्थ में हरायेगा। उससे विवाह करने की अभिलाषा रखनेवाले अनेक लोग मुँह की खा चुके थे इसलिए उन्होंने बदला लेने का संकल्प किया। निराश कवियों तथा विद्वानों ने नितांत निरक्षर कालिदास को झूठमूठ अपना गुरु बना लिया और एक झूठमूठ के शास्त्रार्थ में राजकुमारी आखिरकार हार गयी। परंतु शीघ्र ही भंडा फूट गया और जब राजकुमारी ने कालिदास को बहुत धिक्कारा तो कालिदास ने काली माई से प्रार्थना की और देवी ने प्रसन्न होकर उसे वरदान दिया। इस प्रकार कालिदास कवि बन गया। एक दूसरी कहानी के अनुसार कालिदास भोग-विलास का जीवन व्यतीत करते थे और श्रीलका में उनका देहांत हुआ। अपनी रचनाओं में कालिदास ने अपने बारे में जो कुछ बताया है उससे पता चलता है कि वह बहुत विद्वान और प्रकृतिप्रेमी थे; वह चिंतन-मनन के जीवन में जितनी आसानी से घुलमिल जाते थे उतनी ही सुगमता से वह जीवन की भव्य भावनाओं का भी अनुभव करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने हिमालय में भी अपना कुछ जीवन व्यतीत किया था क्योंकि उन्होंने इस प्रदेश का अत्यंत प्रतिभाशाली वर्णन किया है। उनके जीवन का कुछ भाग मध्य भारत में भी अवश्य व्यतीत हुआ होगा और उज्जयिनी तथा विदिशा से तो उन्हें विशेष लगाव था। यह स्पष्ट है कि वह इस देश में बहुत दूर-दूर तक घूमे-फिरे थे और उन्होंने राजदरबार के जीवन का अध्ययन बहुत निकट से किया था। उस समय के दार्शनिक विचारों के बारे में उनकी जानकारी प्रशंसनीय है और संस्कृत भाषा के तो वह प्रकांड पंडित थे। उनका धार्मिक झुकाव शैवमत की ओर था, पर वह संन्यासी स्वभाव के नहीं थे क्योंकि नारी के रूप तथा सौंदर्य की इतनी परख किसी दूसरे कवि को नहीं थी जितनी कि भारत के इस महानतम कवि को थी। इस विषय पर बहुत मतभेद हैं कि उनका जीवनकाल क्या था और उन्होंने अपनी इन अमर कृतियों की रचना कब की। विद्वानों के एक समूह का कहना है कि उनका जीवनकाल पहली शताब्दी ईसवी है, अर्थात् शुंग शासनकाल में और दूसरा समूह ऐसा है जिसका मत है कि वह गुप्त-शासन के स्वर्ण-युग में हुए थे। उनकी रचनाओं में जिन राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों का प्रतिबिंब मिलता है उनसे तो गुप्त साम्राज्य जैसे ही किसी महान साम्राज्य के युग का संकेत मिलता है। कहा जाता है कि कालिदास पर विक्रमादित्य की कृपादृष्टि थी और इस प्रसंग में हमें यह याद रखना चाहिये कि चंद्रगुप्त द्वितीय का नाम भी विक्रमादित्य था। इस प्रकार समस्त प्रमाणों से निष्कर्ष यही निकलता है

कि सबसे अधिक संभावना इसी बात की है कि गुप्तकाल ही में कालिदास हुए थे और इसी काल में उन्होंने अपनी रचनाएँ लिखी थीं।

कालिदास की रचनाएँ कुल मिलाकर सात हैं। रचना की तिथि के अनुसार कदाचित उनका क्रम यह होगा : ऋतुसंहार, मेघदूत, कुमारसंभव और रघुवंश नामक चार काव्य रचनाएँ और तीन नाटक मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम् तथा शाकुन्तल।

ऋतुसंहार का विषय वर्ष के दौरान में ऋतुओं का परिवर्तन है; इस विषयपर छः सर्गों में कुल मिलाकर १५३ छंद लिखे गये हैं। प्रकृति का वर्णन उसके विभिन्न रूपों में किया गया है और पुरुषों तथा स्त्रियों पर इन ऋतु-परिवर्तनों का प्रभाव अत्यंत रोचक ढंग से किया गया है। प्रेमी के लिए ग्रीष्म ऋतु के सूर्य का तेज दुःखदायी होता है और रात्रि के समय जब आकाश पर चंद्रमा निकलता है तब उसके व्यथित हृदय को शांति मिलती है। वर्षा ऋतु में प्रबल तथा उद्दंड वेग से बहते हुए जलस्रोतों, शरद् तथा हेमंत ऋतु की लताओं, और सारे संसार को मादक बना देनेवाली संध्याकालीन हवा के झोंकों तथा वसंत ऋतु के प्रथम स्पर्श का वर्णन स्पष्ट हर्षातिरेक के साथ किया गया है और यद्यपि इस रचना में कवि की अपरिपक्वता झलकती है पर प्रकृति के प्रति कवि की रुचि में किसी को संदेह नहीं हो सकता।

मेघदूत में कवि ने अत्यंत उपयुक्त शब्दों में तथा मर्मस्पर्शी दृश्यों द्वारा एक यक्ष की विरह-वेदना का वर्णन किया है जिसे हिमालय प्रदेश में अपनी जन्मभूमि अलका से निर्वासित करके मध्य भारत में रामगिरि नामक स्थान में भेज दिया गया था। वर्षा ऋतु के आगमन पर यक्ष एक बादल के टुकड़े को देखता है और तुरंत उससे अपनी प्रेयसी के पास उसका संदेश पहुँचा देने का आग्रह करता है। इसके बाद मेघ-दूत को हिमालय तक की यात्रा के मार्ग का विवरण दिया जाता है। अनुपम सौंदर्य तथा मंत्रमुग्ध कर लेनेवाले संगीत से परिपूर्ण पंक्तियों में अत्यंत दक्षता तथा विवेक से चुने गये शब्दों द्वारा पूरा दृश्यपट हमारी आँखों के सामने आता जाता है। नदियों तथा पर्वतों, नगरों तथा शहरों का वर्णन करते हुए कालिदास एक-एक शब्द में भाव तथा उपमाएँ कूट-कूट कर भर देते हैं और ये दृश्य हमारी आँखों के सामने अनुपम सौंदर्य का साकार रूप बनकर फिरने लगते हैं। इसलिए यह काव्य "अत्यंत गूढ़ पर साथ ही अत्यंत कोमल प्रेम के वर्णन की श्रेष्ठ कृति है जिसमें काम-भावना शुद्ध और उदात्त है। कवि की प्रकृति-वर्णन की प्रतिमा, जिसका परिचय ऋतुसंहार में पहले ही मिल चुका था, इस पूरे काव्य में छायी हुई मानव भावनाओं के कारण और भी निखरे हुए रूप में दिखायी देती है।" इस काव्य में मंदाक्रांता छंद का प्रयोग किया गया है जिसमें हर छंद में चार पक्तियाँ और हर पंक्ति में १७ मात्राएँ होती हैं: यह छंद विचारों तथा भावनाओं को व्यक्त करने के लिए अत्यंत उपयुक्त है परंतु इसका प्रयोग अत्यंत संयम के साथ करना पड़ता है और कवि ने इसका प्रयोग करने में अपनी निपुणता का परिचय दिया है।

कुमारसंभव में कवि ने एक असंभव लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास किया है और उसमें सराहनीय सफलता प्राप्त की है। इस काव्य-रचना का विषय कोई साधारण विषय नहीं है क्योंकि इसमें देवताओं के प्रेम तथा क्रीड़ा का वर्णन किया गया है। अत्यंत संयम अथवा अत्यधिक

काव्य-कौशल द्वारा ही इस कविता को हास्यास्पद अथवा अनाकर्षक बनने से बचाया जा सकता था और इसीलिए इस रचना में कवि के महान गुण सबसे स्पष्ट रूप में देखने को मिलते हैं। इस काव्य में शिव तथा गिरिराजनंदिनी पार्वती के प्रेम तथा उनके पुत्र कुमार अथवा स्कंद के जन्म का वर्णन किया गया है; कुमार देवताओं की सेना के सेनापति थे। वर्तमान रूप में इस काव्य में १७ सर्ग हैं जिनमें से केवल ८ ही कालिदास के लिखे हुए माने जाते हैं; शेष सर्ग बाद के किसी कवि या कवियों के जोड़े हुए हैं। यह काव्य हिमालय के एक दृश्य से आरंभ होता है जहाँ शिव तपस्या और ध्यान में लीन हैं। तारक नामक राक्षस देवताओं को सता रहा है; उसे ब्रह्मा का वरदान मिला हुआ है जिसे वापस नहीं लिया जा सकता। इंद्र कामदेव की सहायता माँगते हैं; कामदेव शिव का प्रेम प्राप्त करने में पार्वती की सहायता करने के उद्देश्य से योगी की तपस्या भंग कर देते हैं और शिव क्रुद्ध होकर कामदेव को जलाकर भस्म कर देते हैं। इसके बाद इस काव्य में विश्व साहित्य का एक श्रेष्ठतम उदाहरण मिलता है जिसमें मदन अर्थात् कामदेव की वियोगग्रस्त पत्नी रति की वेदना का अविस्मरणीय भावनाओं से परिपूर्ण शब्दों में वर्णन किया गया है। रति आत्महत्या करने ही जा रही है कि इतने में आकाशवाणी होती है जिसमें उससे आत्म-हत्या का पथ त्याग देने का अनुरोध किया जाता है और उसे आश्वासन दिया जाता है कि जब शिव तथा पार्वती का विवाह हो जायेगा तब उसका पति भी उसे दुबारा मिल जायेगा। इसके बाद शिव का प्रेम प्राप्त करने के लिए पार्वती तपस्या करती हैं और शिवजी प्रसन्न हो जाते हैं। इसके बाद कुमार का जन्म होता है जो आगे चलकर तारक राक्षस का संहार करता है। इसको महाकाव्य कहना उचित ही है क्योंकि इसमें महाकवि कालिदास ने काव्य कल्पना तथा प्रकृति-प्रेम के क्षेत्रमें अपनी सराहनीय प्रतिभा का श्रेष्ठतम प्रमाण दिया है। इसमें हिमालय का जितना सुंदर वर्णन किया गया है उतना संस्कृत के पूरे काव्य-साहित्य में कहीं और नहीं मिलता और कालिदास ने देवताओं से संबंधित विषय को प्रस्तुत करने के अपने साहसमय प्रयास में जितनी सफलता प्राप्त की है उतनी न तो उससे पहले किसी को प्राप्त हुई थी और न बाद में ही हुई। आलोचक इस महाकवि के इस दुस्साहस पर नाक-भौं सिकोड़ सकते हैं कि उसने देवताओं से संबंधित एक ऐसे विषय का वर्णन किया है जिसमें उन्हें क्रीड़ारत दिखाया गया है; परंतु जब यह आरोप कुमारसंभव पर लगाया जाता है तो यह केवल पांडित्यपूर्ण विडम्बना बनकर रह जाती है।

रघुवंश कालिदास की अंतिम और सबसे महान काव्य-रचना है। यह उनका सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है और इसमें एक भव्य विषय को भव्य शैली में प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया गया है। रघुवंश के इतिहास में कवि को युद्ध तथा राज्याभिषेक, विवाह तथा बनवास, दिग्विजय तथा उदार राज-शासन का वर्णन करने में अपनी काव्य-प्रतिभा प्रदर्शित करने का विपुल अवसर मिला है। रघुवंश में भारत के सबसे बड़े कवि ने राम के उदात्त जीवनचरित्र का वर्णन किया है और इस प्रकार भारत के स्वर्ण-युग के वैभव का चित्र प्रस्तुत किया है।

जैसा कि ठीक ही कहा गया है, "इसमें कोई संदेह नहीं कि कालिदास की रचनाओं में काव्य-शैली अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच गयी क्योंकि कालिदास की कविता में भावनाओं को

प्रधानता प्राप्त है 'अलंकारों को नहीं; अलंकार भावनाओं पर छा जाने के बजाय केवल उनकी शोभा बढ़ाते हैं। कालिदास के निकट भाव कविता की आत्मा होते हैं और यद्यपि कविता में अलंकारजन्य सौंदर्य के प्रति उनकी रुचि बहुत थी पर वह रस के फेर में अपने मुख्य लक्ष्य का हनन कभी नहीं करते।" कालिदास की कविता में हमें ज्ञान तथा भाव, काव्य-कला तथा वस्तुनिष्ठा, निष्कलंक भाषा तथा उदात्त रस का एक अनोखा समन्वय मिलता है। उनकी प्रत्येक रचना एक ऐसे मेधावी पुरुष की कृति प्रतीत होती है जो अपनी शक्ति का ज्ञान होते हुए भी अपनी विनम्रता के कारण महान है।

उनके नाटकों में सबसे पुराना मालविकाग्निमित्रम् है जिसमें मालविका के प्रति शुंगवंश के राजा अग्निमित्र के प्रेम का वर्णन किया गया है; मालविका विदर्भ की एक गुणसम्पन्न राजकुमारी है जो दुर्भाग्यवश संकट में फँस गयी है। पाँच अंकों के इस नाटक में कालिदास की 'अपरिपक्वता' स्पष्ट दिखायी देती है और इस नाटक की रचना कुछ उलझी हुई है। विक्रमोर्वशीयम् "कालिदास के श्रेष्ठतम नाटकों में से है और उसका विषय चंद्रवंशी राजा पुरूरवस और अप्सरा उर्वशी का प्रेम, वियोग तथा पुनर्मिलन हैं। स्वर्ग को वापस जाते हुए केशी नामक राक्षस अप्सरा का अपहरण कर लेता है और यह पार्थिव राजा उसे उस राक्षस के चंगुल से छुड़ा लेता है। इस घटना के फलस्वरूप दोनों एक दूसरे से प्रेम करने लगते हैं। स्वर्ग का अमरावती नगर अब उसे अच्छा नहीं लगता और वह भेस बदलकर राज के उद्यान में जाती है और इस प्रकार राजा के प्रति अपने प्रेम का परिचय देती है। परंतु उसके हर्ष की यह अवधि बहुत थोड़ी देर ही रहती है और उसे इंद्र के सामने खेले जानेवाले एक नाटक में लक्ष्मी की भूमिका में अभिनय करने के लिए बुला लिया जाता है। परंतु नाटक में जब वह विष्णु के नाम का उच्चारण 'पुरुषोत्तम' न करके 'पुरूरवस' करती है तो इंद्रलोक के रंगमंच के निर्देशक भरत उसे दंड देकर मनुष्य का रूप दे देते हैं। यह श्राप उसके लिए कोई भार नहीं होता क्योंकि वह फिर पुरुवरस के पास पहुँच जाती है, परंतु उनके प्रेम की राह में अनेक बाधाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। नाटक की नायिका को लता बना दिया जाता है परंतु एक तांत्रिक रत्न की सहायता से वह फिर अपने पति के पास वापस पहुँच जाती है। एक शिकारी चिड़िया इस रत्न को चुरा ले जाती है; फिर यह चिड़िया एक तीर खाकर मरी हुई पायी जाती है और तीर पर राजा को यह शुभ संदेश अंकित मिलता है कि उर्वशी ने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया है। इसके बाद एक बार फिर उनका पुनर्मिलन होता है परंतु शीघ्र ही यह भय भी उत्पन्न होता है कि उर्वशी के स्वर्ग वापस चले जाने पर उनका यह मिलन भंग हो जायेगा; परंतु उस समय इंद्रदेव युद्ध में संलग्न हैं और वह उर्वशी को अपने पति की मृत्यु तक पृथ्वी पर रहने की अनुमति दे देते हैं। यह एक अत्यंत सुंदर नाटक है और इसमें विषय को बड़ी निपुणता के साथ निभाया तथा सँवारा गया है।"

अभिज्ञानशाकुंतलम् में नाटककार के रूप में कालिदास की प्रतिभा अपने शिखर पर पहुँच गयी है। सात अंकों के इस नाटक के कथानक का विषय राजा दुष्यंत और शकुंतला का

प्रेम है। शकुंतला का लालन-पालन कण्व ऋषि के आश्रम में होता है और कुछ समय बाद वह एक रूपवती सुंदरी बन जाती है। वहाँ राजा दुष्यंत उसे देखते ही उस पर मोहित हो जाते हैं और उन दोनों का गांधर्व रीति से विवाह हो जाता है। विदा होते समय राजा दुष्यंत अपनी निशानी के रूप में शकुंतला को एक अंगूठी देते हैं। बाद में अपनी राजधानी में वापस पहुँचकर राजा दुष्यंत सब कुछ भूल जाते हैं क्योंकि उन पर ऋषि का श्राप है। जब शकुंतला दरबार में आती है तो वह उसे पहचानते भी नहीं हैं और शकुंतला के पास वह अँगूठी भी नहीं है क्योंकि नदी में नहाते समय वह जल में गिर गयी थी। शकुंतला स्वर्ग को चली जाती है, परंतु इसी बीच में वह अँगूठी एक मछुहरे के पास मिलती है जो बताता है कि उसे वह अँगूठी एक मछली के पेट में मिली थी। अँगूठी को देखते ही राजा को सब कुछ याद आ जाता है और वह पश्चाताप से विह्वल हो उठता है। इसके बाद असुरों के विरुद्ध लड़ाई में सहायता देने के लिए राजा दुष्यंत को भी स्वर्ग ले जाया जाता है; वहाँ मारिच ऋषि के आश्रम में वह एक बालक को शेर के बच्चे के साथ खेलता हुआ देखते हैं। राजा को पता चलता है कि वह बालक उन्हीं का पुत्र है; इसके बाद उनकी शकुंतला से भेंट होती है और दोनों फिर प्रेम के सूत्र में एकबद्ध हो जाते हैं। अभिज्ञानशाकुंतलम् के एक-एक वाक्य और एक-एक शब्द में कालिदास की अनन्य प्रतिभा की झलक मिलती है। इसके विषय-क्षेत्र में समस्त मानव भावनाओं को समेट लिया गया है और यह नाटक विश्व के अमर साहित्य का अंग है।

एक कवि तथा नाटककार के रूप में अपनी प्रतिभा का सराहनीय प्रदर्शन करने के बाद जब कालिदास ने अपनी लेखनी को विश्राम दिया उस समय तक वह संस्कृत साहित्य की श्रेष्ठतम रचनाओं को जन्म दे चुके थे। उन्होंने साहित्यिक रचनाओं के इतने उच्च मानदंड निर्धारित कर दिये कि उनके बाद के लेखक लाख प्रतिभासंपन्न होते हुए भी उन मानदंडों को छू भी न सके। समय की गति के साथ परिष्कृत संस्कृत शैली अत्यंत गूढ़ उपमाओं तथा जटिल वाक्य-रचनाओं के कारण बोझल होती गयी और कविता की आत्मा इस भार के नीचे कुचल-कर रह गयी। परवर्ती युगों के आलोचनात्मक मूल्यांकन में कविता और पांडित्य-प्रदर्शन बहुत खतरनाक हद तक एक दूसरे के निकट आ गये और धीरे-धीरे साहित्य पर पतन की छाया पड़ती गयी। साहित्यकारों ने अनुकरण का पथ अपना लिया और वाक्-चातुर्य ने उदात्त भवानाओं का स्थान ले लिया।

परंतु भारवि की रचनाओं में, जिनका जीवनकाल ७वीं शताब्दी ईसवी था, कालिदास की परम्परा की कुछ छाप मिलती है। उन्होंने महाभारत के वनपर्व में वर्णित पांडवों की कथा को लेकर उसे बड़े कलापूर्ण ढंग से विकसित करके अपने काव्य किरातार्जुनीयम् का रूप दिया है। अपने इस महाकाव्य में भारवि ने चरित्र-चित्रण की अपनी महान प्रतिभा का परिचय दिया है और उनकी उदात्त शैली में कालिदास की झलक मिलती है। इस महाकाव्योचित विषय को प्रस्तुत करने में कवि को अपनी कल्पना-शक्ति का पूरी तरह परिचय देने और अपने काव्य-कौशल का प्रतिभाशाली प्रदर्शन करने का पूरा अवसर मिला।

इसके बाद के लेखकों में बाण का नाम प्रमुख है; बाण के पिता का नाम चित्रभानु और माता का नाम राज्यदेवी था और वह कन्नौज के राजा हर्ष के दरबार में नौकर थे। बाण की मा का देहांत युवावस्था में ही हो गया था। इसलिए उनका पालन-पोषण उनके पिता ने ही किया। जिस समय बाण १४ वर्ष के थे उस समय उनके पिता का भी देहांत हो गया और वह जगह-जगह भटकते रहे और हर तरह के लोगों के बीच घुल-मिलकर रहे। आखिरकार उन्हें राजा हर्ष के भाई कृष्ण के द्वारा राज-दरबार में उपस्थित होने का निमंत्रण मिला। जब बाण हर्ष के राज-दरबार में थे उसी समय उन्होंने अपनी प्रख्यात कृति हर्षचरित की रचना की, जो उनके संरक्षक राजा हर्ष की जीवनी थी। इस पुस्तक के आठ अध्यायों में बाण ने राज्यश्री को छुड़ाने तक की हर्ष की जीवनी का वर्णन किया है। राज-दरबार के जीवन के भरपूर वर्णन की दृष्टिसे यह पुस्तक सराहनीय है और उस समय की सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों पर जो प्रकाश डाला गया है वह पुस्तक को अत्यंत रोचक बना देता है। इस पुस्तक के महत्व का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि यह प्राचीन भारत के एकमात्र प्रख्यात व्यक्ति की साहित्यिक जीवनी है।

बाण ने कादंबरी की भी रचना की, जो प्रेम की कहानी है। यह पुस्तक राजा शूद्रक की कहानी से आरंभ होती है जिनकी राजधानी वेत्रावती नदी के किनारे स्थित विदिशा नामक नगर में थी। एक बार उन्होंने एक अत्यंत रूपमती चांडाल लड़की को देखा जो उन्हें एक तोता भेंट करने आयी थी। तोते ने एक विचित्र कहानी सुनायी कि किस प्रकार उसके पिता को जंगल में एक शिकारी ने मार डाला था और किस प्रकार स्वयं उसे ऋषि जाबाली के पुत्र हारित ने छुड़ाया था। जाबाली ने तोते के पिछले जीवन की कहानी दूसरे ऋषियों-मुनियों को सुनायी। इसके बाद हमारा परिचय उज्जयिनी के तारापीड तथा उनके मंत्री शुकनास से होता है। तारापीड के बेटे का नाम है चंद्रापीड और शुकनास के बेटे का नाम है वैशम्पायन। चंद्रापीड को एक अनोखा घोड़ा मिल जाता है जिस पर सवार होकर वह तीन वर्ष के लिए दिग्विजय के लिए निकल पड़ता है। एक दिन उसकी भेंट महाश्वेता नामक अप्सरा से हो जाती है, जो किसी से प्रेम करती है और उसीसे चंद्रापीड को कादम्बरी का पता लगा। महाश्वेता उसे कादम्बरी के पास ले जाती है और वह उस पर मोहित हो जाता है परंतु चंद्रापीड को उससे अलग कर दिया जाता है। वैशम्पायन महाश्वेता से प्रेम करने लगता है परंतु महाश्वेता उसे दुतकार देती है और उसे श्राप देकर तोता बना देती है। वैशम्पायन की मृत्यु हो जाती है और चंद्रपीड की भी और इस प्रकार कहानी मंद गति से 'कथा' के ढंग पर आगे बढ़ती रहती है। इसका कथानक विचित्र है और भाषा उपमाओं तथा अलंकारों से भरपूर है। लम्बे-लम्बे जटिल वाक्य एक-दूसरे के बाद बड़ी भव्य गति से आते रहते हैं और हृदय पर गहरा प्रभाव डालते हैं। कुछ आधुनिक भारतीय भाषाओं में उपन्यास के लिए कादम्बरी शब्द का प्रयोग किया जाता है; यह शब्द बाण की कथा के नाम से ही लिया गया है।

कहा जाता है कि हर्ष ने भी तीन नाटक लिखे थे—नागानंद, रत्नावली और प्रियदर्शिका। पहले नाटक का कथानक जीमूतवाहन नामक बोधिसत्व के जीवन पर आधारित है। बाकी दोनों

नाटकों का नायक उदयन है और उसकी रानी वासवदत्ता दोनों नाटकों में आती है। इनकी भाषा अत्यंत सरल है और अलंकारों के प्रयोग में बड़े विवेक से काम लिया गया है।

विशाखदत्त का प्रसिद्ध नाटक मुद्राराक्षस भी कदाचित इसी काल का है। इस सात अंकों के नाटक में चंद्रगुप्त के वीरतापूर्ण जीवन का वर्णन किया गया है, जिसने चाणक्य की सहायता से भारत के इतिहास में पहले साम्राज्य की स्थापना की। राक्षस नंदवंश के अंतिम राजा का मंत्री है जो मलयकेतु नामक म्लेच्छ राजा की सहायता से इस नये राजवंश का तख़्ता उलट देने का प्रयत्न करता है। परंतु चाणक्य के आगे उन दोनों की एक भी नहीं चलने पाती और अपनी उदारता का परिचय देते हुए चाणक्य पराजित राक्षस से प्रधान-मंत्री का पद स्वीकार करने का आग्रह करता है और इस प्रकार सुखद परिस्थितियों में नाटक का अंत होता है। यह एक ऐतिहासिक विषय के आधार पर लिखी गयी सराहनीय नाट्यरचना है। नाटक के पात्रों द्वारा, जिन्हें दो-दो के जोड़ों में प्रस्तुत किया गया है, विचारों तथा घटनाक्रम को जिस सुगठित ढंग से प्रस्तुत किया गया है उसमें लेखक की निपुणता का परिचय मिलता है। इसकी भाषा अत्यंत प्रभावशाली और उच्च कोटि की है; नाटक में ऐसे अनेक क्रम आते हैं जिनके कारण पाठकों का कौतूहल बना रहता है और इसमें अनेक वीरतापूर्ण घटनाओं का भी वर्णन किया गया है।

मुद्राराक्षस के प्रसंग में हमें एक और महान नाटक का नाम याद आता है—राजा शूद्रक का नाटक मृच्छकटिक अर्थात् मिट्टी की गाड़ी; राजा शूद्रक कदाचित बाण से पहले हुए थे। मृच्छकटिक के रचयिता बहुत बड़े विद्वान और शिव के परम भक्त थे। यह नाटक दस अंकों में है और इसमें वसंतसेना नामक नर्तकी के प्रति चारुदत्त नामक एक ब्राह्मण के प्रेम का वर्णन किया गया है। इस नाटक को प्रशंसा प्राप्त हुई है वह उचित ही है क्योंकि पात्रों का चरित्रचित्रण बड़े सराहनीय ढंग से किया गया है—ये पात्र मानव भावनाओं से परिपूर्ण हैं और इसीलिए वे ग़लतियाँ भी करते हैं। इस रचना में गति, नाटकीयता और सजीव चित्रण सभी कुछ है।

हर्ष के शासन-काल के अंत में ही शिशुपालवध के रचयिता माघ भी हुए। इस रचना का विषय महाभारत से लिया गया है और इसमें कृष्ण द्वारा चेदी राजा शिशुपाल के वध की कहानी का वर्णन किया गया है। यह काव्य-रचना महाकाव्यों की शैली में लिखी गयी है और इसमें कवि ने अपनी समृद्ध शक्ति का परिचय दिया है।

शृंगारशतक, वैराग्यशतक तथा नीतिशतक नामक तीन शतक-काव्यों के प्रख्यात रचयिता कवि भर्तृहरि दूसरे ही स्तर और रुचि के व्यक्ति थे। ई त्सिंग ने भी किसी एक भर्तृहरि का उल्लेख किया है जो व्याकरणाचार्य थे और उन्होंने वाक्यपदीय नामक एक पुस्तक लिखी थी। ई त्सिंग ने लिखा है कि यह भर्तृहरि बौद्ध थे और भिक्षु बनना चाहते थे परंतु सांसारिक माया-मोह के वश वह फिर साधारण मनुष्यों जैसा जीवन व्यतीत करने लगे। ऐसा सात बार हुआ। परंतु शतकों के रचयिता कवि भर्तृहरि बौद्ध नहीं थे बल्कि पक्के शिवभक्त थे। इसलिए भर्तृहरि के वास्तविक जीवन के बारे में निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता और न हमें ठीक से यही मालूम है कि वह किस काल में हुए थे।

उनके इन तीन काव्य-संग्रहों में से शृंगारशतक में नारी के रूप और प्रेम की शक्ति का वर्णन किया गया है। वैराग्यशतक में पार्थिव जीवन की निर्मूलता पर विचार किया गया है और बताया गया है कि इस संसार को त्याग देने ही में सच्चा सुख है। नीतिशतक की शैली औपदेशिक है और इसमें नैतिक आचरण के संबंध में परामर्श दिया गया है। इन रचनाओं का हर श्लोक स्वतंत्र है जिसमें विचारों को बड़े प्रतिभाशाली ढंग से संक्षेप में व्यक्त करके वांछित भाव उत्पन्न किया गया है। भर्तृहरि की कविता में "हम संस्कृत का श्रेष्ठतम रूप देखते हैं। भर्तृहरि का हर छंद साधारणतया स्वतःसम्पूर्ण होता है और एक छन्द में एक ही विचार को, चाहे वह प्रेम का भाव हो, अथवा विरक्ति का या करुणा का, पूर्णतः बड़े परिमार्जित ढंग से व्यक्त किया जाता है। संस्कृत में विचारों को संक्षेप में व्यक्त करने की जो असाधारण क्षमता है उसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हमें भर्तृहरि की कविता में मिलता है। इस कविता को पढ़कर हमारे मस्तिष्क में एक पूर्ण समष्टि का चित्र बनता है जिसके विभिन्न अंग किसी आंतरिक प्रेरणा के वश एक-दूसरे में विलीन हो जाते हैं।"

प्राचीन भारत के अंतिम काल में महावीरचरित, मालतीमाधव और उत्तररामचरित के रचयिता महान नाटककार भवभूति हुए। भवभूति बहुत बड़े विद्वान थे और उन्हें व्याकरण, अलंकार-शास्त्र, तर्क-शास्त्र तथा अन्य शास्त्रों का पूरा ज्ञान था। अपने जीवन के प्रारंभिक काल में अभिनेताओं से उनकी गहरी मित्रता थी और संभवतः उन्हीं के प्रभाव के कारण उन्होंने अपनी साहित्यिक प्रतिभा की अभिव्यक्ति के लिए नाट्यमंच को अपना माध्यम बनाया। महावीरचरित में भवभूति ने रामचंद्रजी के जीवन के प्रारंभिक काल को नाटक के रूप में प्रस्तुत किया है; इसमें उन्होंने उनके विवाह, सीता-हरण तथा उन्हें रावण के यहाँ से छुड़ाकर लाने का वर्णन किया है और लंका से राम की वापसी तथा उनके राज्याभिषेक पर नाटक का अंत हुआ है। अनेक घटनाओं को एक प्रवाहमयी कहानी का रूप देकर और मूलतः उच्च कोटि के चरित्र-चित्रण द्वारा इस नाटक के कथानक में जो एक गठाव पैदा किया गया है उसमें नाटककार की निपुणता का प्रमाण मिलता है। मालती-माधव में नाटककार की महत्वाकांक्षा और ऊँचाई पर पहुँच गयी है। इसकी कहानी चार मुख्य पात्रों पर आधारित है। भूरिवसु और देवव्रत सहपाठी और गहरे मित्र हैं। वे निर्णय करते हैं कि उनकी मित्रता को बनाये रखने तथा और बढ़ाने का यही उपाय है कि वे अपनी संतानों का एक दूसरे से विवाह करके एक दूसरे के संबंधी बन जायें। भूरिवसु मंत्री हो जाता है और उसके एक पुत्री होती है जिसका नाम मालती है। देवव्रत भी वाराणसी में मंत्री हो जाता है और उसके एक पुत्र होता है जिसका नाम माधव है। परंतु पद्मावती का राजा चाहता है कि मालती के साथ उसके लाड़ले नंदन का विवाह हो; दोनों मित्रों की योजना के विफल होने का ख़तरा पैदा हो जाता है। परंतु कामंदकि नामक एक मित्र उनकी सहायता को आता है और मालती तथा माधव के मिलने का प्रबंध कर दिया जाता है। वे एक दूसरे से प्रेम करने लगते हैं। यह इस नाटक का मूल कथानक है जिसे अन्य कई घटनाओं द्वारा सजाया-सँवारा गया है। यों तो यह कथानक सुगठित नहीं है परंतु भावनाओं के श्रेष्ठ चित्रण दृष्टि से यह नाटक सराहनीय है।

उत्तररामचरित में रामचंदजी के राज्याभिषेक के बाद की कहानी का वर्णन किया गया है और इस प्रकार इसे महावीरचरित का ही क्रम समझना चाहिये। इस नाटक में नाटककार के सर्वांगपूर्ण कौशल का परिचय मिलता है और मानव विचारों तथा भावनाओं के विषय में लेखक का मार्मिक ज्ञान सराहनीय है।

प्राचीन भारतीय साहित्य अपने लोक-कथाओं के संग्रह के लिए सुविख्यात है—जैसे जातक-कथाएँ, कथासरित्सागर, पंचतंत्र और हितोपदेश। इन लोक-कथाओं में अत्यंत गूढ़ मार्मिकता का आभास मिलता है और जिस काल में इनकी रचना की गयी थी उस समय की सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों के बारे में जानकारी का अगाध भंडार इनमें मिलता है। इसमें से अधिकांश कथाओं का लक्ष्य उपदेशमूलक है और ये लोक-बुद्धि तथा नैतिकता के विषय में अनेक सूक्तियों से भरी हुई हैं। जातक कथाओं की संख्या साढ़े पांच सौ है और विषय-वस्तु की दृष्टि से ये बुद्ध-पूर्व काल की हैं। गौतम बुद्ध अत्यंत कुशल उपदेशक थे और ग्रामीण जन-साधारण के बीच धर्म-प्रचार के काम में अच्छी कथाओं के महत्व को भली-भाँति समझते थे। इन कथाओं को जातक (जन्म-संबंधी) इसलिए कहा जाता है कि उनमें से हरएक में बुद्ध द्वारा अपने पिछले जन्मों में किये गये किसी सत्कर्म का उल्लेख है। यद्यपि वर्तमान रूप में उनकी विषय-वस्तु का संबंध बुद्ध से है पर वे बुद्ध के काल में भी लोक-कथाओं के रूप में प्रचलित रही होंगी। बुद्ध या उनके शिष्यों ने इन कहानियों को असंगठित लोक-साहित्य में से लेकर उन्हें अपने धर्म-प्रचार का माध्यम बना लिया होगा। अपने वर्तमान रूप में हर जातक के पांच सुस्पष्ट भाग होते हैं अर्थात् वर्तमान प्रसंग, अतीत की कथा, श्लोक, टीका, सादृश्य। वर्तमान प्रसंग में उस घटना का उल्लेख किया जाता है जिसके कारण अतीत की कथा को वर्णन करने की आवश्यकता पड़ी; अतीत की कथा ही मूल कथा होती है। इस श्रेणी के साहित्य में श्लोक सबसे प्राचीन अंग रहे होंगे और गद्य में अतीत की कथा के प्रसंग से अलग करके उनमें से बहुत-से श्लोकों को समझना भी कठिन है। टीका में श्लोकों का अर्थ समझाया जाता है और सादृश्य वाले भाग में अतीत की कथा तथा वर्तमान प्रसंग के पात्रों का पारस्परिक संबंध दिखाया जाता है।

गुणाढ्य की बृहत्कथा एक और प्रख्यात संग्रह है और कदाचित लोक-कथाओं के अनेक संग्रहों में से यह सबसे पुराना है। मूलतः यह ग्रंथ पैशाचि भाषा में था पर वह कहीं खो गया। परंतु संस्कृत भाषा में इसके संक्षिप्त भावानुवाद मिलते हैं जैसे क्षेमेंद्र की बृहत्कथामंजरी या सोमदेव का कथासरित्सागर। कथासरित्सागर के रचयिता सोमदेव का जीवनकाल ११वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में था; वह काश्मीर के निवासी थे। इस ग्रंथ के १८ खंड हैं और इनमें बहुत बड़ी संख्या में रोचक तथा मनोहारी कहानियाँ हैं। इसकी शैली सरल तथा भव्य है और अनेक कहानियाँ स्पष्टतः पंचतंत्र से ली गयी हैं। पंचतंत्र के बारे में ऐसा अनुमान किया जाता है कि उसकी रचना छठी शताब्दी ईसवी में हुई थी। पंचतंत्र का रचयिता विष्णुशर्मन नामक एक ब्राह्मण को बताया जाता है। यह रचना पांच खंडों में है। यह पुस्तक राज-परिवार के बच्चों की शिक्षा के लिए लिखी गयी थी और इन कहानियों का उपदेशात्मक लक्ष्य स्पष्ट दिखायी

देता है। इसकी अनेक कहानियाँ विश्व लोक-साहित्य का अंग बन चुकी हैं। हितोपदेश की रचना, जो पंचतंत्र का ही दूसरा रूप है, संभवतः १०वीं शताब्दी ईसवी में हुई थी; यह पुस्तक बहुत-कुछ पंचतंत्र के ही ढंग पर लिखी गयी है। पंचतंत्र का एक दूसरा रूपांतर तंत्राख्यायिका है। वेतालपंचविंशतिका (बैताल-पचीसी), शुकसप्तति (एक तोते की कही हुई सत्तर कहानियाँ), सिंहासनद्वात्रिंशिका (सिंहासन बत्तीसी, अर्थात् विक्रमादित्य के सिंहासन पर बनी हुई युवतियों की मूर्तियों द्वारा कही गयी बत्तीस कहानियाँ) और इनके अतिरिक्त बौद्ध वाङ्मय की अवदानशतक प्राचीन भारतीय लोक-कथाओं के कुछ और संग्रह हैं।

विभिन्न विद्याओं के विषय में, जैसे चिकित्सा, गणित, स्थापत्य-कला, मूर्तिकला तथा नाट्यकला पर जो ग्रंथ उपलब्ध हैं उनकी सूची बहुत लम्बी है। इन शास्त्रों में अलग-अलग विषयों से संबंधित कार्यविधि तथा व्यवहार के नियमों तथा सैद्धांतिक ज्ञान को सूत्रबद्ध कर दिया गया है और प्राचीन भारत में विभिन्न विद्याओं के विकास के अध्ययन के लिए इनका महत्व बहुत अधिक है। उदाहरण के लिए प्राचीन भारत के नाट्य-कौशल को उचित ढंग से समझने के लिए भरत के नाट्यशास्त्र का अध्ययन अनिवार्य है। इस ग्रंथ में नाट्यशाला की निर्माण-योजना तथा अभिनय के नियमों के बारे में विस्तृत आदेश दिये गये हैं। इसके अनुसार उस समय प्रमाणित नाट्यशाला ९६ फ़ीट लम्बी और ४८ फ़ीट चौड़ी एक इमारत होती थी। इसे दो बराबर भागों में विभाजित कर दिया जाता था; एक भाग (जो ४८ फ़ीट लम्बा और ४८ फ़ीट चौड़ा होता था) दर्शकों के बैठने के लिए होता था। नाट्यमंच का अगला भाग १२ फ़ीट चौड़ा और २४ फ़ीट लम्बा, पिछला भाग १२ फ़ीट चौड़ा और ४८ फ़ीट लम्बा और अभिनेताओं के शृंगार का कमरा (ग्रीन रूम) २४ फ़ीट चौड़ा और ४८ फ़ीट लम्बा होता था। पूरे नाट्यमंच में अगला तथा पिछला दोनों भाग शामिल होते थे। नाट्यमंच के अगले भाग के दोनों ओर अभिनेताओं के प्रवेश के लिए पार्श्व-कक्ष होते थे। भरत ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि नाट्यशाला को उचित रूप से सजा होना चाहिये। उन्होंने लिखा है : "नाट्यमंच का अगला भाग लकड़ी का बना होना चाहिये और उसे लकड़ी को खरादकर बनाये गये जल-कलशों, ध्वजाओं तथा युवतियों की मूर्तियों से सजाया जाना चाहिये। उसमें पुष्पमालाएँ लटकायी जानी चाहिये और सजावटी तोरण होने चाहिये। नाट्यमंच का निचला सिरा सफ़ेद रंग का होना चाहिये और पलस्तर करके उसे चिकना बना देना चाहिये पर नाट्यमंच का धरातल किसी भी दशा में ऐसा न होना चाहिये कि उस पर पैर फिसले। नाट्यमंच की पृष्ठभूमि के लिए लकड़ी के छः खंड निर्माण किये जाने चाहिये। बीच की ख़ाली जगह को बहुत बारीक काली मिट्टी से भरकर कछुए की पीठ की शक्ल का बना देना चाहिये। पीछे की इस दीवार पर और नाट्यशाला की अन्य सभी दीवारों पर शेरों, हाथियों, गुफाओं, पर्वतों, नगरों तथा पुष्प-उद्यानों के चित्र बनाये जाने चाहिये।"

दर्शकगण के बैठने की व्यवस्था सीढ़ियों के रूप में की जाती थी और उनके लिए आसन लकड़ी तथा ईंटों के बने होते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि एक नाटयशाला में अधिक से अधिक एक हज़ार लोगों के बैठने का प्रबंध होता था। नाटयमंच के पूर्व की ओर का स्थल

राज-परिवार के सदस्यों के लिए होता था; ब्राह्मण तथा विद्वान दक्षिण की ओर बैठते थे और राज-कर्मचारी नाट्यमंच के निकट उत्तर की ओर।

अभिनय-कला की ओर भी इतना ही ध्यान दिया जाता था। नाट्यदर्पण में अभिनय को हाथ-पैर, शरीर के अंगों तथा मुखाकृति की मुद्राओं के अनुसार अलग-अलग श्रेणियों में बाँट दिया गया है। अंगाभिनय का अर्थ होता था सिर, हाथों, बगल, पार्श्व, कमर तथा पैरों और गरदन द्वारा भाव तथा भावना को व्यक्त करना; प्रत्यगाभिनय में कंधों, भुजाओं, पीठ तथा शरीर के अन्य अंगों का प्रयोग किया जाता था। उपांगाभिनय में आँखों, आँख की पुतलियों, गालों, नाक, जबड़े, होंठों, दाँतों, जीभ, ठोड़ी तथा चेहरे की मुद्राएँ आती थीं। संगीत तथा नृत्य नाटक के अभिन्न अंग थे और मुद्राओं के प्रयोग द्वारा, जिनकी संख्या २५ से अधिक थी, नाटक में वांछित रस उत्पन्न किया जाता था। नाट्यमंच पर क्या चीज़ें प्रस्तुत की जा सकती थीं इसके विषय में भी कुछ नियम थे। मृत्यु, युद्ध या शवयात्रा के दृश्य नाट्यमंच के लिए अनुचित समझे जाते थे। चित्रण तथा अभिनय के ये नियम अच्छे नाटककार की क्षमता को सीमित करने के बजाय नाट्यमंच पर जीवन का चित्रण करने में उसकी काफ़ी सहायता करते थे।

अन्य शास्त्रों में, जैसे वास्तुशास्त्र और शिल्पशास्त्र में नगर-नियोजन तथा मूर्तिकला के विद्यार्थियों के लिए अत्यंत उपयोगी सामग्री मिलती है। इन शास्त्रों में ऐसी जानकारी मिलती है जिसे अनुभव की कसौटी पर परखा जा चुका है और जो प्राचीन भारत की कलाओं के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए विशेष महत्व रखती है।

अतएव, प्राचीन भारत का साहित्य विभिन्न सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों में विकास के एक लम्बे मार्ग की उत्पत्ति है। इसका विस्तार सचमुच अत्यंत विशद है क्योंकि इसमें विचारों की अभिव्यक्ति के विविध रूपों, जैसे कविता, कहानी, नाटक, गद्य-रचना, कल्पना-साहित्य तथा विज्ञान सभी का समावेश है। इसमें प्राचीन भारत बौद्धिक जीवन का सर्वतोमुखी विकास प्रतिबिंबित होता है, जिसे अपनी परम्परा से प्रेम था परंतु जो सदैव नयी बातें सीखने के लिए उत्सुक रहता था।

— ६ —

# प्राचीन भारत की कला

प्रस्तुत पुस्तक के इस भाग के पिछले पृष्ठों में हम देख चुके हैं अनेक युगों के दौरान में सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक संगठन ने जो रूप धारण किये उनका प्राचीन भारतवासी पर क्या प्रभाव पड़ा। हम यह भी देख चुके हैं कि इस काल में कौन-कौन सी शैक्षणिक संस्थाएँ काम कर रही थीं और उन्होंने क्या फल प्रदान किये। आगामी पृष्ठों में हम प्राचीन जीवन के एक दूसरे पहलू पर, जो प्रत्यक्ष रूप से सृजनात्मक है, प्रकाश डालेंगे—प्राचीन भारत की कला तथा सौंदर्यात्मक अनुभव पर।

भारतीय कला की परम्परा संसार की प्राचीनतम जीवित कला-परम्पराओं में से है। परंतु केवल प्राचीनता ही इसका एकमात्र गुण नहीं है। इतिहास में इतने दीर्घकाल तक इसका क्रम अनवरत बने रहने के साथ ही इस कला द्वारा सृजन की गयी वस्तुओं की विपुल कला-निधि भी बहुत महत्व रखती है; प्रकृति तथा मनुष्य के हाथों तबाह होने के बाद भी इस कला का जितना भंडार शेष रह गया है वह अत्यंत गौरवशाली है। भारतीय कला एक प्राचीनतम और अत्यंत सृजनात्मक कला ही नहीं रही है बल्कि इसमें अभिव्यक्ति के विभिन्न रूप भी दिखायी देते हैं। बरहुत में यक्षि की मूर्ति, गुप्तकाल की बुद्ध की मूर्तियाँ और चोल शासनकाल की नटराज की मूर्ति—ये सभी एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होते हुए भी भारतीय कला के नमूने हैं। परंतु इन सबमें एक ऐसी भावना व्याप्त है जो मूलतः भारतीय है। यक्षि पशु-उपासना का एक उदाहरण है, बुद्ध की मूर्ति बौद्ध-धर्म की प्रतीक है और तांडव नृत्य की मुद्रा में नटराज गतिशीलता की उस भावना का रहस्योद्घाटन करते हैं जिससे शैवमत ओत-प्रोत है। उपासना के माध्यमों के रूप में इन तीनों में प्रायः कोई भी समानता नहीं है। परंतु कला की वस्तुओं के रूप में ये तीनों ही प्राचीन भारत की उसी भावना तथा प्रतिभा की उत्पत्ति हैं। प्राचीन भारत की कला के सर्वेक्षण में हम जैसे-जैसे आगे बढ़ेंगे यह बात और स्पष्ट होती जायेगी।

परंतु यह सर्वेक्षण आरंभ करने से पहले यह आवश्यक है कि हम प्राचीन भारत की कला की कुछ मोटी-मोटी लाक्षणिकताओं पर विचार कर लें। संभव है कि प्राचीन भारत की किसी कलाकृति पर अकस्मात् दृष्टि पड़ जाने से दर्शक का ध्यान तुरंत उसकी ओर आकर्षित हो पर वह उसके वास्तविक सौंदर्य को धीरे-धीरे ही समझ सकता है। एल्लौरा के कैलाश मंदिर में चट्टानों को काटकर बनायी गयी चिंतनशील मूर्तियों को देखकर यह कौतूहल जाग्रत होता है कि इसमें निर्माणकला के कैसे अपूर्व कौशल का प्रमाण मिलता है; वहाँ की दशावतार चित्रावली विदेशियों का ध्यान तुरंत अपनी ओर आकर्षित करती है परंतु जब तक दर्शक का

मस्तिष्क उन धार्मिक तथा रसानुभूति संबंधी तत्वोंसे परिचित नहीं होगा जो इन स्पष्टतः निश्चेत दिखायी देनेवाली चट्टानों की मंत्रमुग्ध कर लेनेवाली सुडौल रचना के रूप में व्यक्त होते हैं तब तक वह इन आकृतियों को आसानी से नहीं समझ पायेगा। इसके अतिरिक्त वे लोग, जो कला को अलग-अलग कृतियों के सौंदर्य तथा उनके द्वारा व्यक्त होनेवाले भावों की कसौटी पर परखते हैं, वीथिकाओं में एक सिरे से दूसरे सिरे तक बुद्ध की मूर्तियों को देखकर उकता जायेंगे जिनकी मुद्रा में एक ही समय में दो परस्पर-विरोधी भाव व्यक्त होते हैं, जो पृथ्वी पर बैठे हुए भी पृथ्वी से बहुत अमर और परे प्रतीत होते हैं। कला के इस स्वरूप से वह बिल्कुल चकरा जायेगा और यदि वह उसकी सुडौल रचना और विभिन्न अंगों के अनुपात से प्रभावित भी हो जाये तब भी वह सौंदर्य की उस रसानुभूति से कोसों दूर रहेगा जो समस्त कला की आधारशिला है।

हर देश की कला की जड़ें बहुत गहराई तक उसके सामाजिक तथा आर्थिक इतिहास में जमी होती हैं। प्राचीन भारत की कला की उत्पत्ति तथा विकास एक विशिष्ट वातावरण में हुआ है, जिसकी परिस्थितियों ने उसकी अभिव्यक्ति के रूपों को निर्धारित किया है और उसके विकास की गति पर नियंत्रण रखा है। इस समझ-बूझ के लिए कुछ मूलभूत बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है। अभी बहुत थोड़े समय पहले तक भारतीय कला का विकास कुछ निश्चित माँगों को पूरा करने के लिए ही हुआ और ये माँगें या तो मूलतः धार्मिक माँगें थीं या उनसे उत्पन्न गौण माँगें थीं। इसके अतिरिक्त प्राचीन भारतीय कला का झुकाव हमेशा ही से एक विशिष्ट दिशा में रहा है और वह यह कि इसे शिल्प समझा गया है और शिल्प से उसका संबंध कभी भंग नहीं हुआ है। कलाकार (शिल्पिन्) अपने आपको मूलतः शिल्पकार समझते थे जो किसी भी कलाकृति की रचना इस विश्वास को लेकर करते थे कि इस रचना द्वारा वे अपने धर्म की सेवा भी कर रहे हैं और साथ ही अपने व्यावसायिक दायित्व को भी पूरा कर रहे हैं। एक शिल्पी होने के नाते कलाकार अपनी कला द्वारा सामूहिक अनुभव के किसी नमूने को प्रतीक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता था। शिल्पी के रूप में उसकी कृति में ही उसका अस्तित्व होता था और वैयक्तिक ख्याति को दंभ समझा जाता था। यही कारण है कि प्राचीन भारत की अधिकांश कलाकृतियों के रचयिताओं का नाम किसी को भी मालूम नहीं। इन कृतियों द्वारा अभिव्यक्त अनुभव सर्वव्यापी तथा सर्वानुभूत हैं; यह मनुष्यों का नहीं बल्कि मानव का अनुभव है।

चित्र-विचित्र अनुभवों के पीछे संनिहित इस मौलिक अनुभव की व्याख्या करने के लिए प्राचीन भारतीय कला ने एक अत्यंत विकसित प्रतीकात्मक शैली का प्रयोग किया है। प्रतीकों के इस महत्वपूर्ण प्रयोग का सबसे प्रमुख उदाहरण कमल है। भावों को व्यक्त करने के लिए और स्पष्टतः निश्चेत धारणा को गतिशीलता की भावना प्रदान करने के लिए मुद्राओं की भाषा का भी प्रयोग किया गया है। यद्यपि प्राचीन भारतीय कला की प्रेरणा हमेशा धर्म से ही मिली पर वह कभी धर्म की सीमाओं में बँधकर नहीं रही; इस कला में जो अंतर दिखायी देते हैं वे या तो प्रादेशिक हैं या विकास की विभिन्न अवस्थाओं के द्योतक हैं।

प्राचीन भारत की कला के इतिहास का कोई महत्व उसी समय हो सकता है जब हम इस इतिहास को सिंधु घाटी की सभ्यता के समय की कला के अवशेषों से आरंभ करें। सिंधु घाटी की सभ्यता की कला के जो कुछ नमूने हमें उन स्थलों से प्राप्त हुए हैं जो अब पाकिस्तान में हैं उनमें से चित्रांकित मुहरों को यदि छोड़ दिया जाये तो हरप्पा में प्राप्त नर्तकी की काँसे की मूर्ति तथा लाल पत्थर का एक मूर्ति का धड़, मोहेनजोदड़ो में प्राप्त बैल तथा बंदर की आकृतियाँ इस कला की सब से प्रतिनिधित्वपूर्ण कृतियाँ हैं। इन कृतियों में जिस कला का नमूना मिलता है वह शैली की सशक्त स्वाभाविकता, आकृति के विभिन्न अनुपातों के उत्कृष्ट ज्ञान और हर्ष तथा उल्लास की ऐसी भावना से परिपूर्ण है जिनका अनुभव जीवन के स्पंदनशील क्षेत्र में ही हो सकता है। इन कृतियों में अनुभव तथा कौशल की पर्याप्त परिपक्वता का परिचय मिलता है क्योंकि इन कृतियों में विभिन्न पदार्थों को कलाकार के हाथों से स्फूर्तिमय आकृतियों का रूप देकर सामंजस्य तथा गति का भाव उत्पन्न किया गया है। परंतु सिंधु घाटी की संस्कृति अभी तक हमारे लिए एक पहेली बनी हुई है क्योंकि इन स्थलों की खुदाई में जो पुरातत्व-संबंधी सामग्री मिली है उसने हमारे सामने इतनी समस्याएँ खड़ी कर दी हैं कि हम उन सब को हल भी नहीं कर सकते। लगभग २५०० ई० पू० से लेकर २५० ई० पू० तक का दीर्घ काल एक ऐसा युग है जिसकी कलात्मक अभिव्यक्ति के बारे में हमें जो प्रमाण उपलब्ध हैं वे प्रायः नगण्य हैं। उस युग की वास्तु-कला अधिकांशतः लकड़ी की थी और उसका नाम-निशान भी बाक़ी नहीं रहा है। इसलिए मौर्यकाल से पहले के भारत की कला का इतिहास "भाषा की दृष्टि से एक सादे पृष्ठ और पुरातत्व की दृष्टि से एक ख़ाली अल्मारी की भांति है।"

प्राचीन भारत की कला का इतिहास हम वास्तव में अशोक के समय से आरंभ कर सकते हैं। अशोक ही ने सबसे पहले भवन-निर्माण में लकड़ी के स्थान पर पत्थर का प्रयोग आरंभ कराया; उससे पहले मकान बनवाने के लिए सामान्यतः लकड़ी का ही प्रयोग किया जाता था। मौर्यकालीन कला तो, ऐसा प्रतीत होता है, सहसा प्रबल आवेग से इतिहास के रंगमंच पर छा गयी; यह बात उस कला की प्रविधि तथा उसमें प्रयुक्त सामग्री दोनों ही में स्पष्ट रूप से दिखायी देती है। इस कला में मूल सामग्री के रूप में बलुए पत्थर का प्रयोग किया गया और बड़ी दक्षता से उसकी विशालकाय शिलाओं को काटकर विभिन्न रूपों में ढाला गया और उन्हें चिकना करके मानो मौर्य दरबार के वैभव को प्रतिबिंबित करने के लिए उनमें चमक पैदा की गयी। अशोक स्तंभों के समूह को ही ले लीजिये। इस समूह में दस स्मारक हैं जो निम्न-लिखित स्थानों में स्थित है : (१) दिल्ली-टोपरा, (२) दिल्ली-मेरठ, (३) इलाहाबाद, (४) लौरिया-अरराज, (५) लौरिया-नंदनगढ़, (६) रामपुरवा, (७) साँची, (८) सारनाथ, (९) रुम्मिनदेइ और (१०) निगलिवा। इस सूची को देखने से पता लगता है कि ये स्तंभ मध्य भारत में साँची से लेकर नेपाल की सीमा तक अत्यंत विस्तृत क्षेत्र में फैले हुए हैं और इनकी स्थापना बुद्ध धर्म से संबधित स्थानों में करायी गयी थी। ये स्तंभ निर्माण-कला की निपुणता के स्मारक होने के साथ ही "संगतराशों के उच्चतम क़ौशल" के निष्कलंक उदाहरण और

"ललित-कला के भव्य प्रदर्शन के माध्यम" भी हैं। इन स्तंभों के दंड तो हमारा ध्यान आकर्षित करते ही हैं पर इन स्तंभों की शीर्षस्थ मूर्तियों को देखकर हम प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते क्योंकि इन पर स्फूर्ति की भावना को व्यक्त करनेवाले जिन पशुओं की आकृतियाँ अंकित हैं उनमें एक निराली भव्यता है और वे अदम्य शक्ति से हमारे हृदय पर यह छाप डालते हैं कि हम किसी महान कलाकृति के सम्मुख खड़े हैं। रामपुरवा के बैल में जो चिर-परिचित बल कूट-कूटकर भरा हुआ है, सारनाथ के सिंहों (जिन्हें हमारी सरकार ने अब राज्य-चिह्न के रूप में स्वीकार कर लिया है), राजसी अश्व तथा सुंदर मृग की भव्य आकृतियों में रूप तथा शक्ति का संतुलित सामंजस्य और अंततः अशोकचक्र जो धर्म की अजेय सर्वोपरि सत्ता का द्योतक है (और इसी नाते उसे हमारे राष्ट्रध्वज पर स्थान दिया गया है),—ये सभी चीज़ें यद्यपि बौद्ध-धर्म से सम्बद्ध हैं पर इनका आशय सर्वव्यापक है। सिंह वह साधारण सिंह नहीं है जो भयावह वन में रहता है और संध्या के समय किसी पर्वत की चट्टान पर से शिकार की खोज में दहाड़ता है; यह सिंह प्रतिष्ठावान् व्यक्ति तथा उदात्त संकल्प का प्रतीक है। इन सबमें अशोक का वास्तविक रूप झलकता है जो सम्राटों जैसे समस्त वैभव का भोग करते हुए भी अत्यंत उदार था, ऐश्वर्य तथा विलासिता में रत होते हुए भी उसमें सच्ची लगन थी; वह दिग्विजयी सम्राट् था पर सत्य की खोज में निरंतर संलग्न था।

भारतीय कला के इतिहास में अशोक का युग गुफाओं की वास्तु-कला की दृष्टि से भी उल्लेखनीय है। भारत की प्राचीनतम ऐतिहासिक गुफाओं—बराबर गुफा-समूह—के निर्माण की तिथि अशोक के शासनकाल के १२वें वर्ष से १९वें वर्ष तक निर्धारित की जा सकती है। ये गुफाएँ कठोर पत्थर की समूची शिलाओं को काटकर बनायी गयी हैं। इनका सामने का भाग एक द्वार के रूप में खुला होता है जिसके पाखे तिरछे होते हैं; यह स्पष्टतः उस समय लकड़ी के द्वार बनाने की प्रचलित विधि का ही अनुकरण था। बराबर गुफा-समूह गया ज़िले में फलगू नदी के बाँये किनारे पर पहाड़ियों के एक निर्जन क्रम में स्थित है। इस समूह में सात गुफाएँ हैं, जो बहुत लम्बी-चौड़ी हैं और यद्यपि इनकी निर्माण-योजनाएँ अलग-अलग हैं पर इनकी बनावट एक-दूसरे से इतनी मिलती-जुलती है कि वे स्पष्टतः एक ही युग की बनी हुई हैं। अंदर से भी और बाहर से भी वे देखने में बिल्कुल सादी हैं और यद्यपि आकार की दृष्टि से वे सबसे छोटी हैं पर "भारत की समस्त गुफाओं में से सबसे कम सजावट इन्हीं में है।" कठोर शिलाओं को काटकर ३०-४० फ़ीट लम्बी गुफाएँ बनाने और उनके अन्तर्भाग को चिकना करने को लिए जितना परिश्रम करना पड़ता था वह गहरी धार्मिक भावना की प्रेरणा के बिना असंभव था। भारत में गुफाएँ बनाने की वास्तु-कला इस छोटे-से पैमाने पर आरंभ हुई पर उसमें विशाल संभावनाएँ निहित थीं और आगे चलकर वह कौशल तथा भव्यता के उस उच्च स्तर पर पहुँच गयी जो एल्लौरा तथा एलीफ़ैंटा की गुफाओं में देखने को मिलता है।

इसी प्रसंग में दीदारगंज, परखम, पटना तथा बेसनगर में पायी गयी कुछ यक्ष मूर्तियों का भी उल्लेख कर देना उचित होगा। मौर्यकालीन कला से यह कला इस दृष्टि से भिन्न है कि

इन मूर्तियों में हमें शुद्धतः भारतीय प्रेरणा और मूर्तिकला की इस देश की मौलिक प्रविधि की लाक्षणिकताएँ दिखायी देती हैं; इस प्रविधि में काफ़ी परिपक्वता आ चुकी थी। ये मूर्तियाँ भी मौर्यकाल की ही हैं और अपनी "विचित्र जड़ता" तथा आकृति को सरल ढंग से प्रस्तुत करने की शैली के कारण इनमें एक निराली ही विशिष्टता आ गयी है जो इनके विशाल आकार के कारण और भी उभरकर सामने आती है। अशोक-स्तंभों के शीर्षों की तरह ये भी भूरे बलुए पत्थर की बनी हुई हैं। चूंकि इस प्रकार की मूर्तियों के बहुत कम नमूने उपलब्ध हैं इसलिए हम इस युग की इस मूर्तिकला-शैली की अपनी जानकारी के बारे में उतना नहीं कह सकते जितना कि हम चाहते हैं।

मौर्यकालीन मूर्तिकार जिस समय अपनी कला-प्रवीणता का भव्य प्रदर्शन कर चुकने के बाद अपने औज़ार समेट रहे थे उसी समय मध्य भारत में एक स्थानीय कला-शैली जीवन के भरपूर आवेश के साथ प्रस्फुटित हो उठी। यह साँची तथा बरहुत की कला थी जो शुंगकाल (दूसरी से पहली शताब्दी ई. पू. तक) की बतायी जाती है। मध्य भारत में साँची तथा बरहुत में दो प्रख्यात स्तूप हैं। हर स्तूप में ईटों का बना हुआ एक अर्धगोलाकार गुम्बद है जिसके शिखर पर आत्मा की सर्वोपरिता के प्रतीक के रूप में एक दंड तथा छत्र लगा हुआ है। स्तूपों की परम्परा अंत्येष्टि-क्रिया के बाद संतों की अस्थियों को सुरक्षित रखने वाले स्मारकों के रूप में आरंभ हुई। समय की गति के साथ ये स्तूप धार्मिक केंद्र बनते गये जहाँ लोग पुण्य कमाने के लिए पुष्प चढ़ाने लगे और दीप जलाने लगे। इन स्तूपों के चारों ओर एक जंगला बना होता है जिसमें चार मुख्य दिशाओं में एक-एक फाटक होता है। जंगले पर असंख्य मूर्तियाँ बनी होती हैं जिनमें या तो बुद्ध के जीवन की इतिहासगत घटनाओं का चित्रण किया जाता है या उनके पूर्व जन्मों की कल्पित घटनाओं का। यह कला मूलतः एक लोक-कला है जिसमें प्रकृति-प्रेम की गहरी भावना और मानव, पशु तथा उद्भिज जीवन के ऐक्य का स्पष्ट बोध झलकता है। इस कला पर पुरोहित वर्ग की ज़रा भी छाप नहीं है और इसमें जो थोड़ा-बहुत धार्मिक पुट है उसे स्पष्ट रूप से व्यक्त न करके केवल उसकी ओर संकेत भर कर दिया गया है। इस कला में जीवन के प्रति ऐसे लोगों के उल्लास का स्पष्ट प्रमाण मिलता है जिनकी जड़े यहाँ की धरती में जमी हुई हैं और जिन के अंग-अंग पर यहाँ के जीवन की छाप है। इस कला में जीवन एक प्रवाहमयी धारा के रूप में दिखायी देता है और राजा और दरबारी, सौदागर और शिकारी, देवता और परियाँ पशु और वृक्ष पत्थर के धरातल पर रूप तथा सुगठित आकृतियों के एक सर्वांगसुंदर चित्र के रूप में बिखरे हुए है; और इन सबसे मिलनेसे जीवन का ऐसा भव्य दृश्य हमारी आँखों के सामने आता है जिसमें तुच्छ अहंकार, उच्च आशाएँ तथा महान अभिलाषाएँ सभी का प्रतिबिंब दिखायी देता है। इसकी शैली क्रमिक वर्णन की शली है और जिस प्रविधि का प्रयोग किया गया है वह "स्मृति-चित्रों" की प्रविधि है। मूर्तिकार ने कथाकार का रूप धारण कर लिया है, वह अपने मत से तो कोई बात नहीं जोड़ता पर संकेत हर बात की ओर कर देता है। इस प्रस्तर-चित्रावली का डिज़ाइन अत्यंत सुस्पष्ट है, पत्थर को बहुत कम गहराई तक काटकर मूर्तियों की आकृति को उभारा गया है और कलाकार के

उद्देश के विषय में दर्शक के मन में किसी प्रकार की शंका नहीं रह जाती। यह कला यहाँ की धरती से प्रस्फुटित हुई और बौद्ध-धर्म की इतिहासगत यथार्थता तथा उसके आध्यात्मिक आदर्शवाद ने इस कला को पाल-पोसकर सोद्देश्य सप्राणता से भरपूर जीवन प्रदान किया। यह कला अपने सौंदर्य से दर्शक को प्रभावित करने के लिए आरंभ हुई थी पर धीरे-धीरे वह धर्म-प्रचार का माध्यम बन गयी।

जिस समय बरहुत तथा साँची की कला प्रतीकात्मक शैली में नाना प्रयोगों द्वारा मानव महानता का रहस्योद्घाटन करने का प्रयत्न कर रही थी उसी समय सुदूर उत्तर में तथा उत्तर पश्चिम में यह देश बाह्य प्रभावों को स्वीकार करने के लिए तैयारी कर रहा था। एक नयी जीवन-पद्धति की स्थापना करने के दौरान में बौद्ध-धर्म ने विपुल सृजनात्मक शक्तियों को उन्मुक्त कर दिया था। बुद्ध ने अपना जीवन नैतिक आचरण के क्षेत्र में एक उपदेश के रूप में आरंभ किया था परंतु कई शताब्दियाँ पार कर चुकने के बाद वह विपदाग्रस्त संसार के परित्राणकर्ता बन गये। अष्टांगिका मार्ग मनुष्यमात्र के लिए एक नयी दार्शनिक विचार-धारा थी और यदि बुद्ध का जन्म भारत की वसुंधरा पर न होकर किसी अन्य नक्षत्र-मंडल की ज्योति से देदीप्यमान किसी दूसरे देश की भूमि पर हुआ होता तब भी कोई अंतर न पड़ता। बौद्ध-धर्म ने अपनी व्यापकता के कारण ही इतने अधिक लोगों को अपनी ओर इतना आकर्षित किया और धीरे-धीरे करोड़ों लोग—भारतीय भी और विदेशी भी—इस मत को स्वीकार करने लगे। पहली शताब्दी ईसवी में कुषाणों का शासन था और कुषाणों में सबसे महान शासक कनिष्क था। कुषाण साम्राज्य मथुरा से मध्य एशिया तथा रोमन साम्राज्य की सीमाओं तक फैला हुआ था और वह भारतीय, चीनी, रोमन, तथा ईरानी सांस्कृतिक प्रभावों का संगम बन गया था। इन परिस्थितियों में गांधार कला का जन्म हुआ, जिसने यूनानी-रोमन शैली में भारतीय विषयों को प्रस्तुत करने के असंभव काम को संभव बनाने का प्रयास किया। साधारणतया यह माना जाता है कि बुद्ध की प्रथम मूर्तियों का निर्माण इन्हीं परिस्थितियों में हुआ परंतु इस संभावना को पूर्णतः अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इन मूर्तियों के निर्माण का सूत्रपात बुद्ध की जन्मभूमि में ही हुआ हो। गांधार शैली की बुद्ध की मूर्तियों में उन्हें एक ऐसा परिधान पहने हुए दिखाया गया है जिसकी सिलवटों को अत्यंत सुचारु रूप से तराशा गया है। बुद्ध की इन आकृतियों में एक राजकुमार और एक तपस्वी का विचित्र सम्मिश्रण देखने को मिलता है; यदि हम इन्हें राजकुमार के रूप में देखें तो वे कुछ अस्वाभाविक प्रतीत होती हैं और इन आकृतियों में जो तपस्वी है वह भी अपने वातावरण से कुछ संतुष्ट प्रतीत नहीं होता। इन मूर्तियों में बौद्ध भावना व्याप्त है पर इस भावना को पूरी तरह समझा नहीं गया है, इस कला की प्रविधि अत्यंत उत्कृष्ट है पर ऐसा प्रतीत होता है कि किसी पौदे की क़लम किसी विदेशी भूमि पर लगा दी गयी है। पहली बार देखने में तो ये मूर्तियाँ अत्यंत चित्ताकर्षक प्रतीत होती हैं पर उन पर अधिक विचार करने पर बड़ी निराशा होती है। इनमें चित्ताकर्षण तो बहुत है पर भारतीय दृष्टिकोण से वास्तविक सौंदर्य का अभाव है।

यद्यपि रसानुभूति की दृष्टि से गांधार की कला को सफलता प्राप्त नहीं हुई पर मूर्ति-निर्माण की दृष्टि से वह एक बहुत बड़ी सफलता थी क्योंकि इसके बाद से बुद्ध की मूर्तियाँ बनाने का प्रचलन हो गया। मथुरा में बुद्ध की सैकड़ों मूर्तियाँ बनायी गयीं जिन्होंने बौद्ध परम्परा के रूप को निखारा तो ज़रूर पर वे भी बौद्धमत के सच्चे उपदेश को व्यक्त नहीं कर सकीं। इधर उत्तरी भारत के मूर्तिकार जिस समय पत्थर में बुद्ध के वास्तविक स्वरूप को मूर्त करने का प्रयत्न कर रहे थे, उसी समय सुदूर दक्षिण में कृष्णा नदी के दक्षिणी किनारे पर अमरावती के मूर्तिकार अपनी सराहनीय कल्पना-शक्ति का परिचय दे रहे थे; स्तूपों को सजाने के लिए पत्थरों को हल्का-हल्का काटकर अत्यंत सुंदर बेल-बूटे बनाने में उनकी विशेष रुचि थी। दकन प्रदेश तथा आंध्र में सातवाहनों के शासनकाल में, बौद्ध-कला को समुचित प्रोत्साहन मिला और कन्हेरी (बम्बई), कार्ले (पूना) नासिक के गुफा-मंदिर चट्टानों को काटकर बनाये गये। लकड़ी की वास्तु-कला के नमूनों ने इस कला पर बहुत गहरी छाप डाली और मठों की आवश्यकताओं तथा शिल्पकारों की श्रेणी-पद्धति ने मिलकर एक ऐसी वास्तु-कला को जन्म दिया जो भारत के इतिहास में बहुत महत्व रखती है। गुफा-मंदिर मठीय निवासस्थान भी होता है और आराधना तथा उपासना का स्थल भी। चट्टानों को काटकर बनाये गये इन मंदिरों के उपरोक्त उपयोगों के कारण उत्पन्न होनेवाली आवश्यकताओं ने इसके विकास पर अपना नियंत्रक प्रभाव डाला। मौर्य शासन के अंत से लेकर ३२० ई० में गुप्त साम्राज्य की स्थापना तक जो समय बीता वह कला तथा राजनीति दोनों ही क्षेत्रों में अशांति का युग था। देशभर में पुराने साम्राज्य के अवशेष बिखरे पड़े थे जिनके धरातल को चीरकर छोटे-छोटे राज्यों तथा सामंतों की सत्ता का उदय हो रहा था जो अपनी क्षणिक राजनीतिक सरगर्मियों द्वारा साम्राज्य की परम्परा के स्थायित्व को व्यक्त करने का प्रयत्न करते थे। कला के क्षेत्र में यह प्रयोगों का युग था जिसमें राजनीतिक उथल-पुथल और आध्यात्मिक खोज के भँवर में फँसी हुई जनता की सृजनात्मक प्रेरणा को व्यक्त करने के लिए एक संतोषजनक माध्यम तथा शैली ढूँढ़ निकालने का प्रयास किया जा रहा था। गुप्त साम्राज्य की स्थापना के साथ ही यह तूफ़ान शांत हो गया; प्रयोगों की खींचातानी ने अभिव्यक्ति की परिष्कृत परिपक्वता का रूप धारण कर लिया और एक जागरूक तथा अपने पर विश्वास रखनेवाली प्रविधि का निर्विकार परिमार्जित रूप में विकास हुआ। गुप्तकाल (३२० ई. से लगभग ५५० ई. तक) की कला "एक सुस्थापित परम्परा का प्रसून है" और विचारों तथा भावनाओं को व्यक्त करने का "एक परिमार्जित तथा परिष्कृत माध्यम" है। यह मूर्तिकला में गोलाई पर अधिक महत्व देने का युग था जिसमें पत्थर को बहुत कम गहरा काटकर आकृतियों को उभारने की शैली का अधिक प्रचलन नहीं था। मूर्तियों की आकृति अत्यंत संवेदनशील तथा विशाल होने लगी। मुद्राओं के प्रयोग में स्पष्टतः एक परिपक्वता आ गयी थी; मूर्तियों में परिधानों को अंकित करने की कला एक उत्कृष्ट परम्परा बन गयी थी और अब सिद्धांत यथा उसकी अभिव्यक्ति में किसी असंगति का आभास नहीं होता था।

गुप्तकाल को राजनीति, साहित्य, ज्ञान तथा कला के क्षेत्र में पुनरुत्थान और सृजनात्मक प्रयास का युग कहा गया है। दुर्भाग्यवश काल और मनुष्य ने मानो षड्यंत्र करके हमें

गुप्तकालीन कला के अवशेषों से वंचित कर दिया है; इस कला के जो चिह्न बच गये हैं वे बहुत थोड़े होते हुए भी इतने काफ़ी हैं कि हमारी प्रशंसा सर्वथा न्यायोचित है। मथुरा की बुद्ध की मूर्ति, भोपाल में पथरी नामक स्थान में कृष्ण के जन्म का चित्रण करनेवाले पूरे आकार की कलाकृति और अजंता के भित्ति-चित्र प्राचीन भारत की परिष्कृत कला के कुछ अमर अवशेष हैं। बुद्ध की खड़ी हुई मूर्ति, उनके शरीर पर कसकर बाँधा हुआ बिल्कुल ही महीन परिधान, और उनके मुख पर शांति का भाव और तेज,—ये सब बातें गुप्तकालीन परम्परा की श्रेष्ठतम कलाकृतियों की लाक्षणिक विशिष्टताएँ हैं। अत्यंत निपुण प्रविधि द्वारा उदात्त आध्यात्मिक आदर्शवाद को व्यक्त किया गया है, जिसमें कला-सामग्री तथा यंत्रों की क्षमता दोनों ही की गहरी जानकारी का परिचय मिलता है। गुप्तकाल में बुद्ध की मूर्तियाँ इतनी गहरी लगन और कला में इतने विश्वास के साथ बनायी गयी हैं कि उन्हें प्राचीन भारत की कला का प्रतीक कहना अनुचित न होगा—कला में इतनी समृद्ध होते हुए भी उनमें कला-संयम का आभास मिलता है, अपनी कला में कलाकारों के विश्वास को प्रदर्शित करने के साथ ही वे स्वाभाविक भी हैं।

अजंता के भित्ति-चित्रों का संबंध बहुधा गुप्तकाल की परिष्कृत परम्परा से बताया जाता है, यद्यपि अजंता स्वयं गुप्त साम्राज्य के केंद्रों से बहुत दूर स्थित है। अजंता हैदराबाद राज्य में जलगाँव से लगभग तीस मील दूर फरदापुर नामक गाँव के निकट है। अजंता में कुल उनतीस गुफाएँ हैं और उन्हें एक घोड़े की नाल की शक्ल की पहाड़ी को काटकर बनाया गया है। इन गुफाओं के लिए जो स्थल चुना गया है उससे प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति इस बस्ती के संस्थापकों के प्रेम का परिचय मिलता है। यद्यपि वास्तु-कला की दृष्टि से भी अजँता महत्वपूर्ण है पर वह अपने भित्ति-चित्रों के लिए प्रख्यात है जो अब केवल छः गुफाओं में बचे हैं—१, २, ९, १०, १६ और १७ नम्बर की गुफाओं में। ये भित्ति-चित्र तथा बाघ (भूतपूर्व ग्वालियर राज्य में) और सिगिरिया (श्रीलंका में) के भित्ति-चित्र प्राचीन भारत की चित्रकला की अत्यंत व्यापक शैली के एकमात्र अवशेष हैं। अजंता के चित्र कई शताब्दियों के दौरान में बनाये गये होंगे—९वीं और १०वीं गुफाओं के चित्र सबसे पुराने और पहली तथा दूसरी गुफाओं के सबसे बाद के बने हुए हैं। इन चित्रों का विषय बौद्ध है; इनमें बुद्ध के जीवन की इतिहासगत तथा कल्पित घटनाओं का चित्रण किया गया है। इनकी शैली अत्यंत सरल तथा चित्ताकर्षक है और चित्रों की रूपरेखा भावमय तथा सप्राण है जिन चित्रकारों ने ये दृश्य अंकित किये थे उनके पीछे परिपक्व कला एक लम्बी परम्परा थी। ये चित्र-रचनाएँ अत्यंत विशाल तथा इनकी कल्पना अत्यंत प्रतिभाशाली है। चित्रों के मुख्य पात्रों को वीरोचित अनुपात में अंकित किया गया है। चित्रों के एक-एक अंग में उदात्त भावनाओं तथा भव्यता की झलक दिखायी देती है और सरल रेखाओं का प्रयोग इस ढंग से किया गया है कि उनके द्वारा विपुल उल्लास से लेकर गहरी व्यथा तक सभी भावनाएँ व्यक्त होती हैं। इस चित्र-समूह में सबसे लाक्षणिक चित्र दयामूर्ति बोधिसत्व पद्मपाणि का है; मनुष्य के वास्तविक डीलडौल से बड़े आकार का यह चित्र पहली गुफा में है। इस चित्र में अलौकिक बुद्धि तथा दया की मूर्ति महात्मा बुद्ध अपने दाहिने हाथ में

कमल का एक फूल लिए खड़े हैं; उनका डीलडौल आस-पास की आकृतियों से बहुत बड़ा है और वह कुछ आगे को झुककर नीचे की ओर देख रहे हैं मानो विपदाग्रस्त मानवता पर अपनी दयादृष्टि डाल रहे हों। गहरी व्यथा और करुणा की अभिव्यक्ति की दृष्टि से यह आकृति कला का आदर्श है; इसकी जैसी दूसरी कलाकृति मिलना कठिन है। इस चित्रावली में जीवन ऐसे रूप में मूर्त हो उठा है जिसमें उसके सारे पार्थिव गुण तो धीरे-धीरे लुप्त हो गये हैं और हर चीज़ ने एक ब्रह्मांडीय महत्व धारण कर लिया है। बहुत ही थोड़ी रेखाओं और चित्र के विभिन्न भागों में भावों की अभिव्यक्ति के कारण चित्र-रचना में अपार आध्यात्मिक सौंदर्य तथा मार्मिकता का वातावरण पैदा हो गया है। नीले, हरे, बैंजनी और लाल रंग इतने सराहनीय ढंग से एक दूसरे से घुल-मिल गये हैं कि उससे चित्र-रचना में रस तथा भाव का अनुपम सामंजस्य उत्पन्न हो गया हैं जिसके कारण इस कला की उत्कृष्टता अद्वितीय हो गयी है और इन्हें देखकर कोई इनकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता। यद्यपि अजंता के चित्रों के लिए जितने विषय चुने गये हैं वे सभी धार्मिक हैं परंतु उनके चारों ओर धर्म-निरपेक्ष वातावरण व्याप्त है। राज-दरबार के दृश्य, पशुओं की चित्रावलियाँ, फूल और आकाश, पक्षी तथा अलौकिक जीव सभी तो इन चित्रों में दिखायी देते हैं जिससे हमें पता चलता है कि कलाकार की कल्पना ने पूरी सृष्टि के सभी रूपों और सभी स्तरों के प्राणियों को अपनी कला में समा लेने का प्रयत्न किया है। सप्राणता, शक्ति के आभास तथा प्रकृति के गहरे अवलोकन की दृष्टि से कुछ चित्र तो अत्यंत प्रशंसनीय हैं। शैली विवरणात्मक है जिसमें संकेत के माध्यम का बड़ी निपुणता से प्रयोग किया गया है। प्रभावशाली पर साथ ही संवेदनशील रेखाएँ, रंगों का संकेतात्मक प्रयोग, रूप को परिष्कृत तथा सामंजस्यपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने-वाली चतुर चित्र-रचना, अमिट छाप डालनेवाली भावों की अभिव्यक्ति तथा उदात्त मुद्राएँ-ये इस प्रमुख कला-शैली की कुछ लाक्षणिक विशिष्टताएँ हैं।

बौद्ध गुफा-मंदिरों तथा मठों की परम्परा का क्रम इसके बाद के कई युगों की महान फल-कृतियों में मिलता है। परंतु इन कलाकृतियों के पीछे ब्राह्मणवाद के पौराणिक रूप की प्रेरणा है; ब्राह्मण-पद्धति के अनुसार बनाये गये गुफा-मंदिरों में कला की निहित क्षमताओं का प्रमाण बादामी की गुफाओं में मिलता है जो बादामी के चालुक्य सम्राटों के शासनकाल में बनायी गयी थीं। बादामी दक्षिण रेलवे पर होतगी-गडग नामक स्टेशन के निकट स्थित है। इस समूह में चार गुफाएँ हैं जिसके निर्माण में सामान्यतः गुफाओं की वास्तु-कलाओं की शैली का अनुकरण किया गया है परंतु इनके स्तंभों तथा उनके शीर्ष-भाग में कुछ नयी विशिष्टताएँ दिखायी देती हैं। इन चार गुफाओं में से तीसरे नम्बर की गुफा "सर्वोत्कृष्ट है और भारत की ब्राह्मण कलाकृतियों के सब से रोचक उदाहरणों में से है। इस गुफा का प्रवेश द्वार उत्तर की ओर है और इसके फ़र्श का स्तर बाहर के प्रांगण के स्तर से आठ-नौ फ़ीट ऊँचा है। गुफा के सामनेवाले भाग की पूरी लम्बाई में बाहर की ओर एक पतला-सा चबूतरा बना है। इस गुफा के बरामदे के पूर्वी सिरे पर शेषशायी विष्णु की एक विशालकाय मूर्ति है; इस मूर्ति में भगवान् विष्णु शेषनाग की तीन कुंडलियों के ऊपर विराजमान हैं और शेषनाग के पाँच फण उनके

विशाल मुकुट पर छत्र की तरह शोभायमान हैं मानो उसकी रक्षा कर रहे हों।" इन गुफाओं में अन्य मूर्तियाँ वराह, नरसिंह तथा वामन अवतारों की हैं। कला की दृष्टि से इनके महत्व का मूल्यांकन करते हुए यह बताया गया है कि ये मूलभूत महत्व की हैं क्योंकि वे दकन प्रदेश में मूर्तिकला के विकास की परिचायक हैं; "इस कला में ज्ञान के आधार पर रूपांतर की कल्पना की गयी है जिसने पिछली शताब्दियों में प्रकृति वर्णन के साथ अपने अंतर्निहित संबंध द्वारा प्रभावकता प्राप्त की थी और अपनी प्राविधिक सुविधाओं में वृद्धि की थी।"

परंतु एल्लौरा में यह कला अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच गयी थी। जिस समय अजंता के पुरोहित-शिल्पकार क्षणिक प्रतीकों द्वारा शाश्वत का चित्रण करने का प्रयत्न कर रहे थे उसी समय एल्लौरा में उन प्रवीण मूर्तिकारों के हथौड़ों की ध्वनि गूँज रही थी जो प्रस्तर में देवताओं के निवासस्थान कैलाश के विषय में अपनी कल्पना का चित्रण कर रहे थे। एल्लौरा हैदराबाद राज्य में औरंगाबाद के निकट स्थित है। यहाँ एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न गुफा-मंदिरों के तीन समूह हैं—ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन और ऊबड़-खाबड़ चट्टानों को काटकर भव्य मंदिर निर्माण करने का यह काम कई शताब्दियों तक होता रहा होगा। लगभग अजंता की गुफाओं के निर्माण के साथ ही आरंभ होकर इसकी परिणति कला की उस अनन्य कृति कैलाश में हुई। इन समूहों में सबसे भव्य ब्राह्मण-शैव गुफाएँ हैं और सबसे कम रोचक समूह जैन गुफाओं का है जिनमें कला-सामग्री तथा कलात्मकता दोनों ही की दृष्टि से पतन के स्पष्ट चिह्न दिखायी देते हैं। कैलाश-मंदिर की खुदाई ऊपर से नीचे की ओर की गयी है और इसकी बनावट बिल्कुल उन मंदिरों जैसी है जो ईंट-पत्थर के बनाये जाते हैं; इसमें तले ऊपर अनेक धरातल हैं और प्रस्तर-शिलाओं को एक-दूसरे से संतुलित किया गया है। दशावतार अलिंद में, जिसमें ईश्वर के सभी अवतारों की मूर्तियाँ हैं, जड़ पत्थर को काटकर अत्यंत नाटकीय प्रभाव डालने-वाली मूर्तियों का रूप दे दिया गया है। कैलाश मंदिर का सामने का भाग बहुत भव्य नहीं है परंतु इसमें प्रवेश करते ही दर्शक के सामने एक ऐसा भव्य दृश्य आता है जो उसे मंत्रमुग्ध कर लेता है और उसका मस्तक श्रद्धा तथा प्रशंसा से झुक जाता है। यहाँ की सम्पूर्ण मूर्तिकला शक्ति के सदुपयोग का साकार रूप है; इन मूर्तियों में माँस-पेशियों के उभार और संकुचन को इतने गतिशील ढंग से चित्रित किया गया है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता और निश्चेत पाषाण अलौकिक शक्ति तथा उद्देश्य से ओत-प्रोत मूर्तियों का रूप धारण कर लेता है। शिव के तांडव नृत्य की तरह, जो इतना भयंकर होते हुए भी अंततः इतना सुंदर और कोमल भावनाओं से परिपूर्ण होता है, एल्लौरा की मूर्तिकला में भी अनंत शून्य में व्याप्त हो जाने का साहस प्रदर्शित किया गया है। इसकी सुडौल मूर्तियों की सौम्यता भी जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते हैं बढ़ती जाती है और ऐसा प्रतीत होता है कि वे बड़ी नाटकीय मुद्रा में सृष्टि के नाटक में भाग लेने को तत्पर खड़ी हैं। एल्लौरा का संबंध पट्टउकल तथा बादामी से बताया जाता है और इसकी शैली वही है जिसे साधारणतया द्रविड़ शैली कहा जाता है, इस विचार से नहीं कि इसका संबंध द्रविड़ से था बल्कि इस दृष्टि से कि इसकी शैली में द्रविड़ कला की लाक्षणिकताएँ पायी जाती हैं।

एल्लौरा की कला में चट्टानों को काटकर मंदिर बनाने की महान परम्परा अपने चरम शिखर पर पहुँच गयी और चट्टानों को काटकर मठ बनाने से सुगठित मंदिरों के निर्माण तक का संक्रमण पूरा हो गया। दक्षिण में मद्रास के निकट महाबलिपुरम के रथों में भी इसी परम्परा की झलक दिखायी देती है। एक ही चट्टान को काटकर बनाये गये इन पाँच मंदिरों के नाम धर्मराज, अर्जुन, भीम, द्रौपदी तथा गणेश के नामों पर रखे गये हैं। इनमें से चार मंदिर तो उत्तर-उत्तर-पूर्व से दक्षिग-दक्षिण-पश्चिम की दिशा में एक ही पंक्ति में हैं। द्रौपदी मंदिर ११ फ़ीट वर्गाकार एक कोठरी के रूप में है जिसकी गोलाकार छत १८ फ़ीट की ऊँचाई तक चली गयी है। पाँचों मंदिरों में यही मंदिर सबसे पूर्ण रूप में है। अर्जुन-रथ धर्मराज-रथ का प्रतिरूप है और भीम-रथ इस पूरे समूह में सबसे चित्ताकर्षक और रोचक है। इसमें ऊपर की तीन मंज़िलों पर इस ढंग से नक्काशी की गयी है कि देखने से छोटे-छोटे कक्षों का भ्रम होता है। गणेश-रथ अन्य रथों से कुछ दूरी पर स्थित है और यह बहुत ही छोटा पर बहुत ही सुंदर मंदिर है। इसमें तीन मंज़िलें हैं और और इसका निर्माण कुछ-कुछ उसी योजना के अनुसार किया गया है जिसे आगे चलकर द्रविड़ वास्तु-कला में गोपुरम (मुख्यद्वार) कहा जाने लगा। इन रथों में हमें एक बहुत महत्वपूर्ण संकेत यह मिलता है कि इन रथों के मूल रूप के आधार पर ही दक्षिण भारत के सभी विमानों का निर्माण हुआ और बहुत बाद तक इन्हीं का अनुकरण किया जाता रहा।

महाबलिपुरम के रथ पल्लव युग के हैं और कांजीवरम के कैलाश तथा वैकुण्ठ मंदिर भी इसी युग के हैं। चट्टानों को काटकर मंदिर बनाने का प्रचलन समाप्त हो गया और उनके स्थान पर ईंट-पत्थर के मंदिर बनाये जाने लगे। नीचे से ऊपर की ओर क्रमशः पतले होते हुए और ऊपर पहुँचकर एक शिखर का रूप धारण कर लेनेवाले मंदिर पल्लव साम्राज्य की समस्त सम्पदा तथा वैभव का प्रतीक हैं और यह परम्परा चोल युग तक जारी रही। उत्तरी भारत में मंदिरों के निर्माण की यह मध्ययुगीन परम्परा कोणार्क तथा खजुराहो के मंदिरों में दिखायी देती है और समय की गति के साथ यह कला निखरती जाती है और इसमें संयत शक्तिशाली चित्रण के स्थान पर अलंकारों का बाहुल्य दिखायी देने लगता है।

परंतु कला की श्रेष्ठतम कृतियाँ अतीत की स्मृति-मात्र बनकर रह गयीं और जो परम्परा चलती रही वह केवल एक गौरवशाली युग की निरंतर लम्बी होती हुई संध्याकालीन छाया के समान थी। कैलाश और एलीफ़ैंटा प्राचीन भारतीय मूर्तिकला की अंतिम महान कृतियाँ हैं। एलीफ़ैंटा की त्रिमूर्ति जड़ पदार्थ को सजीव रूप देने की सृजनात्मक कला की परमावस्था की द्योतक है; जिसमें अनुपातों की भव्यता के साथ भावनाओं की कोमलता भी दिखायी देती है और मूर्तिकार केवल शिल्पकार ही नहीं रह जाता बल्कि एक भक्त और दार्शनिक का भी रूप धारण कर लेता है। इस कला की कुछ छाप चोल युग की काँसे की मूर्तियों की इस शैली में देखने को मिलती है जिसका सबसे अच्छा उदाहरण नटराज शिव की मूर्ति है। परंतु इस समय तक भारतीय कलाकार अपनी भक्ति तथा अपने कौशल की सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ प्रदान कर चुका था और ऐसा प्रतीत होता था कि वह शताब्दियों तक कला-प्रयास में संलग्न रहने के बाद अब थक चुका था।

यही प्राचीन भारत की कला का इतिहास है। यह प्राचीन भारत के भव्य जीवन का एक गौरवशाली अध्याय है और इसमें उस सृजनात्मक भावना की अभिव्यक्ति होती है जिस पर किसी भी राष्ट्र को गर्व हो सकता है। अशोक-स्तंभों के शीर्ष, गुप्तकालीन बुद्ध की मूर्तियाँ, अजंता, एल्लौरा, एलीफ़ैंटा, कांजीवरम और नटराज शिव की काँसे की मूर्ति---ये प्राचीन भारत में कला के विकास की विभिन्न अवस्थाओं के प्रतीक हैं। पत्थर, ईंट, काँसा तथा रंग इस कला की मूल सामग्रियाँ हैं और आत्मा के वास्तविक स्वरूप का रहस्योद्घाटन करना इसका लक्ष्य था। इस विस्तृत देश के कोने-कोने में इस कला के अवशेष बिखरे पड़े हैं और ये अवशेष हमें इस बात की याद दिलाते हैं और यह संदेश देते हैं की वही कला महान होती है जो चित्त को प्रसन्न करे और उदात्त भावनाओं को जागृत करे। इन पृष्ठों में इस कला का सिंहावलोकन अत्यंत संक्षिप्त रहा है क्योंकि सिंहावलोकन किसी विषय का विस्तृत विवरण न होकर केवल उसकी भूमिका मात्र होती है। परंतु यदि इस सिंहावलोकन से पाठक के हृदय में इस विषय के बारे में और अधिक जानकारी प्राप्त करने की जिज्ञासा उत्पन्न हो तो इसका उद्देश्य पूरा हो जायेगा।

— ७ —

# भारत बृहत्तर

भूगोल की दृष्टि से भारत उस भूखंड का भाग है जिसे एशिया कहते हैं। एशिया के मानचित्र पर एक दृष्टि डालने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत ऐसी जगह पर स्थित है कि वह पूर्व तथा पश्चिम को जोड़नेवाली कड़ी बन गया है। कई शताब्दियों तक एशिया में अनेक जातियाँ भटकती रहीं और उनमें से कुछ भारत पहुँच गयीं। इनमें से हर जाति ने प्राचीन भारतीय संस्कृति के निर्माण में कुछ न कुछ महत्वपूर्ण योग अवश्य दिया है; इसीलिए प्राचीन भारतीय संस्कृति एशिया की बृहत्तर सांस्कृतिक परम्परा का ही एक अंग है। परंतु प्राचीन भारत मे उन देशों में से नहीं था जिन्होंने केवल दूसरे देशों से कुछ प्राप्त ही किया हो; वास्तव में कोई भी देश ऐसा नहीं होता जो केवल दूसरों से प्राप्त ही करता हो और स्वयं कुछ न देता हो। भारत ने जहाँ दूसरे देशों से पाया वहाँ उसने दूसरे देशों को दिया भी और प्राचीन भारत एशिया के जीवन में सभ्यता का प्रसार करनेवाला एक महानतम उपकरण हो गया। एशिया की संस्कृति जीवन का एक जटिल ताना-बाना है, जिसे अनेक रंगों के धागों से बुना गया है, जिनमें सबसे प्रमुख रंग भारत और चीन का है। भौगोलिक रूप से एशियाई संस्कृति को दो मुख्य भागों में विभाजित किया जा सकता है; यह विभाजन-रेखा दक्षिणी चीन से आरंभ होकर हिंद-चीन को काटती हुई गुज़र जाती है। इस विभाजन-रेखा के बाईं ओर के देशों के पहले समूह में श्रीलंका, बर्मा, स्याम, हिंदनेशिया तथा हिंद-चीन का कुछ भाग आता है और दूसरे समूह में मध्य एशिया, कोरिया तथा जापान को शामिल किया जा सकता है। पहले देश-समूह को हम हिंदी समूह कह सकते हैं और दूसरे समूह में संस्कृति की दृष्टि से चीनी समूह की विशिष्टताएँ पायी जाती हैं। ऊपर से देखने में तो चीनी संस्कृति भारतीय संस्कृति से बिल्कुल भिन्न लगती है परंतु यदि हम इन दोनों संस्कृतियों का निकट से निरीक्षण करें तो दोनों में समान लाक्षणिकताएँ दिखायी देती हैं। अपनी सांस्कृतिक परम्परा की अनेक बातों के लिए चीन भारत का आभारी है और चीन द्वारा भारत ने मध्य एशिया, कोरिया तथा जापान की संस्कृतियों को ढालने में भी अपना प्रभाव डाला। इसलिए एशियाई संस्कृति के निर्माण में भारत का योगदान बहुत महत्वपूर्ण रहा है।

हमने "एशियाई संस्कृति" शब्दों का प्रयोग किया है। इन शब्दों का प्रयोग जीवन के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण की दूसरे दृष्टिकोणों से भिन्नता को व्यक्त करने के लिए ही किया गया है, और अपने सामान्य अर्थ में "संस्कृति" शब्द का यही आशय होता है। "एशियाई संस्कृति" शब्दों का प्रयोग करके हमारा अभीष्ट यह कदापि नहीं है कि किसी संस्कृति विशेष में किसी दूसरी संस्कृति की अपेक्षा कोई श्रेष्ठता निहित होती है। हर संस्कृति अपनी

जगह निराली होती है और यदि हम यह निर्णय करने बैठ जायें कि कौन संस्कृति किस दूसरी संस्कृति से श्रेष्ठतर है तो यह व्यर्थ होगा, यद्यपि बहुधा हम में यह इच्छा अदम्य रूप से उत्पन्न होती है। हर संस्कृति का अपना अलग रूप होता है और उसके कुछ विशिष्ट मानदंड होते हैं। समय की गति के साथ कई शताब्दियों के दौरान में उसका रूप तो बदलता रहता है पर ये मानदंड हमेशा बने रहते हैं। एशियाई संस्कृति के ये मानदंड कौन-से हैं जिनके निर्माण का अधिकांश श्रेय प्राचीन भारत को रहा है? संक्षेप में इन मानदंडों का वर्णन इन शब्दों में किया जा सकता है: समस्त जीवन के ऐक्य की चेतना; क्षणिक तथा विशिष्ट की तुलना में "परम तथा ब्रह्म के प्रति प्रेम"; सहिष्णुता; सहयोग; तथा शांति-प्रेम। इसका यह अर्थ नहीं है कि भारत तथा एशिया का इतिहास असाधारण रूप से शांतिपूर्ण रहा है। यहाँ भी संसार के अन्य भागों की तरह ही घोर युद्ध हुए हैं और यहाँ भी उतने ही अत्याचारी तथा निरंकुश शासक हुए हैं जितने कि एशिया के बाहर के अनेक राष्ट्रों में, जिन्होंने इतिहास के पृष्ठों को कलंकित किया है। परंतु उपरोक्त प्रवृत्तियाँ लोगों के विचारों तथा जीवन के प्रति उनके रवैये में जितने स्पष्ट रूप से एशिया में देखने में आती हैं उतनी कहीं और नहीं आतीं।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं इस एशियाई संस्कृति के निर्माण में सबसे महत्वपूर्ण योगदान भारत का रहा है। इस योगदान की प्रक्रिया का विवरण प्राचीन भारत के इतिहास का एक अत्यंत रोचक अध्याय है; पुस्तक के इस खंड में हमारा लक्ष्य इस प्रक्रिया की मुख्य लाक्षणिकताओं का वर्णन करना है।

सामान्यतः पूरे एशिया और विशिष्टतः दक्षिणी-पूर्वी एशिया की जातियों की संस्कृतियों पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो धीरे-धीरे यह आभास गहरा होता जाता है कि जो कुछ हम बर्मा, स्याम या हिंदनेशिया में देखते हैं वह केवल भारतीय संस्कृति का ही एक विस्तृत रूप है—उन्हें बृहत्तर भारत कहना अनुचित न होगा। "बृहत्तर भारत" एक लम्बी प्रक्रिया के फलस्वरूप अस्तित्व में आया। इस प्रक्रिया का श्रीगणेश बहुत छोटे पैमाने पर उस समय हुआ जब भारतीय व्यापारी लाभ की खोज में समुद्र-पार के देशों को जाने लगे। अत्यंत प्राचीन काल से ही पूर्व तथा पश्चिम दोनों ही के देशों के साथ भारत के व्यापारिक संबंध थे। एक जातक-कथा में बताया गया है कि किस प्रकार भारतीय व्यापारी समुद्र-पार बावेरू देश में नाना प्रकार की क्रय वस्तुएँ लेकर गये थे जिनमें एक मोर भी था। यह बावेरू वही देश था जिसे बैबिलोन या बाबिल कहते हैं। अन्य कथाओं में हमें इस बात का उल्लेख मिलता है कि भारत के पश्चिमी तथा पूर्वी तटों पर स्थित बंदरगाहों से व्यापारी जहाजों पर अपना माल लादकर सुवर्णभूमि को जाते थे; बर्मा से हिंदनेशिया तक फैली हुई भूमि को सुवर्णभूमि कहते थे। पश्चिम में प्रमुखतम बंदरगाह भड़ौच तथा सोपारा थे और पूर्व में तामलुक, गोपालपुर तथा मसुलीपट्टम। इन बंदरगाहों से व्यापारी पूर्वी देशों को जाते थे। बंगाल की खाड़ी को पार करके वे अपनी यात्रा के बीच में तक्कोला नामक स्थान पर रुकते थे: यह स्याम देश में वही स्थान था जिसे अब तकुप कहते हैं। कुछ लोग भारत और बर्मा के बीच स्थल-मार्ग से भी यात्रा करते होंगे। इनमें से कुछ व्यापारी बर्मा, स्याम या मलाया में बस गये और वहां

उन्होंने अपनी बस्तियां बना लीं जो आगे चलकर भारतीय संस्कृति के प्रभावित केंद्र बन गये। परंतु विदेश जानेवालों में ये व्यापारी अकेले नहीं थे। दूरवर्ती भारत विपुल अवसरों का देश था और विदेशी आक्रमण आदि संकटों के समय में अनेक क्षत्रिय भी यहाँ से निष्क्रमण करके विदेशों में बस गये और वहाँ के स्थानीय निवासियों में अच्छी तरह घुल-मिल गये। फिर इनके अतिरिक्त बौद्ध धर्मप्रचारक थे जो अपने धर्म की विजय के लिए नये क्षेत्रों का पता लगाने के लिए उत्सुक थे। ये सभी लोग, चाहे वे व्यापारी रहे हों या क्षत्रिय या धर्म-प्रचारक, प्राचीन भारत की संस्कृति के प्रचारक बन गये और जहां भी वे गये वहां उन्होंने भारतीय रीति-रिवाजों, धर्म तथा दर्शन, विधि-संस्कारों, कला तथा साहित्य का प्रचार किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रवेश धीरे-धीरे हुआ। "आरंभ में कुछ व्यापारी और पर्यटक गये फिर इनकी संख्या बढ़ती गयी और इनके साथ ही ब्राह्मण भी वहां पहुँच गये। बाहर से जाकर बस जानेवाले लोगों ने वहीं के लोगों में विवाह किये और "शीघ्र ही भारतीय ढंग के राज्य अस्तित्व में आये; या तो किसी भारतवासी ने उन देशों की जनसंख्या पर अपना आधिपत्य जमा लिया या फिर स्थानीय मतदारों ने विदेशी सभ्यता को स्वीकार कर लिया।"

यद्यपि भारत के प्रायः सभी भागो ने विदेशों में भारतीय संस्कृति के प्रसार में योग दिया परंतु इस प्रक्रिया में प्रमुख भूमिका दक्षिण भारत की रही। जैसा कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में प्राप्त पुरातत्व-संबंधी प्रमाणो से पता चलता है भारतीय प्रभावों का प्रसरण "लहरों" के रूप में हुआ। इस प्रकार की पांच "लहरें" आयीं : अमरावती (दूसरी-तीसरी शताब्दी ईसवी), गुप्त (चौथी-छठी शताब्दी ईसवी), पल्लव (लगभग ५०० ई० से ७५० ई. तक), पाल (लगभग ७५० ई. से ९०० ई. तक) और अंततः नालंदा जैसे बौद्ध विश्वविद्यालयों के नष्ट हो जाने और बौद्ध संघों के सदस्यों के विदेशों में फैल जाने के फलस्वरूप पाल प्रभावों की एक दूसरी लहर (१२वीं–१३वीं शताब्दी ईसवी)। इनमें से हर एक लहर ने इस पूरे क्षेत्र में अपना प्रभाव डाला यद्यपि हर जगह परिणाम एक जैसा नहीं हुआ। कुछ क्षेत्रों में न्यूनाधिक रूप में प्रायः पूरी तरह "भारतीयकरण" हो गया और दूसरे कुछ क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति से प्रेरणा प्राप्त करके वहाँ की स्थानीय प्रतिभा विकसित हुई। इस दृष्टि से बृहत्तर भारत को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—एक पश्चिमी क्षेत्र और दूसरा पूर्वी क्षेत्र। पश्चिमी क्षेत्र का पूरी तरह भारतीयकरण हो गया और इस क्षेत्र में बर्मा, स्याम, मलाया प्रायद्वीप, सुमात्रा तथा श्रीलंका शामिल हैं। पूर्वी क्षेत्र की, जिसमें हिंदनेशिया तथा हिंद-चीन के कुछ भाग शामिल हैं, स्थानीय प्रतिभा में भारतीय प्रभावों के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया हुई और पूरी तरह उसमें विलीन नहीं हुई। इस क्षेत्र में "भारतीय योगदान प्रेरणा के रूप में अधिक सक्रिय रहा; परंतु इस प्रेरणा का लाभ उठाकर स्वयं कुछ कर दिखाने की दिशा में स्थानीय प्रतिभा कुछ कम सक्रिय नहीं रही।"

भारतीयकरण का यह क्रम ईसवी युग की प्रारंभिक शताब्दियों में आरंभ हुआ। परंतु श्रीलंका में यह क्रम बहुत पहले आरंभ हो चुका था। श्रीलंका के ऐतिहासिक वृत्तांतों में विजय नामक

एक भारतवासी का काफ़ी विस्तृत उल्लेख मिलता है जो श्रीलंका गया था और वहाँ की एक राजकुमारी से उसने विवाह कर लिया था; इन्हीं की संतान आगे चलकर सिंहली जाति का आधार बनी। दूसरी शताब्दी ईसा-पूर्व में अशोक महान का पुत्र महेंद्र तथा पुत्री संघमित्रा श्रीलंका गये और वहाँ के निवासियों को बौद्धमत का अनुयायी बनाया। शीघ्र ही श्रीलंका में बौद्ध भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों के संघों की स्थापना हुई और बौद्धमत यहाँ का राज्य-धर्म बन गया। बौद्धमत ने अनेक सृजनात्मक शक्तियों को जन्म दिया जिन्होंने साहित्य तथा कला के रूप में अभिव्यक्ति पायी। इस प्रकार बौद्धमत श्रीलंका में भारतीय सांस्कृतिक प्रभावों के प्रसार का सबसे प्रमुख माध्यम बन गया। भारत के निकट होने के कारण श्रीलका में भारतीय सांस्कृतिक प्रभाव की हर लहर के प्रसार में अनिवार्यतः सहायता मिली और श्रीलंका की प्राचीन कृतियों में चारों ही लहरों का प्रतिबिंब दिखायी देता है। ईसुरमुनिया, अनुराधपुरा तथा पोलोन्नारुवा की प्राचीन कलाकृतियों में गुप्तकालीन प्रभावों की छाप दिखायी देती है तथा सिगिरिया के भित्ति-चित्र स्पष्टतः अजंता शैली का ही एक अनुक्रम है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सोण तथा उत्तर नामक धर्म-प्रचारकों के बर्मा में पहुँचने से पहले ही भारतीय प्रभाव वहाँ तक फैल चुके थे। (परम्परागत वृत्तांतों में यह उल्लेख मिलता है कि अशोक शासनकाल में बौद्धों की जो तीसरी परिषद् हुई थी उसने सोण तथा उत्तर को बौद्ध धर्म-प्रचारक नियुक्त किया था)। स्वाभाविक ही है कि बर्मा की दंतकथाओं में भारत के साथ बहुत पुराने संबंधों का दावा किया गया है परंतु इतिहास की दृष्टि में हम यह मान सकते है कि प्रोम पाँचवी-छठी शताब्दी ईसवी में बौद्धमत का एक केंद्र था। प्यू लिपि में ऐसे अक्षर मिलते हैं जिनका रूप उन अक्षरों से मिलता है जो चौथी शताब्दी ईसवी में ही भारत में अप्रचलित समझे जाने लगे थे, जिससे यह पता लगता है कि बर्मा में भारतीय प्रभावों का प्रसार शायद इससे भी पहले हुआ हो। बहुत-से विद्वान सोण-उत्तर की कथा को स्वीकार नहीं करते यद्यपि यह बात किसी भी प्रकार असंभव प्रतीत नहीं होती कि भारत से इस प्रकार का बौद्ध-मंडल भेजा गया हो। कुछ भी हो, बौद्धमत के थेरवाद और महायान दोनों ही पंथों को और ब्राह्मण धर्म को बर्मा में पनपने के लिये उर्वरा भूमि मिल गयी; अंततः बौद्धमत की कट्टरपंथी धारा थेरवाद को बर्मा के राज्य-धर्म का पद दे दिया गया। समय की गति के साथ बौद्ध वाङ्मय की भाषा पाली ने बर्मी भाषा को "विकसित होने, अपनी जड़ें गहरी करने और निरंतर फैलते जाने में" बड़ी सहायता दी। आखिरकार जब (१४वीं शताब्दी ईसवी में या उसके लगभग) बर्मी भाषा एक साहित्यिक भाषा के स्तर पर पहुँची तो इसमें असंख्य ऐसे भारतीय शब्द शामिल करने पड़े जो उन विचारों को व्यक्त करने के लिए आवश्यक थे जिन्हें बर्मी भाषा में उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति की क्षमता के बावजूद, व्यक्त नहीं किया जा सकता था। चूँकि बर्मी भाषा में नये शब्द बनाने के लिए मूल शब्दों को एक-दूसरे में ज्यों का त्यों जोड़ दिया जाता है और उनके रूप में कोई परिवर्तन नहीं होता, इसीलिए इस भाषा में वह बल, वह कठोरता और वह नमनीयता नहीं है जो संज्ञाओं और क्रियाओं के धातु-रूपों तथा लम्बे-लम्बे सामासिक शब्द बनाने की उसकी क्षमता के कारण पाली भाषा में पायी जाती है।

श्रीलंका के साथ बर्मा का निकट धार्मिक संपर्क था जिसके द्वारा, और सीधे-सीधे भी, बर्मा ने बड़ी तेज़ी से भारतीय प्रभावों को ग्रहण किया। यह भारतीय प्रभाव वहाँ की जनता के रीति-रिवाजों में भी उतनी ही बड़ी हद तक प्रतिबिंबित होता है जितना कि उनकी विधि-पुस्तकों तथा कला में। बर्मी धम्मथत—धर्मशास्त्र—केवल भारतीय विधि-संहिताओं के बर्मी रूपांतर हैं। जहाँ तक कला का संबंध है, पगन के आनंद मंदिर के सौंदर्य को, जो प्राचीन बर्मी वास्तु-कला तथा मूर्तिकला का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है, बंगाल में पहाड़पुर के मंदिर के प्रसंग में देखे बिना पूरी तरह नहीं समझा जा सकता। कहा गया है कि "इसमें कोई संदेह ही नहीं हो सकता कि जिस वास्तु-कलाकारों ने आनंद मंदिर की योजना बनायी तथा उसका निर्माण किया वे भारतीय थे" और यह कि "इस मंदिर के शिखर से लेकर तहख़ाने तक हर चीज़ में, इसके बरामदों को सुशोभित करनेवाली अनेक मूर्तियों में और इसके तहखानों तथा छतों को सुसज्जित करनेवाली मिट्टी की चपटी मूर्तियों में भारतीय कला की प्रतिभा और दक्षता की छाप स्पष्ट रूप से दिखायी देती है।...यद्यपि आनंद मंदिर बर्मा की राजधानी में बना हुआ है पर वह एक भारतीय मंदिर है।" बर्मी भाषा की लिपि एक दक्षिणी भारतीय लिपि के आधार पर बनायी गयी है और बर्मी भाषा के अनेक नाटकों तथा गद्य-रचनाओं की विषय-वस्तु भारतीय बौद्ध वाङ्मय से ली गयी है।

स्याम में भारतीयीकरण के पुरातत्व-संबंधी सर्वप्रथम प्रमाण दूसरी शताब्दी ईसवी के हैं। पोंग तुक स्थल को देखने से पता चलता है कि यहाँ पर दूसरी शताब्दी ईसवी में एक भारतीय उपनिवेश की स्थापना हुई थी और यह उपनिवेश छठी शताब्दी ईसवी तक समृद्धिशाली रहा। बर्मा की ही तरह स्याम में भी बौद्धधर्म को राज्य-धर्म का पद प्रदान किया गया; कदाचित स्याम में बौद्ध धर्म कंबोडिया से पहुँचा था। पाली ने स्यामी भाषा के विकास पर गहरा प्रभाव डाला और इस भाषा की लिपि भी भारत की देन है। राजनीतिक तथा सामाजिक विचारों तथा आदर्शों को व्यक्त करनेवाले अधिकांश पारिभाषिक शब्द पाली से ज्यों के त्यों ले लिये गये थे। स्याम के राज-दरबार के जीवन में भारतीय समारोह का प्रभाव अत्यंत व्यापक रूप से दिखायी देता है और आज तक स्याम के राजकुमार का राज्याभिषेक ब्राह्मण पुरोहित ही करा सकता है। अभी कुछ ही समय पहले तक स्याम में अनेक ब्राह्मण रहते थे जो पुराने ज़माने में आस-पास के क्षेत्रों से आये हुए पुरोहितों के वंशज थे। अनेक भारतीय संस्कार, जैसे चूडाकर्म, स्यामी रीति-रिवाजों का अभिन्न अंग बन गये हैं। स्यामी साहित्य में रामायण तथा महाभारत महाकाव्यों की विषय-वस्तु पर आधारित अनेक रचनाएँ मिलती हैं और थाई कला पर भारतीय कला की स्पष्ट छाप दिखायी देती है।

मलाया प्रायद्वीप में प्राचीन केदाह नामक स्थल पर ऐसी अनेक कलाकृतियाँ मिली हैं जिनसे पता चलता है कि वहाँ पर एक भारतीय बस्ती थी जो कई शताब्दियों तक वहाँ अत्यंत समृद्धिशाली रही। अभिलेखों, मंदिरों तथा मूर्तियों के अवशेषों से इन भारतीय बस्तियों में शैवमत तथा बौद्धमत जैसे भारतीय धर्मों के विकास पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है।

परंतु भारतीय संस्कृति की भूमिका का सबसे गौरवशाली प्रमाण प्राचीन हिंद-चीन के

इतिहास में मिलता है। इस प्रदेश को कम्बुजदेश कहते थे और इसमें राजनीतिक दृष्टि से दो अलग-अलग राज्य थे, जिन्हें चीनी वृत्तांतों में फ़ू-नान और चेन-ला कहा गया है। फ़ू-नान अभी तक इस प्रदेश के आधुनिक शब्द फ्नोम के रूप में सुरक्षित है, जिसका अर्थ होता है 'पहाड़ी'। फ़ू-नान का इलाक़ा मेकोंग नदी की निचली घाटी में फैला हुआ था, उसी हिस्से में जिसे आजकल कम्बोडिया और कोचीन-चाइना कहते हैं। इसकी राजधानी व्याधपुर में थी; यह नगर वही था जिसे आजकल बा फ्नोम कहते हैं। फ़ू-नान के शासक अपने आपको कौंडिन्य ऋषि का वंशज बताते है; कौंडिन्य चंद्रवंशी थे और उन्होंने सोमा नामक एक नागि स्त्री से विवाह किया था। दंतकथाओं के अनुसार कौंडिन्य समुद्र पार करके विदेश से आये थे और उनके पास एक अलौकिक धनुष था। स्पष्टतः यह प्रतीत होता है कि कौंडिन्य इस देश में आकर बस जानेवाले भारतीयों के उस प्रथम दल के नेता रहे होंगे जो संभवतः मलाया प्रायद्वीप के पूर्वी तट से आये थे; उस समय तक मलाया प्रायद्वीप का पूरी तरह भारतीयकरण हो चुका था। कौंडिन्य ने जिस राज्य की स्थापना की वह धीरे-धीरे बहुत शक्तिशाली राज्य बन गया और लगभग पाँच शताब्दियों तक इस इलाक़े में इस राज्य का शासन रहा। चीन के राज-दरबार के साथ अनेक बार इस राज्य ने संबंध स्थापित किये और यही कारण है कि चीनी इतिहासों में हमें इस राज्य के विषय में कुछ जानकारी मिलती है। हम यह कह सकते हैं कि इस राज्य की उन्नति दूसरी शताब्दी ईसवी में हुई। यहाँ का पहला महत्वपूर्ण राजा फ़ान-चे-मान नामक एक व्यक्ति था जिसने "फ़ूनान महाराज" की उपाधि धारण की। उसने दक्षिणी बर्मा के विरुद्ध एक सैनिक अभियान भी संगठित किया और २२५-२५० ई० में उसका देहांत हो गया। उसके उत्तराधिकारी फ़ान-त्वान का शासनकाल हमारे लिए इस दृष्टि से महत्व रखता है कि उसने अपना एक राजदूत साउ-वाउ भारत भेजा था। साउ-वाउ तक्कोला से जल-मार्ग से होकर गंगा नदी के मुहाने पर पहुँचा जहां उसकी भेंट एक शक राजा से हुई जिसने उसे फ़ू-नान के राजा के लिए चार घोड़े उपहार में दिये। ऐसा प्रतीत होता है कि चौथी-पाँचवी शताब्दी ईसवी में फ़ू-नान में भारतीयकरण की एक दूसरी लहर आयी। दंत-कथाओं में कहा गया है कि इस समय पनपन से एक दूसरे कौंडिन्य यहाँ आये जिन्होंने भारत में उस समय प्रचलित संस्थाओं के ढंग पर यहाँ की सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओ में सुधार किया तथा कुछ संस्थाओं का पुनर्स्थापन किया। इन कौंडिन्य के एक उत्तराधिकारी जयवर्मन थे जिन्होंने एक राजदूत-मंडल चीन भेजा था। उनके शासनकाल में शैव, वैष्णव तथा बौद्ध तीनों ही मत एक साथ शांतिपूर्वक फलते-फूलते रहे। जयवर्मन का देहान्त ५१४ ई० में हुआ और इसके लगभग एक शताब्दी बाद जब कम्बुज ने फ़ू-नान को अपने राज्य में मिला लिया तो एक स्वतंत्र राज्य के रूप में इसका अस्तित्व मिट गया।

कम्बुज अर्थात् चेन-ला शुरू में फ़ू-नान के अधीन एक सामंती राज्य था। इस राज्य की राजधानी श्रेष्ठपुर में थी जो आधुनिक वाट फ़ू के निकट स्थित था। चेन-ला का संस्थापक कम्बु ऋषि को बताया जाता है जिन्होंने मेरा नामक एक अप्सरा से विवाह किया था। इस देश के सबसे पहले उल्लेखनीय राजा भाववर्मन हुए जिन्हें कुछ अभिलेखों में "महाराजाधिराज"

कहा गया है। उन्हें "पर्वत राजाओं" को पराजित करने का श्रेय दिया जाता है; कदाचित "पर्वत राजाओं" से अभिप्राय फ़ू-नान के राजाओं से होगा। चेन-ला की शक्ति बढ़ने के कारण अब फ़ू-नान की प्रभु सत्ता के लिए खतरा पैदा हो गया था और आखिरकार इस राज्य पर कम्बुज का क़ब्ज़ा हो गया। इस इलाक़े में कम से कम पांच शताब्दी तक कम्बुज की सत्ता कायम रही; १५वीं शताब्दी ईसवी में स्याम के उत्थान और चम्पा राज्य के साथ कम्बुज के युद्धों के कारण अंततः इस राज्य का पराभव हो गया।

चम्पा के राज्य में वह इलाके शामिल थे जो अब अन्नाम में हैं। चम्पा नाम हमें प्राचीन अंग की राजधानी की याद दिलाता है, परंतु यह भी संभव है कि इस देश में बाहर से आकर बसनेवाले सर्वप्रथम लोग दक्षिण भारत से आये हों। चम्पा का सबसे प्राचीन ऐतिहासिक प्रमाण तीसरी शताब्दी ईसवी के वो-कान्ह के अभिलेख में मिलता है, जिसमें श्री मार नामक राजवंश का उल्लेख किया गया है। एक दूसरे अभिलेख में भद्रवर्मन नामक एक राजा का उल्लेख किया गया है जो चौथी शताब्दी ईसवी में यहाँ शासन करता होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय शैवमत पर राजाओं की अनन्य कृपादृष्टि थी और इस देश के अभिलेखों में हमको अकसर राजाओं द्वारा शैव संस्थानों को दान तथा उपहार देने का उल्लेख मिल जाता है। भारतीय धर्मग्रंथों का अध्ययन बड़े पैमाने पर होता था और हमें कम्बुज तथा अन्य राज्यों में हिंदूमत के पुराणगत रूप के विकास के भी अनेक प्रमाण मिलते हैं। अनेक अभिलेख परिष्कृत संस्कृत शैली में लिखे गये हैं और हम इस काल में विद्या तथा संस्कृति के क्षेत्र में एक अत्यंत रोचक संस्था का अस्तित्व पाते है; वह आश्रमों की संस्था है जिनकी स्थापना राजाओं के दान और भक्तों की श्रद्धा के आधार पर होती थी। "ये आश्रम उन धर्मात्मा भक्तों के निवासस्थान होते थे जो अपना सारा जीवन अध्ययन तथा चिंतन के लिए अर्पित कर देते थे। इनके निर्माण के लिए राजा बड़ी उदारता से दान देते थे और लोग इन आश्रमों की समस्त आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए योग देते थे। कहा जाता है कि अपने राज्य भर में अकेले राजा यशोवर्मन ने सौ आश्रमों की स्थापना की। हम इस संख्या पर विश्वास करें या न करें पर इसमें तो कोई संदेह नहीं कि कम्बुज में ये आश्रम बहुत बड़ी संख्या में थे और वे इस राज्य के धार्मिक तथा सामाजिक जीवन की एक विशिष्ट लाक्षणिकता बन गये थे। इन आश्रमों के संचालन के लिए राजा की तरफ़ से अत्यंत विस्तृत तथा सुस्पष्ट नियम बनाये जाते थे, जिनका उल्लेख अनेक वृत्तांतों में इन संस्थाओं की कार्य-पद्धति पर अत्यंत रोचक ढंग से प्रकाश डाला गया है और इन्हें पढ़ने से पता चलता है कि ये आश्रम अपनी कार्यवाहियों में कितने उच्च नैतिक तथा आध्यात्मिक आदर्शों का पालन करते थे और उनमें मानव प्रेम की भावना कितनी कूट-कूटकर भरी हुई थी। ये हमें प्राचीन भारत के तपस्वियों के आश्रमों की याद दिलाते हैं जो राज्य तथा समाज में उच्चतम स्तर से लेकर निम्नतम स्तर के हर व्यक्ति के जीवन पर गहरा प्रभाव डालते थे।"

यहाँ के निवासियों के धार्मिक जीवन की एक और रोचक विशिष्टता देवराज की उपासना का विकास था। चम्पा में जिन देवताओं की उपासना होती थी उनमें सबसे प्रमुख स्थान

शिव का था और उनके लिंग की उपासना की जाती थी। इनमें से एक प्राचीनतम लिंग को राष्ट्रीय देवता माना जाता था। इस लिंग की स्थापना राजा भद्रवर्मन ने "चौथी शताब्दी ईसवी के अंत और पाँचवी शताब्दी के आरंभ के लगभग की थी और इसका नाम भद्रेश्वर रखा गया था क्योंकि उस समय यह प्रचलन था कि देवता का नाम राजा के नाम के पहले भाग में 'ईश्वर' शब्द जोड़कर बनाया जाता था।" यह लिंग जिसका नाम भद्रेश्वर अथवा भद्रेश्वरस्वामी था, माइसेन के एक मंदिर में स्थापित किया था। शीघ्र ही यह मंदिर एक राष्ट्रीय देवालय बन गया और इसके चारों ओर अनेक भव्य मंदिर बनाये गये। कम्बुज में देवराज की उपासना की परम्परा जयवर्मन ने (९वीं शताब्दी ईसवी में) आरंभ की; देवराज की उपासना पर्वत पर स्थित एक मंदिर में होती थी। जयवर्मन ने "राजा को शिव का ही दूसरा रूप घोषित कर दिया अर्थात् राजा को उसके जीवनकाल में ही देवत्व का पद प्रदान कर दिया।" राजा के ईश्वर होने की कल्पना का आधार यह था कि वह राजत्व के शाश्वत निराकार सार और देवत्व के सार-तत्व के साथ इसे मिलाकर लिंग के रूप में इसकी उपासना की जाती थी।..." कम्बुज के राजाओं के पुरोहित और मंत्री बड़े-बड़े शैव गुरु थे और इस प्रकार शैवमत राष्ट्रीय धर्म बन गया था, यद्यपि वैष्णवमत तथा बौद्धमत पर भी यदा-कदा कृपादृष्टि हो जाती थी।

भारतीय रंग में पूरी तरह रंगे हुए कम्बुज राज्य का महानतम स्मारक अंगकोर की इमारतें हैं। अंगकोर थोम तथा अंगकोर वाट में योजना की विशालता और निर्माण की भव्यता दिखायी देती है। महान और शक्तिशाली राजा जयवर्मन द्वितीय और उनके उत्तराधिकारी जयवर्मन तृतीय ने मिलकर कम्बुज साम्राज्य की नींव डाली। इस राज्य की राजधानी हटाकर अंगकोर प्रदेश में स्थापित की गयी जहां ९वीं शताब्दी ईसवी में महान निर्माण-कार्य का वह क्रम आरंभ हुआ जिसने अंततः अंगकोर थोम को भव्य तथा वैभवशाली नगर बना दिया। राजधानी के रूप में प्रख्यात अंगकोर थोम की योजना जयवर्मन सप्तम के शासन काल (१२वीं शताब्दी ई.) में बनायी गयी थी; नगर चारों ओर एक दीवार से घिरा हुआ था और दीवार के किनारे-किनारे एक गहरी खाँई थी। इस दीवार में पाँच बड़े-बड़े फाटक थे जो १००-१०० फ़ीट चौड़े पांच भव्य मार्गों पर खुलते थे; इन मार्गों के दोनों ओर छायादार वृक्ष लगे थे और ये नगर के एक कोने से दूसरे कोने तक चले गये थे। यह नगर वर्गाकार बनाया गया था और वर्ग की हर भुजा २ मील की थी। ये पाँचों भव्य मार्ग बेयोन नामक एक केंद्रीय देवालय पर आकर मिलते थे, जिसे कम्बुज कला की एक सर्वोत्कृष्ट कृति कहना सर्वथा उचित है। बेयोन के उत्तर की ओर एक बहुत बड़ा (७६५ फ़ीट लम्बा और १६५ फ़ीट चौड़ा) सार्वजनिक चौक है जिसके चारों ओर बाफुओन तथा फिमेनक आदि अन्य प्रमुख स्मारक हैं।

अंगकोर वाट का निर्माण सूर्यवर्मन द्वितीय ने कराया था जिन्होंने १११३ ई० से ११४५ ई० तक शासन किया। ख्मेर स्मारकों में यह सबसे बड़ा और अच्छी दशा में है और मनुष्य द्वारा अब तक बनायी गयी धार्मिक इमारतों में विशालतम है। आकार और भव्यता की दृष्टि

से यह अद्वितीय है।" इस स्मारक की आम निर्माण-योजना में निम्नलिखित चीज़ें हैं: खाँई, "बाहर की दो चहारदीवारियाँ, प्रवेश-मार्ग, एक दूसरे के अंदर तीन समानांतर वीथियाँ, और केंद्रीय भवन-समूह; बीच की विशाल मीनार, अंदर वाली दो वीथियों के कोनों पर छोटे मीनार और बाहर वाली चहारदीवारी के पश्चिमी फाटक पर तीन और भी छोटे मीनार, कुल मिलाकर बारह।" खाँई लगभग एक मील वर्गाकार थी और इसकी चौड़ाई २०० मीटर* थी। तीन चबूतरों की नाप क्रमशः १८७×२१५, १००×११५, और ७५×७५ मीटर थी। दूसरा चबूतरा पहले से ७ मीटर ऊँचा और तीसरा दूसरे से १३ मीटर ऊँचा है। केंद्रीय भवन-समूह मीनारों का एक अत्यंत भव्य संग्रह है और वास्तु-कला की दृष्टि से इस बार का सौंदर्य इस बात में निहित है कि "इसकी योजना में हर चीज़ बहुत लम्बी-चौड़ी बनायी गयी है और चीज़ के लिए जी खोलकर जगह छोड़ी गयी है; हर चीज़ बहुत बड़े पैमाने पर और उचित अनुपात में है।" अंगकोर वाट नीचे से चौड़े और ऊपर से पतले मंदिरों का सर्वोत्कृष्ट रूप है; इस प्रकार के मंदिर ख्मेर की वास्तु-कला की विशिष्टता हैं—एक-दूसरे के अंदर आयताकार चहारदीवारियाँ और तले ऊपर बने हुए चबूतरों पर आच्छादित वीथियाँ और इनके बीच में सलीब की शक्ल की वीथियों से एक दूसरे से जुड़े हुए खुले प्रांगण और इन सबके बीच में एक विशालकाय भव्य इमारत—वास्तु-कला का यह परिमार्जित रूप साढ़े तीन शताब्दियों के विकास का परिणाम था।" इसमें सजावट का बाहुल्य अत्यंत चित्ताकर्षक है "परंतु इसे सजाने के लिए जिस मूर्तिकला का प्रयोग किया गया है वह इसकी रचना के सर्वथा अनुकूल है; प्रायः हर जगह सजावट को कशीदाकारी की तरह निभाया गया है; वह रंगों के वैविध्य और चटकीलेपन से दर्शकों का ध्यान अपनी ओर आवश्यकता से अधिक नहीं आकर्षित करती पर सादी दीवारों के सपाटपन को भंग जरूर कर देती है। यह सजावट हर जगह है, अदृश्य से अदृश्य कोने में भी; इसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इसका निर्माण यात्रियों को आकर्षित करने के लिए नहीं बल्कि देवता को श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए किया गया था। सजावट की बारीकी हद को पहुँचा दी गयी है। दर्शक को जहाँ खाँई के पत्थरों पर छेनी से काटकर बनायी गयी १० किलोमीटर लम्बी बेल-बूटों की नक्काशी की कलात्मकता और इस पर आनेवाली लागत पर आश्चर्य होता है वहाँ वह सारी कगर भर के ऊपर लगे हुए १०,००० सजावटी पत्थरों की नक्क़ाशी की कल्पना करके स्तंभित रह जाता है; ये इतने नाजुक थे कि आज इनका एक भी पूरा नमूना नहीं मिलता।" मंदिर की वीथियों की दीवारों पर पत्थर को काटकर अत्यंत नयनाभिराम चित्र अंकित किये गये हैं जिनमें रामायण, महाभारत, हरिवंश और पौराणिक कथाओं के अनेक दृश्यों का चित्रण किया गया है; पत्थर की शिलाओं पर अंकित ये चित्र परिष्कृत ख्मेर कला के कुछ अत्यंत ज्वलंत नमूने हैं। पुस्तकालय-भवन को इस पूरे स्मारक में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यह स्पष्ट नहीं होता कि इस स्मारक को बनवाने का उद्देश्य क्या था और इसे मंदिर भी कहा गया है और समाधि भी। यह कुछ भी हो पर अंगकोर वाट में

---

* १ मीटर = लगभग ४० इंच।

कम्बुज के भारतीय रंग में रँगे हुए निवासियों की धार्मिक आस्था और कला-प्रेरणा भव्य रूप से प्रतिबिंबित होती है। यह विदेशों में भारतीय प्रभावों का एक अमर स्मारक है।

दक्षिणी-पूर्वी एशिया के उन राज्यों में उनका भारतीयकरण हो चुका था। श्रीविजय नामक राज्य को भी एक प्रमुख स्थान प्राप्त था। इतिहास में श्रीविजय साम्राज्य का उल्लेख पहली बार ७वीं शताब्दी ईसवी के अंतिम पच्चीस वर्षों में मिलता है। इसके शिलालेख दक्षिण भारतीय लिपि में अंकित हैं, जो पल्लव राज्य के प्रारंभिक काल के शिलालेखों की लिपि से कुछ मिलती-जुलती है। यह तो निश्चित रूप से नहीं मालूम किया जा सका है कि श्रीविजय राज्य कहाँ पर स्थित था पर एक मत यह है कि श्रीविजय साम्राज्य का मूल स्थान संभवतः सुमात्रा में पालेमबंग में था। परंतु शिलालेखों के प्रमाण से यह बात अकाट्य रूप से सिद्ध हो गयी है कि ८वीं शताब्दी ईसवी तक श्रीविजय साम्राज्य ने मलाया प्रायद्वीप में अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी और इसी समय के लगभग उसने जावा के लिगोर प्रदेश पर भी अपना आधिपत्य जमा लिया था। सुवर्णद्वीप के इस साम्राज्य के शासकों को शैलेंद्र कहते थे। शैलेंद्र राजा ८वीं शताब्दी ईसवी में अपने गौरव के उच्चतम शिखर पर पहुँच गये थे परंतु एक शताब्दी बाद उनकी सत्ता का ह्रास होने लगा क्योंकि कम्बुज तथा जावा के राज्यों ने विद्रोह कर दिया।

शैलेंद्र राजाओं ने सुवर्णद्वीप के सांस्कृतिक विकास में सराहनीय भूमिका का निर्वाह किया। उन्होंने एक "नयी प्रकार की संस्कृति" प्रचलित की। "बौद्धमत के महायान पंथ को नयी शक्ति प्रदान करने और उस सुविकसित कला का श्रेय, जिसने जावा के चंडी कलसन और बरबुदुर जैसे स्मारकों का निर्माण किया, इन्हीं राजाओं की कृपादृष्टि को दिया जाना चाहिये। कदाचित इन्हीं राजाओं के प्रयासों के फलस्वरूप एक नये प्रकार की वर्णमाला का प्रचलन हुआ जिसे नागरी-पूर्व लिपि कहा गया है और मलयसिया का नाम बदलकर कालिंग रखा गया,—कम से कम विदेशी तो इसी नाम का प्रयोग करते थे।"

शैलेंद्र राजाओं के पास बहुत बड़ी नाविक-शक्ति थी और भारत के साथ बारम्बार उनका संपर्क होता था। ८वीं शताब्दी ईसवी के अंतिम पच्चीस वर्षों में उनकी नौ-सेना ने अनेक बार चम्पा के समुद्रतट पर आक्रमण किया और संभवतः इन्हीं आक्रमणों के फलस्वरूप वहाँ के राजवंश का अंत हो गया। कुमारघोष नामक एक भारतवासी इस राजवंश के कुछ राजाओं का राजगुरु रहा; सुवर्णद्वीप के एक राजा बालपुत्रदेव ने नालंदा में एक मठ बनवाया था और पालवंश के एक राजा ने इस मठ की देखभाल का खर्च चलाने के लिए पाँच गाँव दान किये थे। चोलवंश के राजाओं के साथ इन शैलेंद्र राजाओं की टक्कर हुई क्योंकि चोलों के पास भी बहुत बड़ी नौ-सेना थी। आरंभ में इन दोनों महान शक्तियों के संबंध अत्यंत मित्रतापूर्ण थे; एक चोल अभिलेख में बताया गया है कि श्रीमारविजयोत्तुंगवर्मन नामक एक शैलेंद्र राजा ने नेआगापटम में एक मठ बनवाया था जिसकी देखभाल का खर्च चलाने के लिए चोल राजा ने एक गाँव दान किया था। यह ११वीं शताब्दी ईसवी के प्रथम पच्चीस वर्षों की बात रही होगी। परंतु शीघ्र ही दोनों में युद्ध आरंभ हो गया और राजेंद्र चोल ने श्रीविजय राज्य के विरुद्ध लड़ने के लिए अपनी नौ-सेना भेजी और इस युद्ध में

चोलों की विजय हुई। फलस्वरूप चोल सत्ता सुमात्रा के समस्त पूर्वी तटवर्ती प्रदेश और मलाया प्रायद्वीप के मध्यवर्ती तथा दक्षिणी भाग में स्थापित हो गयी जिसमें श्रीविजय और कटाह की दो राजधानियाँ भी शामिल थीं। परंतु चोल विजय की जितनी धूम थी उतनी वह चिरस्थायी सिद्ध नहीं हुई क्योंकि श्रीविजय राज्य फिर स्वतंत्र हो गया और ११वीं शताब्दी के अंत के लगभग फिर दोनों राज्यों में मित्रतापूर्ण संबंध स्थापित हो गये। परंतु शैलेंद्र राजाओं की शक्ति बहुत क्षीण हो चुकी थी और एक शताब्दी बाद उनका प्रायः नाम-निशान भी बाक़ी नहीं रह गया।

मध्य जावा का एक और राज्य जिसका भारतीयकरण हो चुका था मतराम का राज्य था जिसकी स्थापना ८वीं शताब्दी ईसवी में हुई थी। लेकिन शीघ्र ही इस पर शैलेंद्र राजाओं का आधिपत्य हो गया। १०वीं शताब्दी ईसवी में पूर्वी जावा इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण बन गया; यहाँ का पहला महान शासक सिंडोक था जिसका उपाधियों समेत पूरा नाम श्री इशान-विक्रमधर्मोत्तुंगदेव था। ११वीं शताब्दी ईसवी में हम आसानी से ऐरलंग्ग को इस प्रदेश का सबसे प्रख्यात राजा कह सकते हैं और उसने शत्रुओं को परास्त करके अपने वंश की खोयी सत्ता शत्रु के हाथ से वापस छीनने में जिस वीरता का प्रमाण दिया उसे देखते हुए उसकी यह अभूतपूर्व ख्याति न्यायोचित ही है। १५वीं शताब्दी ईसवी के मध्य में जब इस्लामी ताकतों ने इन द्वीपों पर विजय प्राप्त की उससे पहले तक जावा के विभिन्न भागों में ऐसे राज्यों की शासन-सत्ता स्थापित थी जिनका भारतीयकरण हो चुका था।

बलि नामक एक और भारतीय उपनिवेश ने संभवतः अपनी संस्कृति का विकास काफ़ी समय तक जावा से स्वतंत्र रहकर किया था। बलि का प्रथम राजा जिससे हम परिचित हैं उग्रसेन था; उसका शासनकाल १०वीं शताब्दी ईसवी के पच्चीसवें और पचासवें वर्ष के बीच में था, परंतु १०वीं शताब्दी ईसवी में बलि राज्य जावा के आधिपत्य में चला गया और १३वीं शताब्दी ईसवी में कई बार थोड़े-थोड़े समय के लिए स्वतंत्र हो जाने के अलावा लगातार जावा के ही आधिपत्य में रहा। लेकिन जावा, जो उस समय तक पूर्णतः हिंदूमत को स्वीकार कर चुका था, इस्लामी प्रहारों का शिकार हो गया पर बलि राज्य ने अपनी पुरानी संस्कृति को बचाये रखा जो आज तक सुरक्षित है।

सुवर्णद्वीप, मलाया प्रायद्वीप और हिंदचीन के भारतीयकरण के फलस्वरूप दक्षिणी-पूर्वी एशिया के निवासियों के जीवन में महान सूचनात्मक युग आये। इस काल के अधिकांश राजाओं के नाम भारतीय थे और अधिकांश नामों के अंत में 'वर्मन' जुड़ा होता था और भारतीय परम्परा के अनुसार वे अपने नामों के साथ लम्बे-चौड़े बिरुद (उपाधियां) भी जोड़ते थे। यहाँ वर्ण-व्यवस्था भी प्रचलित की गयी, परंतु यहाँ उसका पालन काफ़ी महत्वपूर्ण संशोधनों के साथ किया गया। ब्राह्मण दो श्रेणियों में विभाजित थे और उनके नाम उनके पूज्य देवता, शिव या बुद्ध के अनुसार रखे जाते थे। अन्य तीन वर्ण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थे। प्राचीन भारत की विधि-व्यवस्था के अधिकांश प्रयोजनों को इन विदेशों में ज्यों का त्यों अंगीकार कर लिया गया था और यहाँ के दरबारों की रीति-रस्मों तथा आचार-व्यवहार में

भारतीय परिस्थितियों की स्पष्ट छाप दिखायी देती थी। धार्मिक क्षेत्र में शैवमत और वैष्णवमत तथा बौद्धमत के महायान पंथ और तांत्रिक पंथ के अनुयायियों की संख्या बहुत अधिक हो गयी थी और उन पर राजा की कृपादृष्टि रहती थी। भारतीय महाकाव्य रामायण और महाभारत अत्यंत लोकप्रिय माने जाते थे और उनकी घटनाओं के आधार पर बहुतसी मूर्तियाँ भी बनायी जाती थीं। जावा के वयंग अर्थात् छाया-नाटक में इन भारतीय महाकाव्यों की कहानियाँ बहुत बड़े पैमाने पर इस्तेमाल की जाती थीं और जावा की प्राचीन भाषा की पद्य तथा गद्य रचनाएँ भी भारतीय काव्य शास्त्र के नियमों और साहित्यिक परम्पराओं से बहुत प्रभावित हुई। कला के क्षेत्र में यहाँ की चंडियों में भारत तथा जावा के मिले-जुले धर्म की भावना बड़े सुंदर रूप में व्यक्त होती है और इनकी सजावट के लिए भारतीय काल-मकर के चित्र को, जिसमें शेर का सिर और मगरमच्छ का धड़ होता है, बड़े व्यापक रूप से इस्तेमाल किया गया है। बौद्ध स्मारकों में बरबुदुर का स्मारक सबसे प्रमुख स्थान रखता है।

भारत और जावा की मिली-जुली कला का महानतम स्मारक बरबुदुर केदु में एक पहाड़ी पर स्थित है और कदाचित इसका निर्माण शैलेंद्र राजाओं के शासनकाल में ७५०-८५० ई० के बीच कभी हुआ था। इस स्मारक में तले-ऊपर नौ चबूतरे हैं और सबसे ऊपरवाले चबूतरे के बीच में घंटे की शक्ल का एक स्तूप है। इन नौ चबूतरों में से छः तो वर्गाकार हैं और ऊपरवाले तीन गोलाकार हैं। ऊपरवाले तीन चबूतरों पर स्तूपों का एक-एक वृत्त बना हुआ है जिनमें से हर स्तूप में जालीदार चौखटे में बुद्ध की मूर्ति है। एक जीना, जिसके फाटक को मूर्तिकला की अत्यंत सुंदर कृतियों से सजाया गया है। वीथियों (गैलरियों) के दोनों पार्श्वों के मध्य भाग को जोड़ता हुआ नीचे से ऊपर तक चला गया है। वीथियों में मूर्तियों के ग्यारह क्रम हैं जिनमें अवदानों तथा ललित विस्तार से लिये गये बुद्ध के जीवन के दृश्यों का चित्रण किया गया है। बरबुदुर को यद्यपि बहुधा स्तूप ही कहा जाता है परंतु इसकी बनावट भारत या अन्य स्थानों में पाये जानेवाले स्तूपों से भिन्न है और यह देखने में पिरामिड से ज्यादा मिलता-जुलता है। परंतु इस इमारत की "कल्पना और उसकी वास्तु-कला का स्वरूप दोनों ही भारतीय हैं।" दूर से देखने में बरबुदुर प्राचीनकाल की ईश्वरभक्ति का साकार रूप प्रतीत होता है और यद्यपि दूर से देखने में हर वस्तु अधिक भली लगती है परंतु इसकी वास्तु-कला और मूर्तिकला को निकट से बहुत ध्यानपूर्वक देखने से भारत तथा जावा की मिली-जुली कला की इस सर्वोत्कृष्ट कृति के प्रति हमारी प्रशंसा की भावना और भी बढ़ जाती है।

भारतीय संस्कृति का क्षेत्र विस्तृत करने के संबंध में दक्षिणी-पूर्वी एशिया में जाकर बस जानेवाले भारतीयों की सफलताएँ कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं रही हैं। उनके द्वारा करोड़ों ऐसे लोग, जिन्होंने प्राचीन भारत की हर देन को सहर्ष अंगीकार कर लिया, भारतीय धार्मिक मतों, साहित्य, दर्शन, सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं से परिचित हुए। यह सब कुछ शांतिपूर्वक हुआ और श्रीविजय पर चोलों के आक्रमण के एक अपवाद को छोड़कर इन नये देशों में भारत ने कभी शस्त्रों का प्रयोग नहीं किया। पश्चिमी क्षेत्र में भी, जहाँ इन देशों का न्यूनाधिक रूप में

पूर्ण भारतीयकरण हो चुका था, भारत का क्षेत्र-विस्तार "पूर्णतः सांस्कृतिक" था और "भारत ने कभी सेना के बल पर न तो किसी पर विजय प्राप्त की और न किसी राज्य पर अधिकार किया।" सांस्कृतिक विजय होने के कारण ही इसके जो परिणाम हुए वे अत्यंत गौरवान्वित तथा स्थायी महत्व के थे। इस प्रकार भारत ने दक्षिणी-पूर्वी एशिया के राष्ट्रों के जीवन में सभ्यता का प्रसार करनेवाली एक महान शक्ति की भूमिका का निर्वाह किया और इस उदात्त ध्येय को पूरा करनेवाले वे अनेक सीधे-साधे व्यापारी, धर्म-प्रचारक और क्षत्रिय थे जो धन कमाने और धर्म का प्रचार करने गये थे और वहाँ के निवासियों को अपना जैसा बनाने के लिए वहाँ बस गये।

चीन, मध्यएशिया और तिब्बत में भारतीय संस्कृति का प्रसार अधिकांशतः बौद्ध भिक्षुओं ने किया। चीनी संस्कृति को ढालने में मुख्यतः तीन शक्तियों का हाथ रहा है : कनफ्यूशियस-मत, ताओ-मत और बौद्धमत। ताओ-मत ने चीन में आध्यात्मिक प्रवृत्ति उत्पन्न की; कोमलता तथा दया, संवेदनशीलता और बारम्बार आनेवाली विपदाओं के सम्मुख एक दार्शनिक गंभीरता की भावनाएँ चीन को बौद्धमत की देन हैं; कनफ्यूशियस-मत ने पारिवारिक तथा सामाजिक संबंधों का रूप निर्धारित किया और इस प्रकार परम्परागत चीनी समाज के स्थायित्व में महत्वपूर्ण योग दिया। परंतु चीनी विचारधारा के दार्शनिक तथा आध्यात्मिक ढाँचे का निर्माण बौद्धमत ने किया और इसीलिए चीनी संस्कृति में जो आध्यात्मिक गुण है उसका श्रेय बौद्धमत को ही है।

चीन में बौद्धमत का इतिहास हान वंश के सम्राट् मिंग-टी के शासनकाल से आरंभ होता है। इस सम्राट् ने एकबार स्वप्न में स्वर्ण-पुरुष को देखा और भारत से बौद्ध धर्म-प्रचारकों को बुलवा भेजा। चीन जानेवाले पहले दो भारतीय धर्म-प्रचारक धर्मरक्ष और कश्यप मातंग थे जो अपने साथ धर्मग्रंथ तथा बुद्ध की अस्थियाँ चीन ले गये। चीन की भूमि पर जो पहला बौद्ध मठ बना वह "श्वेत अश्व" मठ था। भारतीय बौद्ध भिक्षु अपने नये निवासस्थान में बस गये और उन्होंने संस्कृत ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद करना आरंभ कर दिया। इस प्रकार इस महान कार्य का श्रीगणेश हुआ और ६७ ई० से १०५३ ई० तक भारतीय विद्वान चीन गये। उन्होंने पाँच सौ से अधिक भारतीय बौद्ध ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। ये लोग बहुत विद्वान और धर्मात्मा थे। उन्होंने अपने सामने जो लक्ष्य रखा वह सचमुच बहुत कठिन था क्योंकि उन्हें न केवल चीनी भाषा जैसी कठिन विदेशी भाषा सीखनी थी बल्कि उसे प्रयोग करने में इतनी निपुणता प्राप्त कर लेनी थी कि वहाँ के विद्वान उनके अनुवादों को स्वीकार कर लें। भारतीय विद्वानों ने अपना यह लक्ष्य श्रेयस्कर ढंग से पूरा किया और कुमारजीव, परमार्थ तथा गुणवर्मन आदि भिक्षुओं के नामों को चीन में बौद्धमत के इतिहास में सम्मानित स्थान प्राप्त है। जिनगुप्त, ज्ञानभद्र, जिनयश, धर्मगुप्त, बोधिरुचि तथा शुभाकरसिंह जैसे भारतीय पंडितों द्वारा बौद्ध धर्म की मीमांसा शीघ्र ही एक ऐसी शक्ति बन गयी जिसकी अवहेलना करना चीन के बौद्धिक तथा सांस्कृतिक जीवन में असंभव हो गया। बड़ी तेज़ी से मठों तथा मंदिरों का निर्माण हुआ और बौद्धों के मठीय संस्थान तथा धर्म के केंद्र बन गये; इनमें से च'अंग-न्गान तथा लोयंग के मठ सब से प्रमुख थे। बोधिधर्म नामक धर्म-प्रचारक के आगमन के बाद

चीन में भारतीय संस्कृति के प्रसार का एक नया युग आरंभ हुआ। चीनी विवरणों के अनुसार, बोधिधर्म काञ्ची के एक भारतीय राजा का पुत्र था। वह पहले दक्षिणी-पूर्वी एशिया में गया जहाँ उसने महायान के चिंतनप्रधान ध्यान-मार्ग का प्रतिपादन किया और उसे फिर चीन में प्रचलित किया। बोधिधर्म उत्तरी-चीन के वेई राज्य में सोंग शान नामक स्थान पर शाओ लिन-से के मठ में रहता था। चीनी विद्वानों ने उसके ध्यान-मार्ग की बहुत सराहना की और शीघ्र ही यह चीन की सबसे प्रमुख आध्यात्मिक विचारधारा बन गयी जिसे च'अन कहा जाने लगा। यहाँ से यह मत जापान में पहुँचा और वहाँ ज़ेन कहलाया और दोनों ही देशों में इसने चित्रकला की उस गौरवान्वित शैली के लिए प्रेरणा प्रदान की जिसके लिए चीन और जापान के कलाकार प्रख्यात हैं और उनकी यह ख्याति सर्वथा न्यायोचित है। बौद्धमत ने चीन में वास्तु-कला तथा मूर्तिकला को भी प्रोत्साहन दिया और पगोडा, जो चीनी दृश्य पर की सबसे लाक्षणिक विशिष्टता है, भारतीय स्तूप का ही चीनी रूप है। इसी प्रकार तुन-हुआंग की सहस्र-बुद्ध की गुफाओं की कला पर भारतीय कला की स्पष्ट छाप दिखायी देती है; भारतीय कला का यह प्रभाव चीन में मध्य एशिया के रास्ते पहुँचा होगा। संस्कृत भाषा का चीनी भाषा के विकास पर अत्यंत हितकर प्रभाव पड़ा जैसा कि चीनी भाषा की स्वर संधि और बौद्ध धर्म से अनुप्रेरित चीनी भाषा की अनेक दार्शनिक रचनाओं से स्पष्ट है। इसके बदले में चीन ने फ़ाह्यान, ह्युएन सांग और ई त्सिंग जैसे तीन प्रख्यात यात्री भारत भेजे, जिनकी बदौलत हमें ५वीं से ८वीं शताब्दी ईसवी तक के भारत की सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के बारे में बहुत काफ़ी जानकारी प्राप्त हुई है।

चीन के रास्ते भारतीय सांस्कृतिक प्रभावों का प्रवेश कोरिया और जापान में हुआ और जहाँ भी उनका प्रसार हुआ उन्होंने वहाँ की संस्कृतियों के विकास में सहायता दी और ये प्रभाव दर्शन, साहित्य तथा कला के क्षेत्र में इन देशों की महान उपलब्धियों के रूप में प्रकट हुए। मध्य एशिया में, जो भारत से निकटतर था, भारतीय व्यापारी और धर्म-प्रचारक बहुधा यहाँ के छोटे-छोटे राज्यों में भ्रमण करते थे और उन्हीं के साथ प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रभाव यहाँ तक पहुँचे। कुषाण साम्राज्य की छत्रच्छाया में बौद्धमत बड़ी तीव्र गति से मध्य एशिया में फैला और बहुत बड़ी संख्या में काश्मीर तथा उत्तरीपश्चिमी भारत के लोग वहाँ जाकर बस गये। भारत और चीन को जोड़नेवाले विशाल व्यापारमार्ग मध्य एशिया से होकर गुज़रते थे इसी मार्ग से होकर भारतीय विचार और रीति-रिवाज दूर-दूर देशों तक फैल गये। काशग़र, यारकंद, खुतन और कुचि बौद्धमत के महत्वपूर्ण केंद्र बन गये और शीघ्र ही मध्य एशिया के पूरे इलाक़े में जगह-जगह बौद्ध मठों की स्थापना हो गयी। खुतन में गोमति नामक महान बौद्ध प्रतिष्ठान था जो विद्या का केंद्र था, चीनी यात्रियों के वृत्तांतों के अनुसार, कुचि के भिक्षु संस्कृत अच्छी तरह जानते थे और तीसरी से पाँचवी शताब्दी ईसवी तक चीन में बौद्धमत के प्रचार में कुचि के बौद्ध शिक्षकों का बहुत बड़ा हाथ रहा। तुरफ़ान में अनेक बौद्ध भिक्षु धर्मग्रंथों का तोखारी भाषा में अनुवाद करने में लगे हुए थे और वहाँ फाह्यान तथा ह्युएन सांग का स्वागत बड़े सम्मान और आतिथ्य-भाव से किया गया।

के प्रमुख विद्वानों में से थे। इस प्रकार तिब्बत को भारत के संपर्क में रहने से बहुत लाभ हुआ और बौद्धमत के द्वारा उसने धर्म, दर्शन, साहित्य तथा कला के क्षेत्र में भारतीय संस्कृति के अनेक प्रभावों को ग्रहण किया। अपनी ओर से तिब्बत ने भी भारतीय विद्वत्ता की बड़ी सेवा की : बहुतेरे ऐसे बौद्ध ग्रंथ जो नालंदा तथा अन्य बौद्ध विश्वविद्यालयों के नष्ट हो जाने के बाद भारत से लुप्त हो गये थे, तिब्बती भाषा में सुरक्षित रहे। बौद्ध धर्म तथा दर्शन के विकास के अध्ययन के लिए तिब्बती भाषा में उपलब्ध ये ग्रंथ अनिवार्य हैं और उन्हें सुरक्षित रखने का श्रेय निःसंदेह तिब्बत के मठों को है।

ऊपर हमने एशिया में भारतीय संस्कृति के प्रसार का एक संक्षिप्त सिंहावलोकन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। यह प्राचीन भारत के इतिहास का सबसे गौरवशाली पहलू रहा है परंतु इसी के बारे में लोगों को सबसे कम जानकारी है। यह विजय संस्कृति द्वारा ऐसे अज्ञात देशों के सुदूरतम स्थानों में प्राप्त की गयी थी जो भारत की राजधानियों और रणक्षेत्रों से बहुत दूर थे। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत समुद्र और पर्वतों के पार बसी हुई अपनी इन संतानों को भूल गया परंतु उसकी इन संतानों ने अपने आचरण और व्यवहार द्वारा अपनी जन्मभूमि की सांस्कृतिक परम्परा के प्रति श्रद्धा और आस्था का प्रमाण दिया। जहाँ भी वे रहे वहाँ वे अपने देश की भूमि और संस्कृति का एक टुकड़ा अपने साथ ले गये और अपरिचित लोगों के बीच रहकर उन्होंने भारतीय परम्परा के अनुकूल जीवन का निर्माण करने का प्रयास किया। वे अपने जीवन की अवधि पूरी करके इस संसार से चले गये और बरबुदुर तथा अंगकोर वाट जैसे संसार के प्रमुख स्मारकों में अपने जीवन की छाप छोड़ गये। भारत की सीमाओं से निकलकर उन्होंने एक बृहत्तर भारत का निर्माण किया। प्राचीन भारतीय इतिहास के महत्वपूर्ण तथ्यों का विवरण देते समय पुराणों तथा वंशों ने उन्हें भुला दिया। परंतु इससे कोई अंतर नहीं पड़ता क्योंकि एशिया के भूखंड पर बिखरे हुए असंख्य स्मारकों के रूप में उनकी स्मृति अमर है।

# उपसंहार

प्राचीन भारत के इतिहास तथा उसकी संस्कृति की रूपरेखा का हमारा सिंहावलोकन समाप्त हुआ। यह काम सरल नहीं रहा है पर हम आशा करते हैं कि पाठकों ने इसे बड़ी रुचि से पढ़ा होगा। विषय अत्यंत व्यापक था और सामग्री उतनी विपुल परिमाण में थी कि आदमी देखकर चकरा जायें। परंतु प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन द्वारा अनेक ऐसी बातें मालूम होती हैं कि इस श्रम का पुरस्कार मिल जाता है। इस इतिहास में हमारा परिचय कुछ ऐसी महान विभूतियों से होता है जिन्होंने भारत की संस्कृति को इतना महत्व प्रदान किया। गौतम बुद्ध, अशोक, कनिष्क, समुद्रगुप्त और हर्ष उन लोगों में से हैं जिनके चित्र संसार की अमर विभूतियों की चित्रशाला में स्थान पाने योग्य हैं। किसी देश की महानता को उसके शासकों और दार्शनिकों, कवियों और कलाकारों की प्रतिभा से नापना चाहिये और प्राचीन भारत ने इस प्रकार के अनेक लोगों को जन्म दिया और उन्होंने अपने-अपने क्षेत्र में अपूर्व ख्याति प्राप्त की। इन महान विभूतियों से परिचय प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन के अनेक उल्लासों में से एक है।

परंतु किसी राष्ट्र की संस्कृति केवल उसकी महान विभूतियों के व्यक्तित्व में ही प्रतिबिंबित नहीं होती। किसी भी राष्ट्र का सांस्कृतिक गौरव इस बात पर निर्भर करता है कि उस राष्ट्र के सर्वसाधारण का क्या स्तर है, सृजनात्मक प्रयास और प्रवीणता का स्तर नहीं बल्कि सत्य, सौंदर्य और सदाचार के मानदंडों के विषय में उनकी समझ-बूझ और चेतना का स्तर। सत्य की निरंतर खोज प्राचीन भारत के जीवन की एक उल्लेखनीय विशिष्टता रही है। सौंदर्य का तो कोई अभाव नहीं रहा है जैसा कि इस देश के पूरे विस्तार में बिखरी हुई असंख्य प्राचीन कलाकृतियों से सिद्ध होता है। सदाचार में अनेक गुण आते हैं जैसे सहिष्णुता, सामान्य प्रयास में सहयोग, दया और उदारता और इससे तो कोई इन्कार नहीं कर सकता कि प्राचीन भारत के निवासियों ने केवल अपनी ही नहीं बल्कि अपने आस-पास के सभी लोगों की भलाई करने का प्रयत्न किया और उन्हें इसमें सराहनीय हद तक सफलता भी प्राप्त हुई। परंतु सब से बढ़कर प्राचीन भारत के इतिहास का महत्व इस बात में है कि यह आत्म बोध प्राप्त करने के प्रयास में संलग्न मानव की अत्यंत भव्य जीवन-कथा है।

हर राष्ट्र की संस्कृति निरंतर बदलती रहती है और यह संभव है कि पुरानी संस्कृति की संस्थाएँ आज अपनी सार्थकता खो चुकी हों। प्राचीन भारतीय संस्कृति भी इस नियमका अपवाद नहीं है। उदाहरणार्थ, आज की बदली हुई परिस्थिति में वर्ण और आश्रम की वह वास्तविक सार्थकता नहीं रह गयी है जैसी कि हमारे प्राचीन ग्रंथों में वर्णित की गयी है; परंतु संस्थाएँ बदल जाने पर भी उनके निर्धारित किये हुए मानदंड सदैव सार्थक रहते हैं और प्राचीन भारतीय संस्कृति के मानदंड हमारी सब से बहुमूल्य धरोहर हैं। संक्षेप में ये मानदंड हैं :

समस्त जीवन के ऐक्य की चेतना और जीवन के प्रति सम्मान; इस बात को समझने की क्षमता कि पुण्य साधनों द्वारा ही पुण्य लक्ष्य प्राप्त हो सकते हैं और यह कि जीवन में तात्कालिक तथा विशिष्ट की खोज का जो स्वरूप होता है उसी के अनुसार परम तथा ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

बुद्ध ने अपने प्रथम आख्यान में ही कहा था कि मनुष्य को न तो भोग-विलास में ही पूर्णतः लीन हो जाना चाहिये और न पूर्णतः वैराग ही ले लेना चाहिये। हम महात्मा बुद्ध के इस आदेश को गाँठ बाँध लें तो उचित है और प्राचीन भारत का मूल्यंकन करते समय इन दो दृष्टिकोणों को त्याग दें कि भारत का प्राचीनकाल या तो पूर्ण साधुता का युग था या फिर "आदिम बर्बरता" का युग था। प्राचीन भारत में हमें साधुता भी मिलती है और बर्बरता भी क्योंकि जहाँ कहीं भी मनुष्य का वास होगा वहाँ सभी प्रकार के लोग होंगे।

किसी संस्कृति की सप्राणता का अनुमान इससे भी लगाया जा सकता है कि उसमें विद्रोही और क्रांतिकारी उत्पन्न करने की कितनी क्षमता है और प्राचीन भारत में दोनों ही की संख्या बहुत अधिक थी—उदाहरण के लिए गौतम बुद्ध, कपिल, चार्वाक और असंख्य ऐसे लोग जिनके बारे में हमें जानकारी नहीं प्राप्त हो सकी है।

भारत जैसे विस्तृत देश में, जहाँ विभिन्न जातियों के लोग रहते हैं, सांस्कृतिक एकता की स्थापना प्राचीन भारत की सबसे गौरवशाली सफलता है। प्राचीन भारत विस्तार में योरप के ही बराबर था और दोनों की तुलना करने पर हम देखते हैं कि योरप जिस बात में सफलता प्राप्त नहीं कर सका उसी बात में प्राचीन भारत ने प्रशंसनीय सफलता प्राप्त की। प्राचीन भारत के इतिहास का मुख्य तत्व यह है : राजनीति लोगों को अलग करती है, संस्कृति उनमें एकता स्थापित करती है। इन विचारों के साथ हम रचना में प्रस्तुत किये गये प्राचीन भारत के चित्र को समाप्त करते हैं।

# परिशिष्ट १

# प्राचीन भारत की लिपियाँ

प्राचीन भारत में ज्ञान को सुरक्षित रखने तथा उसके प्रसार में मौखिक परम्परा का बहुत बड़ा हाथ रहा है। यह बात धार्मिक साहित्य के बारे में विशेष रूप से सत्य है, वह चाहे ब्राह्मणों का धार्मिक साहित्य हो या बौद्धों का या जैनों का। वेद और अधिकांश वैदिक साहित्य बहुत बाद में जाकर लिपिबद्ध किया गया। पहले यह समझा जाता था कि भारत ने लिखने की कला बहुत बाद में सीखी परंतु अब यह दृष्टिकोण मान्य नहीं रह गया है। जातक-कथाओं में और पाली के अन्य धर्मग्रंथों में लिखने की कला और प्रलेखों का उल्लेख अनेक बार किया गया है और उनसे निश्चित रूप से यह सिद्ध हो जाता है कि यदि उससे पहले नहीं तो कम-से-कम छठी शताब्दी ईसा-पूर्व में तो अवश्य ही लोग न केवल लिखना जानते थे बल्कि व्यापक रूप से इसका प्रचलन था। अशोक के स्तंभ और शिलालेख इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं कि अशोक ने सम्राट् के रूप में जो अभिलेख अंकित करवाये थे उन्हें जन-साधारण पढ़ सकते होंगे। क्योंकि उन्हें ऐसी जगहों पर स्थित शिलाओं और स्तंभों पर, जहाँ बहुत बड़ी संख्या में लोग बहुधा आते-जाते रहते थे, अंकित करवाने का उद्देश्य ही यह था कि लोग उन्हें पढ़ सकें। अशोक के अभिलेख दो लिपियों में लिखे गये हैं, एक तो खरोष्ठी, जिसमें उत्तरी-पश्चिमी प्रदेशों के अभिलेख हैं, और दूसरे ब्राह्मी, जिसमें अन्य अभिलेख हैं। खरोष्ठी का अर्थ होता है 'गदहे के होंठ वाला' और ऐसा प्रतीत होता है कि, "यह लिपि ५वीं शताब्दी ईसा पूर्व में अरामिक लिपि के आधार पर बनायी गयी थी," और भारत में लगभग ईरानी आधिपत्य के समय प्रचलित की गयी थी। यह लिपि दाहिनी ओर से बायीं ओर को लिखी जाती थी। ब्राह्मी लिपि, जैसा कि उसके नाम से ही पता चलता है, इस धारणा की परिचायक है कि यह लिपि ब्रह्मा की उत्पन्न की हुई है जिन्हें बहुधा मूर्तियां में अपने दाहिने हाथ में ताड़ के पत्तों का एक गट्ठा लिए हुए दिखाया जाता है। ब्राह्मी बायीं ओर से दाहिनी ओर लिखी जाती थी परंतु यह विश्वास करने के भी कुछ कारण हैं कि यह सर्वथा असंभव नहीं है कि ब्राह्मी लिपि का एक ऐसा रूप भी मौजूद रहा हो जो दाहिनी ओर से बायीं ओर को लिखा जाता हो। अशोक के अभिलेखों में जिस ब्राह्मी लिपि का प्रयोग किया गया है उसे देखने से पता चलता है कि वह बहुत लम्बा विकास का मार्ग तै करने के बाद उस रूप को प्राप्त हुई। यह तर्क दिया जाता है कि ब्राह्मी लिपि के अधिकांश अक्षर ९वीं शताब्दी ईसापूर्व के आरंभिक काल के उत्तरी सेमिटिक लिपि के अक्षरों से बहुत मिलते-जुलते हैं और इसलिए यह निष्कर्ष निकालना तर्कसंगत होगा कि ब्राह्मी लिपि उसी लिपि से निकली है जो भारतीय व्यापारी मेसोपोटामिया से अपने साथ लाये थे।

यह धारणा कि ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति उत्तरी सेमिटिक लिपि से हुई बहुत समय से प्रचलित है और इसे व्यापक रूप से स्वीकार भी किया गया है। परंतु इसी प्रसंग में मोहनजोदड़ो में पाये गये ठप्पों में प्रयुक्त लिपि का उल्लेख कर देना असंगत न होगा। मोहनजोदड़ो की लिपि मूलतः चित्र-लिपि थी और ऐसा प्रतीत होता है कि यह ध्वनि पर आधारित थी। यह लिपि दाहिनी ओर से बायीं ओर को लिखी जाती थी यद्यपि इससे उल्टी दिशा में लिखी जानेवाली लिपि का भी प्रचलन था। जब दो या दो से अधिक पंक्तियाँ लिखनी होती थीं तो पहली पंक्ति दाहिनी ओर से बायीं ओर को और दूसरी बायीं ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती थी। इस लिपि में सुमेरी, आद्य-एलामी, हित्ती, मिस्री, क्रीटियाई, सायप्रसी तथा चीनी लिपियों से भी मिलती-जुलती कुछ बातें पायी जाती हैं। यह तर्क दिया जा सकता है कि सिंधु घाटी की सभ्यता के केंद्रों के नष्ट हो जाने का अर्थ अनिवार्यतः यह नहीं है कि मोहनजोदड़ो की लिपि का सर्वथा लोप हो गया। संभवतः इसकी उल्टी ही बात हुई होगी जैसा कि शेष भारत पर अन्य कई क्षेत्रों में सिंधु घाटी की सभ्यता के प्रभाव से पता चलता है, उदाहरण के लिए धर्म और कला के क्षेत्र में। इसलिए इस प्रसंग में यह तर्क प्रस्तुत करना असंभव नहीं है की ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति इसी देश में हुई थी। इस सभ्यता के बारे में हमारी जानकरी और इस विषय पर उपलब्ध सामग्री इतनी पर्याप्त और विशद नहीं है कि हम उपरोक्त संभावना के बारे में अधिक निश्चय के साथ कुछ कह सकें। परंतु अब यह धारणा, कि भारत नें लगभग ८०० ई. पू. में उत्तरी सेमिटिक लिपि बनायी थी, उतनी निश्चित प्रतीत नहीं होती जितनी कि सिंधु घाटी की सभ्यता के केंद्रों की खोज से पहले प्रतीत होती थीं।

ब्राह्मी की उत्पत्ति का स्रोत कुछ भी रहा हो परंतु यह स्पष्ट है कि कई शताब्दियों तक इसका विकास अबाध गति से होता रहा। इसकी पहली शाखा द्राविडि थी, जिसका नमूना भत्तिप्रोलु शिलालेख (लगभग २०० ई. पू.) में दिखायी देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह लिपि पुरानी ब्राह्मी लिपि से निकली थी और संभवतः ५०० ई. पू. के लगभग मूल लिपि से "अलग हुई होगी", पुरानी ब्राह्मी लिपि ने, जिसके अक्षर एक दूसरे से जुड़े होते थे, विकास की अनेक अवस्थाओं को पार करके अंशतः नागरी लिपि का रूप धारण किया जिसके पहले पूर्ण अभिलेख की तिथि ८वीं शताब्दी ईसवी बतायी जाती है।

प्राचीन भारत में पत्तों और पेड़ों की छाल पर लिखा जाता था; विशेष रूप से भोज-पत्र का प्रयोग होता था। भोज-पत्र को पहले धूप में सूखाकर चिकना बना लिया जाता था फिर उसकी पट्टियाँ काट ली जाती थीं। इन पट्टियों पर लोहे के नोकदार क़लम से अक्षर बना दिये जाते थे और फिर इन अक्षरों में स्याही भर दी जाती थी। इन पट्टियों में छेद करके उन्हें धागे से बाँध दिया जाता था, इसीलिए हम आज तक पुस्तक के अध्याय के लिए 'सूत्र' शब्द का प्रयोग करते हैं। इसके बाद "पुस्तक" के दोनों ओर लकड़ी की पट्टियाँ लगाकर उसे सुरक्षित कर दिया जाता था और फिर लकड़ी की इस जिल्द समेत पूरी पुस्तक को एक डोरी से बाँध दिया जाता था। पुस्तक के लिए हमारा 'ग्रंथ' शब्द भी इसी प्रक्रिया के

आधार पर बनाया गया है; यह शब्द 'ग्रथ' शब्द से बना है जिसका अर्थ है 'गूँथना'। उस समय लिखने के लिए कपड़े, लकड़ी की पट्टियों और ताम्र-पत्र का भी प्रयोग किया जाता था।

## परिशिष्ट २

## प्राचीन भारत में ऋतुओं का विभाजन

| मास | ऋतु |
| --- | --- |
| *चैत्र—मार्च-अप्रैल*<br>*वैशाख—अप्रैल-मई* | *वसंत* |
| *ज्येष्ठ—मई-जून*<br>*आषाढ़—जून-जूलाई* | *ग्रीष्म* |
| *श्रावण—जूलाई-अगस्त*<br>*भाद्रपद—अगस्त-सितम्बर* | *वर्षा* |
| *आश्विन—सितम्बर-अक्टूबर*<br>*कार्तिक—अक्टूबर-नवम्बर* | *शरद* |
| *मार्गशीर्ष—नवम्बर-दिसम्बर*<br>*पौष—दिसम्बर—जनवरी* | *हेमंत* |
| *माघ—जनवरी—फरवरी*<br>*फाल्गुन—फरवरी-मार्च* | *शिशिर* |

*राशियों के नाम : मेष* (Aries), *वृष* (Taurus), *मिथुन* (Gemini), *कर्क* (Cancer) *सिंह* (Leo), *कन्या* (Virgo), *तुला* (Libra), *वृश्चिक* (Scorpio), *धन* (Sagittarius) *मकर* (Capricornus), *कुंभ* (Aquarius) और *मीन* (Pisces).

# सहायक पुस्तकें

प्रस्तुत पुस्तक के लिखने में निम्नांकित पुस्तकों की सहायता ली गई है :—

## भाग १


अध्याय २ : Piggott, S.: *Prehistoric India*
Turner : *The Great Cultural Traditions*
Gordon Childe : *Man Makes Himself, What Happened in History, New Light on the Most Ancient East,* and his other works
*Ancient India*—Nos. 1 to 4

अध्याय ३ : Marshall, Sir John : *Mohenjo-daro and the Indus Civilization,* Vols. I-II-III
Mackay, E. : *Early Indus Civilizations,* 2nd ed.
Piggott, S. : *Prehistoric India*
Rev. Fr. Heras, H. : *Studies in Proto-Indo- Mediterranean Culture,* Vol. 1
Wheeler, Sir M. : *The Indus Civilization* (Supplement to *Cambridge History of India,* Vol. I)

अध्याय ४ : Majumdar & others : *The Vedic Age*
Rhys Davids, T. W. : *Buddhist India*
Raychoudhuri, H. C. : *Political History of Ancient India* (4th ed.)
Rapson, E. : *Cambridge History of India* : Vol. I—"Ancient India"
Smith, Vincent : *Early History of India*

अध्याय ५ : Raychoudhuri, H. C. : *Political History of Ancient India*
Mookerji, R. K. : *Candragupta Maurya and His Times*
Bhandarkar, D. R. : *Aśoka*
Mookerji, R. K. : *Aśoka*
Gokhale, B. G. : *Buddhism and Aśoka*
Majumdar and others : *The Age of Imperial Unity*
Rawlinson, H. G. : *Intercourse Between India and the Western World—From the Earliest Times to the Fall of Rome*

अध्याय ६ : Gopalachari, K.: *Early History of the Andhra Country*
Gopalan, R.: *History of the Pallavas of Kanchi*
Moraes, G. M.: *Kadamba Kula*
Raychoudhuri, H. C.: *Political History of Ancient India* (4th ed.)
Majumdar and others: *The Age of Imperial Unity*
Sircar, D. C.: *Successors of the Sātavahanas in the Lower Deccan*

अध्याय ७ : Fleet, J. F.: *Inscriptions of the Gupta Dynasty*
Allen, J.: *Catalogue of Gupta Coins*
Giles, H.: *Travels of Fa Hien*
Majumdar and Altekar: *A New History of the Indian People*: Vol. VI—"The Gupta-Vākāṭaka Age"
Bannerji, R. D.: *The Imperial Guptas*
Nilkanta Sastri, K. A.: *History of India*: Part I—"Ancient India"
Dandekar, R. N.: *A History of the Guptas*
Saletore, R. N.: *Life in the Gupta Age*

अध्याय ८ : Mookerji, R. K.: *Harṣa*
Beal, S.: *Buddhist Records of the Western World from the Chinese of Hiuen Tsang*
Altekar, A. S.: *The Rāṣtrakūṭas and Their Times*
Ray, H. C.: *Dynastic History of Northern India,* Vols. I & II
Bagchi, P. C.: *India and China*

## भाग २

अध्याय १ : Altekar, A. S.: *State and Government in Ancient India*
Beni Prasad: *The State in Ancient India*
Dikshitar, V. R. R.: *Hindu Administrative Institutions*
*Mauryan Polity*
Ghoshal, U. N.: *Hindu Political Theories*

अध्याय २ : Ghurye, G. S.: *Caste and Class in India*
Kane, P. V.: *History of Dharmaśāstra,* 2 Vols.
Majumdar, R. C.: *Corporate Life in Ancient India*
Rhys Davids, T. W.: *Buddhist India*
Samaddar, J. N.: *Economic Condition of Ancient India*

Barnett, L. D.: *Antiquities of India*
Walavalkar, P.: *Hindu Social Institutions*
Chakladar, H. C.: *Social Life in Ancient India*
Aiyangar, K. V. R.: *Aspects of Ancient Indian Economic Thought*
Guha, B. S.: *Racial Elements in Populations*

अध्याय ३ : Mookerji, R. K.: *Ancient Indian Education*
Altekar, A. S.: *Education in Ancient India*
Bose, P. N.: *Indian Teachers of Buddhist Universities*
Das, S. K.: *The Educational System of the Ancient Hindus*

अध्याय ४ : Radhakrishnan, S.: *History of Indian Philosophy*, Vols. I and II
Dasgupta, S.: *History of Indian Philosophy*, Vols. I and II
Bhandarkar, R. G.: *Vaiṣṇavism and Śaivism*, etc.
Gokhale, B. G.: *Buddhism and Aśoka*
Belvalkar and Ranade: *History of Indian Philosophy*, Vols. I and II
Raychoudhuri, H. C.: *Materials for the Early History of the Vaisṇava Sect*
Garbe, R.: *Philosophy of the Upaniṣads*
Farquhar, J.: *Outline of the Religious Literature of India*
Macnicoll, N.: *Indian Theism*

अध्याय ५ : Keith, A. B.: *A History of Sanskrit Literature*
*Classical Sanskrit Literature*
*The Sansrkit Drama*
Macdonell, A. A.: *A History of Sanskrit Literature*
Winternitz, M.: *History of Indian Literature*, Vols. I and II
Law, B. C.: *History of Pāli Literature*, Vols. I & II
Jhala, G. C.: *Kālidāsa*
Yajnik, R. K.: *The Indian Theatre*

अध्याय ६ : Coomaraswamy, A. K.: *History of Indian and Indonesian Art*
Kramrisch, Stella: *Indian Sculpture*
Ray, Nihar Ranjan: *Maurya and Śunga Art*
Smith, V. A.: *History of Fine Art in India and Ceylon*

Rawlinson and others : *Indian Art*
Brown, P. : *Indian Painting*
*Memoirs of the Archæological Survey of India*

अध्याय ७ : Majumdar, R. C. : *Hindu Colonies in the Far East*
*Kambuja Deśa*
*Suvarṇadwīpa*, Vols. I and II
Nilkanta Sastri, K. A. : *South Indian Influences in the Far East*
*History of Sri Vijaya*
Quaritch Wales, H. G. : *The Making of Greater India*
Bagchi, P. C. : *India and China*
Briggs, L. P. : *The Ancient Khmer Empire*

# अनुक्रमणिका

# अनुक्रमाणिका